॥ श्रीमहावीराय नमः ॥

मानव-मार्गदर्शन

[तृतीय भाग]

●

श्रीमद् कुलभद्राचार्य विरचित

卐 सार समुच्चय 卐

●

परम पूज्य, महान् तपस्वी, योगिसम्राट्, चारित्रचक्रवर्ती, सौम्यमूर्ति

आचार्यशिरोमणि श्री १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

के

शुभाशीर्वाद से प्रेरित

अनुवादक और विस्तृतविवेचनकर्त्ता :

श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज

●

सम्पादक :

पंडित विद्याकुमार सेठी

卐卐卐

मानव-मार्गदर्शन-भाग ३

*

श्रीमद् कुलभद्राचार्य विरचित

सार समुच्चय

*

अनुवादक :

श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज

*

आद्य वक्तव्य :

क्षुल्लक सिद्धसागरजी

*

सम्पादकीय :

पं. विद्याकुमार सेठी

*

प्रकाशकीय :

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

*

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन चन्द्रसागर स्मारक

लाडनूं (राजस्थान)

*

मुद्रक :

तापड़िया प्रिण्टर्स,

डबगरों की गली, जोधपुर

*

प्रथम संस्करण :

४००० प्रतियाँ

माघ शुक्ला पञ्चमी (वसन्त पञ्चमी)

वीर नि. सं. २५०५

१ फरवरी, १९७९

*

मूल्य :

स्वाध्याय और आत्मचिन्तन

卐卐卐

स
म
र्प
ण

जिनकी असीम कृपा से मुझे इस संसार से विरक्त होने का
साहस हुआ अर्थात् जिनके परम पुनीत शुभाशीर्वादरूप
विशाल वृक्ष की छाया में मुझे अपार
आनन्द की प्राप्ति हुई है
ऐसे
परम पूज्य, परम तपस्वी, धर्मदिवाकर,
जगद्वन्द्य, वर्तमान में जैनधर्म के प्रमुख पुरस्कर्ता
महर्षि, चारित्रचक्रवर्ती, योगीन्द्रचूड़ामणि, अद्वितीय सन्त
श्री १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज
के पुनीत कर-कमलों में अनन्य श्रद्धा और
भक्तिपूर्वक सादर

स
म
र्पि
त

★

क्षुल्लक सिद्धसागर
(लाडनूं वाला)

अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति से आप्लावित हृदय के उद्‌गार

हे परम पूज्य ! शत-शत वन्दन ।
हे विश्ववन्द्य ! शत अभिनन्दन ।।

卐 卐

चन्द्रसिन्धु की छाया में रह, निर्मल चन्द्र समान हुए ।
वीरसिन्धु के पद-चिह्नों चल, जग में अति प्रख्यात हुए ।।
धन्य आपके त्याग अरु तप को, अमर रहेगी भव्य कहानी ।
युग युग तक सब याद करेंगे, गुरुवर ! आपकी मीठी वाणी ।।

卐 卐

हे परम शांत ! हे वीतराग ! हे सौम्यमूर्ति ! हे तेजधाम !
हे बालब्रह्म-अद्वितीय सन्त ! तव चरणों में शत शत प्रणाम ।।

—क्षुल्लक सिद्धसागर
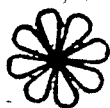
परम पूज्य १०८ आचार्य
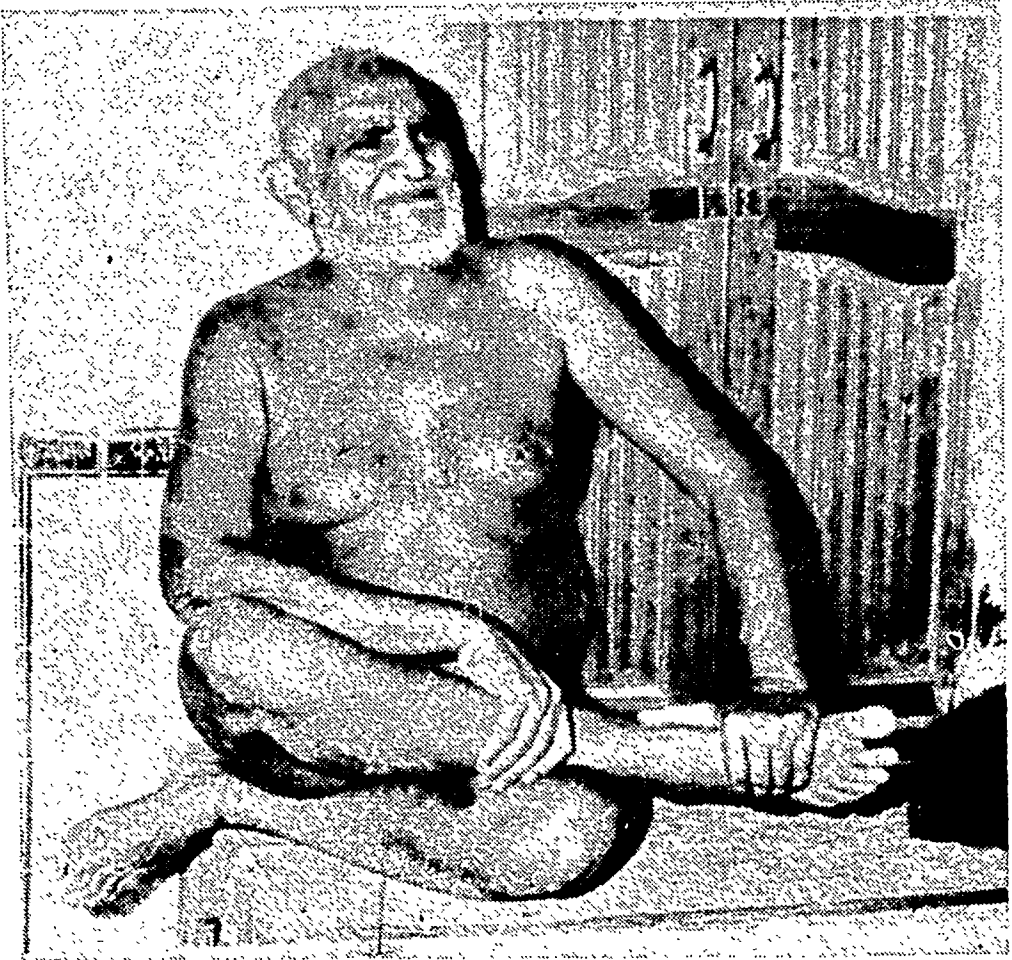
श्री धर्मसागरजी महाराज

जन्म : गम्भीरा (राज०) पौष शुक्ला पूर्णिमा, विक्रम सम्वत् १९७०

मुनिदीक्षा : फुलेरा (राज०) कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी, वि० सम्वत् २००८

तुभ्यं नमोऽस्तु शुभधर्मसमर्थकाय,
तुभ्यं नमोऽस्तु जनतापविनाशकाय।
तुभ्यं नमोऽस्तु भवशोपकपद्मबन्धो !
तुभ्यं नमोऽस्तु गणपोषकधर्मसिन्धो ॥

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज

हे परम पूज्य ! शत-शत वन्दन।
हे विश्ववन्द्य ! शत अभिनन्दन ॥

मनुष्य-पर्याय की सार्थकता सकल-संयम धारण कर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होने में है। पूज्य गुरुदेव का जीवन धन्य है जो दुर्धर तप करते हुए इस पथ पर निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। आपका बचपन धार्मिक परिवेश में बीता। किशोरावस्था और युवावस्था में आपकी धर्मानुराग एवं तत्त्वजिज्ञासा की वृत्ति अद्भुत थी। प्राणिमात्र के प्रति आपकी मैत्री की भावना बनी रहती थी। आपका अधिकांश समय धर्मध्यान में बीतता था, यही कारण है कि आप भोगों में लिप्त न होकर सांसारिक उलझनों से बचे रहे और संयम का पथ अपनाकर आज देश में सर्वत्र जैनधर्म का उद्योत कर रहे हैं। वर्तमान में आचार्य परमेष्ठी के पद को सुशोभित करते हुए विशाल चतुर्विध संघ का नेतृत्व भी आप कर रहे हैं। पाँच वर्ष पूर्व आपका विहार-क्षेत्र भारत की राजधानी दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश रहा, वहाँ अपने महान् तपश्चरण के बल से आपने जैन-अजैन, धनी-निर्धन, विद्वान्-सामान्य सभी के हृदय पर जैनधर्म की अमिट छाप छोड़ी है। आपकी सरलता और स्पष्टता से प्रभावित होकर अनेक नरनारी सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए हैं। जो पुण्यात्मा एक बार भी आपका दर्शन कर लेता है वह स्वयं को सौभाग्यशाली समझता है।

पूज्य गुरुदेव लोकानुरंजन और लोकैषणा से सर्वथा दूर रहते हैं। कठोर तपश्चर्या, निर्दोष चारित्र, निर्मोह वृत्ति, निर्भीकता और आगम-निष्ठता आपके व्यक्तित्व की मोहक विशेषताएँ हैं। रत्नत्रयनिधि के आलोक से आप सदैव आलोकित रहते हैं। प्रसन्नमुख रहना आपका स्वभाव है।

जहाँ भी आपका विहार होता है, वहाँ अपूर्व धर्मप्रभावना होती है। भौतिकवादी आधुनिक वातावरण में भटके हुए अनेकानेक नर-नारियों को आपने समीचीन मार्ग दिखाया है और विचारों को आचार का परिधान पहनाया है, इस प्रकार आप सर्वत्र जैनधर्म की ध्वजा फहरा रहे हैं। ऐसे पूज्य गुरुदेव के चरणारविन्द में शत-शत नमन—

चरणानुयायी : क्षुल्लक सिद्धसागर

स्वर्गीय आचार्यकल्प १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज

*

हे मुनिपुङ्गव ! शत-शत वन्दन !

महाराष्ट्र प्रान्त के नांदगांव में खण्डेलवालजातीय, पहाड़िया-गोत्रीय श्रीमान् श्रेष्ठिवर श्री नथमलजी की धर्मपत्नी सीतादेवी की कोख से मिथ्यात्वान्धकारनाशक, सन्मार्ग-प्रकाशक पुत्र रूपी चन्द्र का उदय हुआ था; वही प्रकाशपुञ्ज, चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागरजी महाराज के शिष्य आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी के रूप में प्रकट हुआ। जिस किसी ने भी आपकी वाणी रूपी शीतल चाँदनी का आश्रय लिया उसका मोह-ताप दूर हो गया।

मुनि-अवस्था में विविध विपत्तियों के काले बादल आपके समक्ष मँडराए तथा उन्होंने आपके स्व-पर-हितकारी कार्य में बाधा डालने का प्रयत्न किया, परन्तु आपने सब उपसर्ग-परीषहों को हँसते हँसते सहन किया। आपने अनुपम त्यागवृत्ति और घोर तपस्या का एक अद्वितीय आदर्श प्रस्तुत किया। आप सिंह सदृश निर्भीक थे; किसी भी प्रकार के प्रलोभन या ख्याति-लाभ-पूजादि की प्रबल वायु आपके मेरुवत् हृदय को नहीं हिला सकी। जिनागम के रहस्य से चिढ़ने वाले विरोधियों ने आपका घोर विरोध किया परन्तु आपने कभी सत्पथ का परित्याग नहीं किया; फलस्वरूप सत्य की ही विजय हुई।

आपने संसारसागर में गोते खाने वाले अनेक भव्य जीवों को व्रतों का हस्तावलम्बन देकर उबारा, आपके सान्निध्य से उनका कल्याण हुआ। आपके गुणानुराग के सम्मोहन से प्रेरित होकर आपकी स्मृति में लाडनूं नगर में श्री चन्द्रसागर स्मारक के रूप में एक भव्य एवं विशाल जिनमन्दिर का निर्माण हुआ है। मारवाड़ प्रान्त में आपने जैनधर्म की दुन्दुभि बजाते हुए सर्वसाधारण का जो उपकार किया उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। ऐसे परमोपकारी, निर्भीक, तपस्वी मुनिपुङ्गव के चरणों में शतशः नमन।

चरणसेवक

मानव-मार्गदर्शन : तृतीय भाग

स्वर्गीय परमपूज्य, आर्षमार्गप्रवर्तक, उग्रतपस्वी

निर्भीक-ओजस्वी वक्ता

आचार्यकल्प १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज
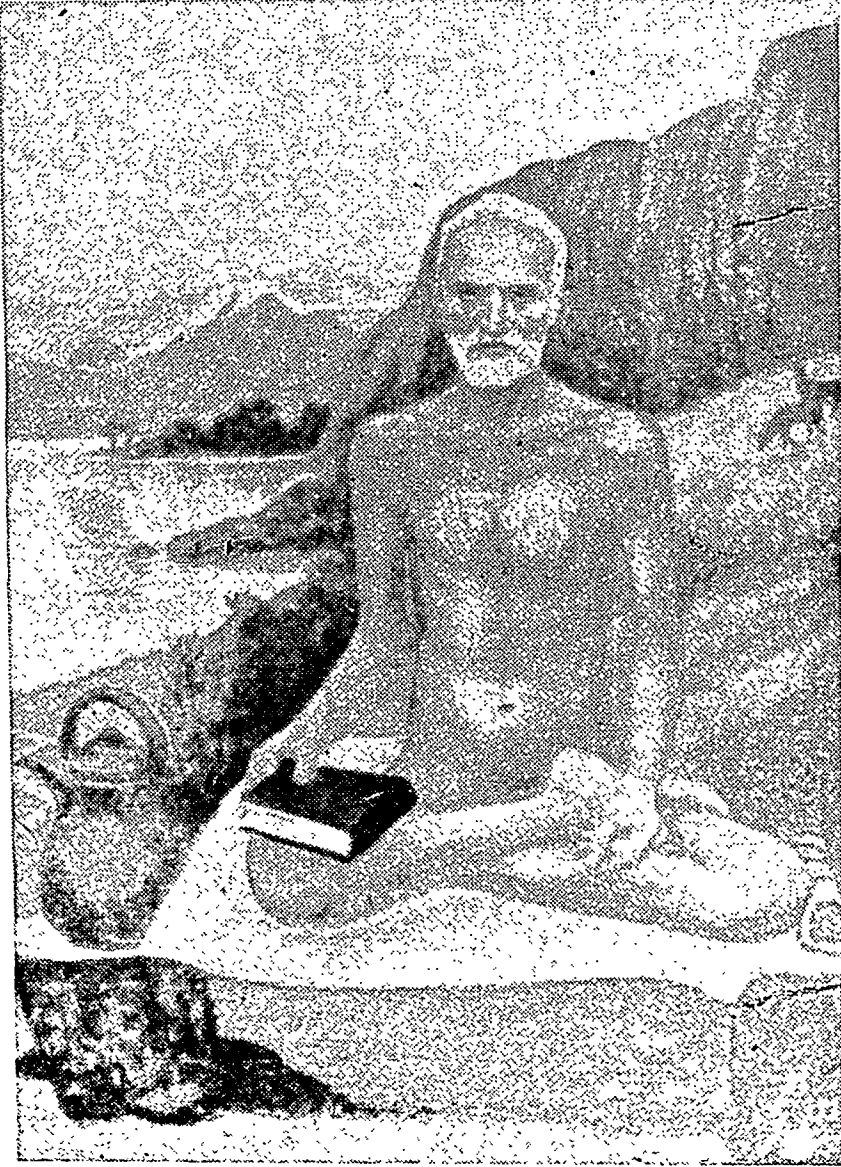
जन्म : माघ कृष्णा त्रयोदशी, विक्रम सम्वत् १९४०

समाधि : फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा, विक्रम सम्वत् २००१

स्वर्गीय आचार्यवर्य १०८
श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

★

अज्ञानतिमिरान्धस्य, ज्ञानाञ्जनशालाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

पूज्यश्री का जन्म फिरोजाबाद (आगरा) में हुआ। आप पद्मावती पोरवाल जाति के प्रसिद्ध कुल महाराजा खानदान के थे। दिगम्बर मुनिमुद्रा धारण कर, कुछ वर्ष दक्षिण प्रान्त में विहार करके आप जैनधर्म का उद्योत करते रहे। आचार्यपरमेष्ठी होकर आपने अत्यन्त कुशलतापूर्वक चतुर्विध संघ का सम्यक् सञ्चालन किया। आप शास्त्र-पारङ्गत विद्वान् थे तथा अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। आपके द्वारा दिगम्बर जैनधर्म की महती प्रभावना हुई थी। पूज्यश्री महान् उपसर्गविजयी, निस्पृह एवं परम दयालु साधुरत्न थे।

अपने प्रखर पाण्डित्य, उग्र तपश्चरण एवं श्रेष्ठ क्षयोपशम से आपने सम्पूर्ण साधु-समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान बना लिया था। आप प्रायः एकान्त निर्जन पर्वतीय स्थानों (सिद्धक्षेत्रों) पर ठहरना पसन्द करते थे। आप चारों अनुयोगों के गम्भीर अध्येता थे। आगमसम्मत सिद्धान्त के प्रतिपादन में आप निर्भीक, कुशल वक्ता थे। आपके मुखमण्डल पर सदैव गम्भीरता, वीतरागता और विद्वत्ता की छवि दीप्त रहती थी। कठिन से कठिन समस्याओं को सुलझाने में आपकी सूझ-बूझ अनुपम थी। समाज एवं धर्म पर आने वाले संकटों को दूर करने में आप सिद्धहस्त थे। वस्तुतः आप जैन-जगत् के देदीप्यमान नक्षत्र थे। आपकी ओजस्वी वाणी में ऐसा जादू था जो सहस्रों श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देता था।

यह मेरा परम सौभाग्य था कि आपके चरणों में रहकर मैं अपने धार्मिक संस्कारों में दृढ़ता ला सका। आपके ही शुभाशीर्वाद से मैं आज क्षुल्लक पद को धारण कर सका हूं। उन परम तपस्वी, निर्भीक-वक्ता, उत्कृष्ट विद्वान्, आगम-मर्म-स्पर्शी, अनर्थ के शत्रु, सत्य के पुजारी, तरण-तारण पूज्य गुरुदेव के चरणों में शत-शत वन्दन ! शत-शत वन्दन !! शत-शत वन्दन !!!

चरणचञ्चरीक
क्षुल्लक सिद्धसागर

*

जग की वस्तु अनित्य लख, करो न मन अभिमान ।
नहीं आज की वस्तु कल, सबका है अवसान ॥
नहिं रक्षक नहिं शरण है, यह संसार विचित्र ।
करनी का ही फल मिले, करनी करो पवित्र ॥

मानव-मार्गदर्शन : तृतीय भाग

स्वर्गीय परम पूज्य, सिद्धक्षेत्रवन्दना-भक्तशिरोमणि

तरण-तारण, तपोनिधि, आचार्यवर्य

श्री १०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

जन्म :	मुनिदीक्षा :	समाधि :
वि. सं. १९६७	वि. सं. १९९९	मेहसाना, ६-१-१९७२

महायोगेश्वरा धीरा, मनसा शिरसा गिरा ।

वन्द्यास्ते साधवो नित्यं, सुरैरपि सुवेष्टिता. ।।

पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज
का
जीवन–परिचय

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्त्तिनि संसारे, मृतः को वा न जायते ॥१॥

आपका जन्म सं० १९८१ श्रावण कृष्णा पंचमी के दिन लाडनूं (राजस्थान) निवासी लब्धप्रतिष्ठ श्रीमान् सेठ मांगीलालजी जैन अग्रवाल के घर हुआ; आपकी माता श्रीमती मौजीदेवी धन्य हैं जिन्होंने ऐसे पुत्र-रत्न को जन्म दिया। आपकी धर्मपत्नी पतिव्रतपरायणा श्रीमती सरस्वती देवी थी। आपके तीन पुत्र (श्री सांवरमल, श्री गिरधारीलाल एवं श्री विजयकुमार), तीन ही पुत्रियां (मूलीबाई, पवनबाई और सरोजबाई) एवं चार पौत्र (पदमकुमार, महावीर, अमृतलाल और चन्द्रप्रकाश) हैं। आपका पूरा परिवार धर्मनिष्ठ है क्योंकि बच्चों पर माता-पिता का असर हुए बिना नहीं रहता।

आपकी धर्मपत्नी स्वर्गीय सरस्वतीदेवी की धार्मिक रुचि अनुकरणीय थी; आपका अधिकांश समय धार्मिक कार्यों में ही व्यतीत होता था; आपके हृदय में कोमलता एवं करुणाभाव सदैव विद्यमान रहता था; इस धार्मिक रुचि के कारण आप तीर्थस्थानों की यात्रा हेतु एवं साधुवर्ग की सेवार्थ अपने पति के साथ जाया करती थीं; अधिक क्या लिखें, अंतिम १५ वर्षों में तो आपने ७७ बार श्री सम्मेदशिखर तीर्थराज की वंदना की तथा ६२ बार श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र की वंदना की; इसी तरह आपने प्रायः सभी तीर्थों की अनेक बार वंदना करके अपने जीवन को आदर्श बनाया। जीवनभर के उल्लेखनीय उत्तम संस्कारों के बल से ही आपका अनुपम समाधिमरण हुआ था। संवत् २०३३ की भाद्रपद कृष्णा त्रयोदशी को रात्रि के २ बजकर ३५ मिनट पर णमोकार मंत्र

जपते २ आपका स्वर्गारोहण हुआ; समाधि के दिन दोपहर के ४ बजे ही चारों प्रकार के आहारों का त्याग आपने स्वेच्छापूर्वक किया और केवल २ साड़ी, २ पेटीकोट, २ कब्जे रखकर सारे परिग्रह का यावज्जीवन त्याग कर दिया था। अन्तिम समय में आपने समाधिपूर्वक पंच परमेष्ठी का स्मरण करते-करते नश्वर शरीर का परित्याग किया। ऐसा आदर्श मरण विरले जीवों को ही प्राप्त होता है।

क्षुल्लकजी महाराज के पूर्वजन्म के संस्कार तो उत्तम थे ही; किन्तु इस भव में भी महान् पुण्योदय के कारण आपको निम्नलिखित उच्चतम निमित्त प्राप्त हो सके—

१. ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में ही स्वर्गीय परमपूज्य श्री १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज से आपने यज्ञोपवीत धारण किया।

२. सं० २००८ में आचार्य श्री १०८ श्री वीरसागरजी महाराज के समक्ष सपत्नीक शूद्रजल का त्याग कर आहारदानादिक का सौभाग्य प्राप्त किया।

३. संवत् २०१६ में जब लाडनूं में चन्द्रसागर स्मारक की पञ्च-कल्याणक प्रतिष्ठा आपके पिताजी द्वारा सुसम्पन्न हुई थी, उस समय अपनी पत्नी सहित सौधर्मेन्द्र, इंद्राणी के पद को सुशोभित करते हुए परमपूज्य आचार्य श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के चरण-सान्निध्य में आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया; इस प्रकार युवावस्था में ही इस दम्पति-रत्न ने भौतिकवाद के युग में भी असिधाराव्रत का पालन कर एक अनुकरणीय अपूर्व साहस का कार्य किया।

४. आपने स्वर्गीय परमपूज्य आचार्यप्रवर श्री १०८ श्री महावीर कीर्त्तिजी महाराज के समक्ष संवत् २०२६ में श्री गजपंथा क्षेत्र में द्वितीय प्रतिमा के व्रत के साथ ही साथ आजीवन एकभुक्तिव्रत भी ग्रहण किया।

५. आपने वि० सं० २०२९ में परमपूज्य आचार्य श्री १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज के लाडनूं चातुर्मास में सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए।

६. जब आप संवत् २०३२ के माघ मास में विजयनगर (आसाम) की बिम्बप्रतिष्ठा में सम्मिलित होने जा रहे थे तो आप बीच में ही मुजफ्फरनगर में पूज्य आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज के दर्शनार्थ रुके। वहां माघ शुक्ला पंचमी को दस दीक्षायें होने वाली थीं। आपका विचार दीक्षा-समारोह देखकर उसी दिन दोपहर की गाड़ी से कलकत्ता होकर विजयनगर जाने का था; इसके लिए आपने मुजफ्फर-नगर से कलकत्ता का टिकिट भी खरीद लिया था तथा कलकत्ता टेलीफोन करके गोहाटी के लिए हवाई जहाज का टिकिट भी रिजर्व करा लिया था। यह सब कर लेने के बाद माघ शुक्ला चतुर्थी के सायंकाल के समय संसार को असार समझ करके विशाल परिवार एवं सम्पत्ति के होते हुए भी आपके हृदय में अकस्मात् वैराग्य-समुद्र उमड़ पड़ा, फलतः आपने आचार्यश्री से क्षुल्लक दीक्षा के लिए प्रार्थना की; उसी समय आचार्यश्री ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान कर दी; अतः आपने माघ शुक्ला पंचमी को विशाल जनसमुदाय के बीच में आचार्यश्री के कर-कमलों द्वारा क्षुल्लकदीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के बाद उत्तरप्रदेश में आपने मुजफ्फरनगर, शामली, कैराणा, कांदला, शाहपुर आदि शहरों में आचार्यश्री के साथ २ विहार किया। रात्रि के समय उक्त नगरों में आपका प्रभावशाली प्रवचन होता था। उससे प्रभावित होकर हजारों जैन-अजैन बन्धुओं ने लाभ उठाया। कई भाइयों ने पंच अणुव्रत और अष्ट मूलगुण ग्रहण किए और सप्त व्यसनों का त्याग किया।

असाता के उदय से आपको उत्तरप्रदेश की जलवायु माफिक नहीं होने से शारीरिक व्यथा रहने लगी; जिसका उपचार भी किया गया लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली, फलतः वहां के वैद्यों के परा-मर्शानुसार आपको, गुरुचरणों के सान्निध्य से वंचित होकर आचार्यश्री की आज्ञा लेकर सीकर (राजस्थान) के लिए विहार करना पड़ा। करीब ३०० मील पैदल चल कर आप सीकर पहुंचे। सीकर में कुछ दिन धर्मप्रभावना करते हुए, कुचामन-समाज की प्रार्थना से आपने

कुचामन नगर में चातुर्मास किया; वहां पर भारी धर्मप्रभावना हुई, आपके प्रभावशाली प्रवचनों से प्रभावित होकर वहां की जैनाजैन जनता ने अनेक व्रतोपवासादि धारण कर अपना मानव-जन्म सार्थक किया। चातुर्मास की समाप्ति के बाद आपने विहार करते हुए अपने जन्म-स्थान लाडनूं नगर में पदार्पण किया; उस समय का अद्‌भुत दृश्य देखते ही बनता था; हजारों स्त्री-पुरुष इस मंगलमय पुण्यवेला में सम्मिलित हो अपने भाग्य की सराहना करते थे। लाडनूं नगर में आपने लगभग तीन मास विराजकर प्रवचनादि के द्वारा जनता में जो जागृति उत्पन्न की वह इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी। फिर यहां से विहार करके आपने सुजानगढ़ में मङ्गलमय पदार्पण किया।

सुजानगढ़ में करीब ३ मास रहकर आपने जन-जीवन में एक नई क्रांति का सञ्चार किया। श्री झूमरमलजी बगड़ा के शब्दों में (जैनगजट वर्ष ८२, अङ्क २३ से उद्धृत) "धर्म के प्रति समाज में व्याप्त शिथिलता को दूर करने के आपके गंभीर प्रयासों के फलस्वरूप समाज के विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया, फलतः सैंकड़ों व्यक्तियों ने सप्त व्यसनों का त्याग करके, यज्ञोपवीत धारण कर नियमितरूप से शास्त्रस्वाध्यायादि करने का नियम लिया है। सुजानगढ़ के इतिहास में इस प्रकार विशाल पैमाने पर सामूहिक रूप से व्रत नियम एवं संकल्प लेने का यह प्रथम अवसर है।"

सुजानगढ़ से विहार करके आप राणोली नगर के मानस्तम्भ वेदी-प्रतिष्ठा के शुभावसर पर पधारे। स्मरण रहे कि इस मानस्तम्भ की नींव करीब ४ साल पहले आचार्य धर्मसागरजी महाराज के सान्निध्य में आपके ही सत्प्रयत्न से लगी थी, यहां पर आपके धार्मिक प्रवचनों द्वारा विशेष प्रभावना हुई।

राणोली से विहार कर आप कोछोर ग्राम पहुंचे; वहाँ पर मंदिरजी की वेदी में कुछ कमियां थीं, उन सबको ठीक करवा के पुनः वेदी-प्रतिष्ठा बड़ी धूमधाम के साथ करवाई तथा कोछोर में ही आपके द्वारा श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन विद्यालय की स्थापना भी हुई। इस तरह

श्री १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज
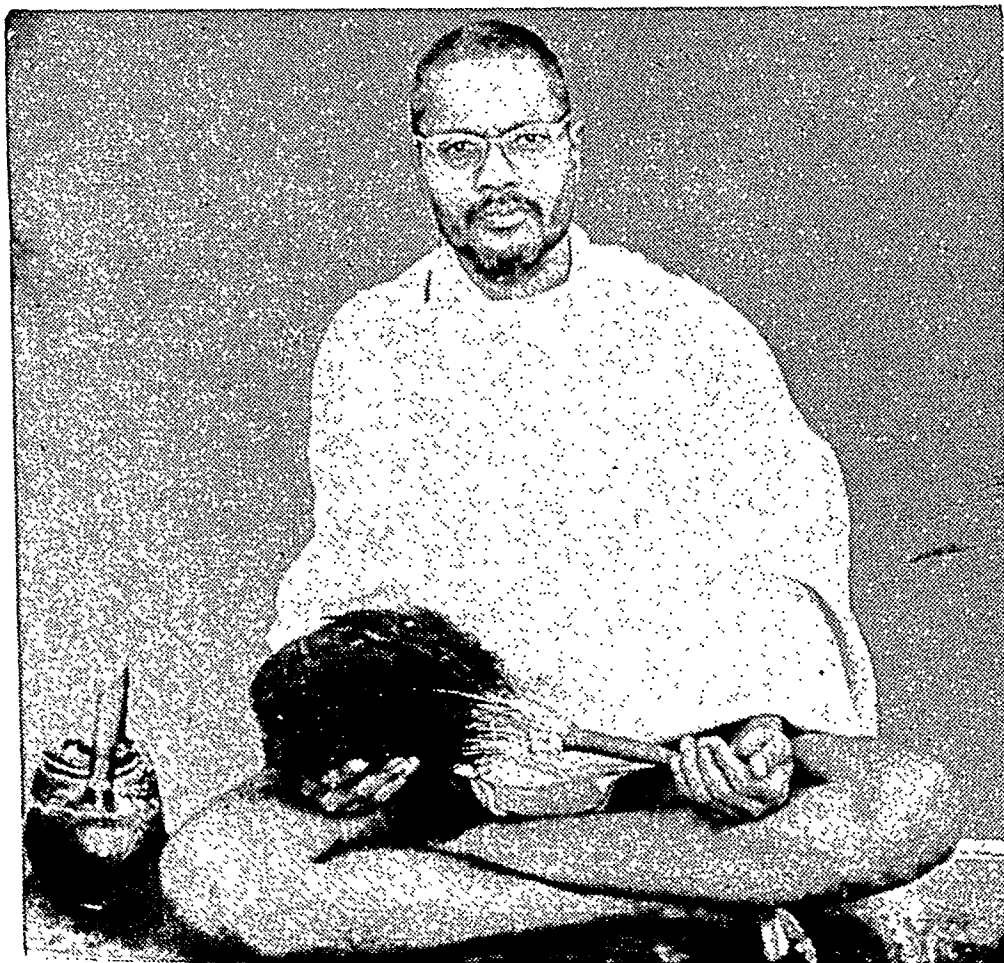
जन्म : श्रावण कृष्णा पंचमी, विक्रम सम्वत् १९८१, लाडनूँ (राजस्थान)

क्षुल्लकदीक्षा : माघ शुक्ला पंचमी, वि. सं. २०३२, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

से अनेक मङ्गलमय जनहित के कार्यों को करते हुए आप वहां से विहार करके सीकर-समाज के भारी आग्रह से वहीं चातुर्मास करने के लिए पधारे। यहां पर सुबह और शाम आपके प्रवचनों में हजारों जैना जैन लोग आकर, धर्मामृत का पान कर अपने को धन्य समझते थे।

आपके सदुपदेश से प्रभावित होकर सीकर जैन समाज ने यह निर्णय लिया है कि सीकर समाज का कोई भी सदस्य सामूहिक भोजनों में रात्रि को पेय और सूखे मेवों के अतिरिक्त अन्नादि का भोजन न करेगा और न करावेगा तथा सामूहिक भोजनों में, कंद-मूल की साग सब्जी भी काम में नहीं ली जाएगी।

आज समाज में यदि इसी प्रकार का नियन्त्रण प्रत्येक शहर और गांव में हो जाय तो जैन समाज का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा।

चातुर्मास-समाप्ति पर जब आपने नई पिच्छिका ग्रहण की तो सीकर के ही श्री मोहनलालजी जयपुरिया ने ११००१) रु० में बोली लेकर एक रिकार्ड कायम किया; यह रकम स्थानीय व्रती आश्रम में दी गई। इन बातों से पाठकगण समझ सकेंगे कि सीकर-समाज में आपने धार्मिक जागृति पैदा कर अनुपम एवं आदर्श कार्य किया।

सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर सीकरसमाज ने दिग० जैन आचार्य धर्मसागर व्रती आश्रम की स्थापना की है। समाज ने तत्काल १ लाख रुपयों का ध्रुव फण्ड कायम करके इस सत्कार्य को प्रारम्भ किया है। ऐसा अभूतपूर्व कार्य करके सीकर जैनसमाज ने अपना ही नहीं बल्कि समस्त राजस्थान का गौरव बढ़ाया है। हर्ष है कि त्यागी एवं विद्वान् पं० विद्याकुमारजी सेठी, न्यायकाव्यतीर्थ सरीखे कर्मठ एवं कार्यकुशल अधिष्ठाता होने से आश्रम की महती शोभा बढ़ गई है। आश्रम में नित्यप्रति छात्र एवं छात्राओं को धार्मिक शिक्षण भी दिया जाता है इतना ही नहीं बल्कि दोनों समय शास्त्र-प्रवचन तथा णमोकार मंत्र का कीर्त्तन एवं महिलाओं को धार्मिक-शिक्षण भी दिया जाता है। समय-समय पर शिक्षण-शिविरों का भी आयोजन किया जाता है। आश्रमस्थ व्रतीगण सामायिक प्रति-

क्रमणादि नियमानुकूल करते रहते हैं। आश्रम में भोजन, आवास व शिक्षणादि की सुन्दर व्यवस्था है।

सीकर से विहार कर कोछोर, दूदुआ, रूपगढ़ एवं दांता, जीजोठ, चितावा, कुंकुमवाली, पांचवा आदि गांवों में आपने अद्भुत धर्म-प्रभावना की। फिर कुचामनसमाज के विशेष आग्रह से आपने कुचामन नगर में चातुर्मास योग की स्थापना की है।

आपके अमृतमयी प्रवचनों से प्रभावित होकर स्थानीय समाज ने पुरानी नशियांजी में जो एक विशाल हॉल तथा वेदी बनी है उसी में विशालकाय जिनबिम्ब विराजमान करने के लिए पंच कल्याणक समारोह करने का संकल्प किया है तथा नई नशियांजी के आंगन में संगमरमर का एक सुन्दर मानस्तंभ बनाने के लिए समाज ने नींव लगवाई है जिसका काम चालू है। उक्त पंचकल्याणक में इसकी भी प्रतिष्ठा होगी।

वर्तमान युग को देखते हुए, दिगंबर जैन समाज में धार्मिक भावनाओं की जागृति करने के लिए वास्तव में ऐसे ही साधु-संतों द्वारा सर्वसाधारण के समझने योग्य नि क आर्षमार्ग पोषक उपदेशों की आवश्यकता है।

आप जैसा उपदेशों में कहते उन्हीं बातों का आपने अपनी लेखनी द्वारा मानव-मार्ग-दर्शन प्रथम, तीय तथा प्रस्तुत तृतीय भाग में संकलन किया है। इनका स्वाध्याय करके एक नहीं, अनेक प्राणियों का सुधार होगा। किं बहुना—

मुझे क्षुल्लकजी महाराज के विषय में ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आपके द्वारा जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना होने वाली है; आपकी दिन-चर्या, अध्ययनशीलता, गुरुभक्ति, मार्ग-प्रभावना, तेजस्विता को देख कर मैं बहुत ही प्रभावित हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इसी प्रकार स्व और पर का कल्याण करते हुए जैनधर्म का गौरव बढ़ायेंगे और हमारे लाडनूं नगर की शोभा को दिग्दिगंतव्यापिनी करेंगे।

विनीत –
पण्डित रामप्रसाद शास्त्री
शास्त्री कुटीर, लाडनूं (राज.)

★★ हमारा देश आध्यात्मिक विद्या का केन्द्र रहा है। यहाँ मोक्षार्थी साधुओं ने अपनी आत्म-साधना और तपश्चर्या के बल पर अध्यात्म-विद्या के चरम विकास को प्राप्त करके अपना और संसार के अनेक प्राणियों का कल्याण किया है।

इसी आर्ष-परम्परा में वर्त्तमान में भी श्री १०८ श्री चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागरजी आचार्य वीरसागरजी, आचार्यकल्प चन्द्र-सागरजी, आचार्य महावीरकीर्त्तिजी एवं आचार्य शिवसागरजी आदि महान् उद्भट योगी हो गये हैं। उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलने वाले संघस्थ श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज आज देश के कोने-कोने में भ्रमण करके असंख्य प्राणियों को कल्याण के मार्ग पर लगा रहे हैं तथा जैन-धर्म का डंका बजा रहे हैं। उन्हीं के चरणों के अनुयायी शिष्य प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुवादक एवं विस्तृत-विवेचनकर्त्ता श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज (लाडनूं वाले) स्व-पर-कल्याण में तत्पर रहते हैं तथा सरल भाषा में जगत् के अनेक प्राणियों को वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कराते हैं। आपकी छत्र-छाया में अनेक मानवों ने अपने जीवन का उत्थान किया है। जहां-जहां भी आपका विहार होता है वहां-वहां के जैनाजैन बन्धु अपने को धन्य मानते हैं। आपके धर्मामृत-उपदेशों से अनेक प्राणियों के आचार-विचारों में परिवर्धन, परिवर्त्तन और परिमार्जन हुआ है तथा कितने ही व्यक्तियों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिली है।

आप में महान् विशेषता यह है कि आपका मानस स्व-पर-कल्याण की पवित्र भावनाओं से सदा ओतप्रोत रहता है। जगत् के कल्याण की निस्वार्थ भावना, दयालुता, करुणावृत्ति आदि सभी गुण आपकी महानता के सूचक हैं। यद्यपि आप हृदय-रोग से पीड़ित हैं, शरीर से अस्वस्थ हैं, तथापि अपने आत्म-बल, त्याग-वृत्ति और आंतरिक प्रेरणा वश अहिंसा और सत्य का यथार्थ प्रचार करते हुए आत्म-साधना में लीन रहते हैं।

उल्लेखनीय बात यह है कि आप अपनी गुरु-परम्परा के आदर्शमार्ग से एक इंच भी इधर उधर नहीं होते, लेकिन विवादों में फंसकर अपने मानस को खराब भी नहीं करते। संसार के सभी जीवों से आपका मैत्रीभाव है। विपक्षियों एवं विपरीत वृत्ति वालों पर भी आपका माध्यस्थ भाव रहता है। आप विपक्षियों पर कटाक्ष नहीं करते परन्तु उनका हृदय-परिवर्तन करके वस्तु-स्वरूप को गले उतारने की क्षमता रखते हैं; इसीलिए तो आपके प्रवचनों में विपक्षी लोगों की भी भीड़ रहती है। आपके प्रवचन में जो व्यक्ति एक बार आ जाता है वह फिर मंत्र-मुग्ध हो करके नियमित रूप से आने लगता है और अपने भाग्य की सराहना करता है; आपकी पदार्थ-विवेचना गंभीर, मृदु और मधुर तथा सरल भाषा में होती है तथा वस्तुस्वरूप की यथार्थ निर्देशक होती है।

अधिक कहां तक लिखें, आपके द्वारा जो समाज का उपकार हुआ है और हो रहा है वह इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगा और समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् आपने मानव-मार्ग-दर्शन, प्रथम भाग, द्वितीय भाग और अब तृतीय भाग प्रस्तुत किए हैं। इन ग्रन्थों का स्वाध्याय व मनन करके मानव अपनी दानवता को छोड़कर, मानवता धारण कर सकता है; इतना ही नहीं वह व्यक्ति आत्महित में लगकर अनन्त संसार के पाश को छेदने में भी समर्थ हो सकता है, ऐसी मेरी धारणा है।

विनीत :
पण्डित लाड़लीप्रसाद पापड़ीवाल 'नवीन'
सवाईमाधोपुर (राज०)

★★★ पूज्य १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज के दर्शन करने का और उनके प्रवचन सुनने का सौभाग्य मुझे अपने नगर दांता में प्रथम बार प्राप्त हुआ। यहां आप सिर्फ २५ दिन रहे; इतने थोड़े दिनों में ही आपने जैनाजैन सभी महानुभावों को प्रभावित कर दिया; मैंने प्रत्यक्ष में देखा कि सैंकड़ों व्यक्तियों ने आपसे प्रार्थना करके यथाशक्ति व्रत, नियम, सदाचारादि ग्रहण किए; आपमें प्राणियों का हृदय-परिवर्त्तन करने की अनूठी शक्ति है। सर्वकल्याण की निस्वार्थ भावना, स्पष्टवादिता, सर्व-धर्म समन्वयात्मक दृष्टि, निरभिमानिता, ओजस्विता तथा आबालवृद्ध सभी से मोहक मुस्कान से बातचीत करना आदि सभी प्रशंसनीय आदर्श गुण आपमें विद्यमान हैं।

धार्मिक प्रचार से एक नहीं, अनेक मानवों को आपने कल्याण-पथ पर लगाया है; मैंने आपको इतना सुलझा हुआ पाया कि आप किसी भी धर्म या संप्रदाय का खंडन-मंडन नहीं करते; न किसी पर आक्षेप करते हैं किन्तु वस्तुस्वरूप की यथार्थता को प्रदर्शित कर उनके गले उतारने की क्षमता रखते हैं।

इस प्रकार के धर्म-प्रचार से जन-मानस का सुधार एवं विकास हो सकता है क्योंकि धर्म आदमी को सुलझाता है; सीधे, सरल, निर्विघ्न पथ की ओर इंगित करता है, परन्तु कई धर्मप्रचारकों ने, अपने एकान्त दुराग्रहपूर्ण पक्ष से तथा संकुचित विचारों से धर्म को मोक्ष का नहीं बल्कि बंधन का कारण बना लिया है। स्वार्थपूर्ण धार्मिक प्रचार, धार्मिक अतिवाद, धार्मिक युद्ध इसके उदाहरण हैं परन्तु महाराजश्री को मैंने इस मामले में बहुत सुलझा हुआ पाया है। इसके अतिरिक्त मैंने आपमें एक विशेष बात यह देखी कि आप दया से आर्द्र होकर रोगाक्रान्त, पीड़ित प्राणियों को शुद्ध आयुर्वेदिक औषधियों द्वारा चिकित्सा भी बता देते हैं जिससे अनेक प्राणियों को असाध्य रोगों से छुटकारा एवं शान्ति मिल जाती है। यह सब आपके परम गुरु स्वर्गीय श्री महावीरकीर्तिजी महाराज की ही देन है; उन्हीं के प्रसाद से आपमें इस कला का प्रादुर्भाव हुआ है।

ठीक ही है—पारस के स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। उल्लेखनीय बात यह है कि औषधि बताते समय आप उस व्यक्ति को यथाशक्ति कुछ न कुछ नियम, व्रत देकर असदाचार से हटाकर सदाचार की ओर प्रवृत्ति करने का दृढ़ संकल्प करा देते हैं जिससे व्यक्ति को दुराचार से तथा रोगजनित पीड़ा से भी मुक्ति मिल जाती है। यह सब मैंने अपने दांता ग्राम में प्रत्यक्ष देखा है कि बीसों व्यक्तियों को आपके मार्गदर्शन से श्वास आदि भयंकर व्याधियों से मुक्ति मिली है। उन्होंने धूम्रपान आदि दुराचारों का पूर्णतः परित्याग कर दिया है। इस तरह आपकी जनहितकारिणी प्रवृत्तियों से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं और भगवान से प्रार्थना करता हूं कि आपका स्वास्थ्य धर्मध्यानपूर्वक उत्तरोत्तर स्व-पर-हित करने में सदैव सक्षम रहे।

चरण-सेवक
इन्द्रमणि शर्मा, शास्त्री, साहित्यरत्न
दांता (सीकर)

सांचा सुख नीरोगता, सम्पति सांचा ज्ञान।
सांचा मित्र सुशीलता, समता सांचा ध्यान॥

आद्य वक्तव्य

केवल-ध्वनि के अंश से, रच्यो ग्रन्थ यह सार।
मनन करो त्रियोग से, निश्चय होय सुधार॥

गत दो वर्ष पहले मैंने अपने कुचामन (राजस्थान) चातुर्मास में मानव-मार्ग-दर्शन प्रथम भाग का (२५० पृष्ठों में) संकलन किया था जिसकी लोकप्रियता तथा उपयोगिता देखकर उसका द्वितीय संस्करण शीघ्र छपवाना पड़ा। गत वर्ष सीकर (राजस्थान) चातुर्मास में मैंने मानव-मार्ग-दर्शन द्वितीय भाग को ४०० पृष्ठों में संकलित किया था उसकी ४००० प्रतियाँ प्रकाशित हुईं। वे प्रायः देश के सभी प्रान्तों में स्वाध्यायार्थ भेजी गईं, फलस्वरूप गुरुओं, विद्वानों, श्रीमन्तों और सर्वसाधारणजनों को तथा जैन और जैनेतर लोगों की सम्मतियां देखकर मुझे अपने परिश्रम की सफलता ज्ञात हुई। फिर इस वर्ष सीकर से विहार के बाद मु० कौछोर, दांता, पांचवा आदि गांवों में धार्मिक सज्जनों ने विशेष आग्रह किया कि महाराज ! आप द्वारा लिखित मानव-मार्ग-दर्शन दोनों भागों को देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई, इन ग्रंथों के द्वारा जन-साधारण का कल्याण हो रहा है अतः आप मानव-मार्ग-दर्शन तृतीय भाग लिख दें तो हम लोग उसे प्रकाशित करवाकर अपनी चंचल लक्ष्मी का सदुपयोग करते हुए जिनवाणी का प्रचार एवं प्रसार करें। फलतः मैंने अपना उपयोग प्रस्तुत मानव-मार्ग-दर्शन, तृतीय भाग को लिखने में लगाया। मैं कोई विशेष विद्वान् नहीं हूं परन्तु गुरुओं के शुभाशीर्वाद के प्रभाव से मैंने इसको लिखने का साहस किया है। सच तो यह है कि मेरे हृदय में अबाध रूप से सतत विराजमान रहने वाले स्व० परमपूज्य १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के शुभाशीर्वादरूप प्रसाद से मैंने इस ग्रन्थ का अनुवाद एवं विस्तृत विवेचन करने का साहस किया है; मेरे हृदय में विराजमान गुरु एवं गुरु-भक्ति ने ही स्वयं यह महान् कार्य निर्विघ्न सम्पन्न किया है, मेरा इसमें कुछ भी नहीं है जो कुछ

इसमें लिखा गया है वह सब गुरुदेव के द्वारा ही प्रदत्त है, कारण गुरु महाराज मेरे हृदय में निरन्तर विराजमान हैं और वे ही इस कार्य में सहायक हुए हैं, मुझे ज्यादा परिश्रम नहीं उठाना पड़ा; यह बात मैं अपने अनुभव से लिख रहा हूं अर्थात् मेरे हृदयस्थ गुरुचरणों ने ही यह कार्य सम्पन्न किया है; गुरुभक्ति से आप्लावित मेरा हृदय निःशङ्क रहता है। जब कभी कोई उलझन मेरे सामने आती है तो मैं गुरुदेव को स्मरण करता हूं और तुरन्त मुझे समाधान मिल जाता है। इसके अतिरिक्त जब मैं शास्त्र-प्रवचन करता हूं उस समय भी मेरे हृदय में गुरु महाराज का वास निरन्तर रहता है; जो भी शब्द मेरे मुंह से निकलते हैं उन शब्दों को संस्कार से संयुक्त करने तथा रस, भाव व अलंकार आदि से विभूषित करने में मेरे हृदयस्थ गुरु ही मेरे परम सहायक होते हैं, ऐसा मुझे अटल श्रद्धान है। जिस तरह से स्वर्गीय १०८ आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी महाराज पर मुझे पूर्ण आस्था है ठीक उसी प्रकार की आस्था दीक्षा-गुरुवर १०८ आचार्य शिरोमणि श्री धर्मसागरजी महाराज पर है। उनका शुभाशीर्वाद मेरे मस्तक पर निरन्तर रहता है।

सचमुच में, इन गुरुवरद्वय पर श्रद्धा एवं भक्ति से ही मैं इस ग्रन्थ-रूपी समुद्र को पार कर सका हूं; यह भक्तिरूपी नौका मुझे शीघ्रातिशीघ्र भव-समुद्र से पार होने में सहयोगी बने; इसी सद्भावना सहित मैं पूज्य गुरुदेवों की पवित्र आत्माओं के प्रति मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक त्रिकाल नमोऽस्तु करता हूं। आज लोग सदाचार से पतित होते जा रहे हैं अर्थात् धर्ममार्ग से च्युत होकर पंचेन्द्रिय-विषयकषायों में अत्यन्त आसक्त होकर प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं। इसका मूल कारण अन्याय, अत्याचार, अभक्ष्य भक्षण करना, आचार-विचार से विहीन होना तथा विनय और विवेक का अभाव होना है।

पूर्वाचार्यों ने संसारी प्राणियों के उद्धार हेतु अनेक महान् ग्रन्थों की रचना की है। यही कारण है कि आज भी एक एक विषय पर अनेक ग्रंथराज उपलब्ध होते हैं। आज उन ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। वर्तमान में सैद्धांतिक ग्रन्थ जन-साधारण (सामान्य-

बुद्धिवालों) को आकृष्ट नहीं कर पाते हैं तथा कथात्मक साहित्य विद्वानों को कम रुचिकर होता है। यह देखकर मुझे ऐसी रचना की आवश्यकता प्रतीत हुई जो सामान्य तथा विशेष बुद्धिवालों को समान रूप से रुचिकर हो सके। परिणाम आपके हाथों में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सिद्धान्त भी है; आचार भी है तथा दृष्टान्तों द्वारा सुगम सूक्तियां भी हैं। किसी भी विषय को इतना नहीं खींचा गया है कि पाठक पढ़ते पढ़ते थक जाए।

मेरे विचार में, यह ग्रन्थ विद्वानों एवं सर्व साधारण पाठकों सबके लिए समानरूप से रुचिकर और उपयोगी होगा। इतना ही नहीं यह ग्रन्थ समीचीन आचरण के प्रतिपालन में मानवमात्र का सहायक होगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

इस ग्रन्थ में मेरी निजी पूंजी न के बराबर है; इसमें जो अच्छाइयां हैं वे सब पूर्वाचार्यों की देन हैं परन्तु जो गल्तियां हुई हैं वह सब मेरा प्रमाद है। अंतमें सुधी पाठकों तथा विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थमें जो भूलें या अशुद्धियां हों उसके लिए मार्ग-दर्शन करावें ताकि आगामी संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन-जिन सज्जनों ने धन-राशि लगाकर जिनवाणी के प्रचार व प्रसार में सहयोग दिया है मैं उनके प्रति हार्दिक शुभकामना प्रकट करता हूं कि वे शीघ्रातिशीघ्र केवल ज्ञान प्राप्त करें। पं० विद्याकुमारजी सेठी को भी शुभाशीर्वाद दिए बिना नहीं रह सकता जिन्होंने इस सत्कार्य के सम्पादन में सहयोग दिया है; साथ ही स्वर्गीय पूज्य मुनिवर १०८ श्री समतासागरजी महाराज के सुयोग्य पुत्र-रत्न डॉ० चेतनप्रकाशजी पाटनी, प्राध्यापक, जोधपुर विश्वविद्यालय को भी शुभाशीर्वाद देता हूं जिन्होंने विश्वविद्यालय के कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी इस ग्रंथ का प्रकाशन अत्यस्त परिश्रम एवं निष्ठा पूर्वक सम्पन्न किया है।

क्षुल्लक सिद्धसागर
(लाडनूं वाला)

सम्पादकीय

जिस प्रकार शारीरिक बल के लिए व्यायाम की आवश्यकता होती है उसी प्रकार आत्मिक शक्ति के विकास के लिए आत्म-चिन्तन तथा शास्त्रों का ज्ञान अत्यावश्यक है तथा भावों का व्यायाम अपेक्षित है। शांतरस के परिपाक के लिए तो भावनाओं की उत्पत्ति, उनका चैतन्यांश, उनकी विकृति एवं स्वाभाविक रूप में परिणति की प्रक्रिया विशेष आवश्यक है। इनके विश्लेषण के बिना शान्तरस का परिपाक हो ही नहीं सकता है। श्री क्षुल्लकजी महाराज ने अपनी भावधारा को स्वाभाविक तथा निश्चित क्रम से प्रवाहित कर जिनवाणी की आराधना पूर्ण रीति से की है अतः आपकी लेखनी से धुंधली आत्मभावना के दर्शन न होकर ज्ञाता-द्रष्टा, शाश्वत, निष्कलंक, शुद्ध-बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होता है। आपकी लेखनी का केन्द्र-बिन्दु चिरन्तन, अनुपम एवं अक्षय सुख प्राप्ति ही है; यह रत्नत्रय की उपलब्धि कराती है तथा आत्मस्वरूप में परिणत होकर वृत्ताकार बन जाती है।

श्री १०५ श्री क्षुल्लक सिद्धसागरजी महाराज ने इस ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक में जितना भाव सरलता से रखना इष्ट था उतना सरलता से प्रतिपादित किया है। आपने सरल भाषा में संबोधन का मधुर आकर्षण रखकर पाठकों व श्रोताओं को रसास्वादन कराने में पूरी तत्परता दिखाई है। आपकी यह शैली बड़ी उत्तम है। श्रोताओं को संबोधित करते हुए आप भाव-विभोर हो जाते हैं। आप अपने प्रवचनों में प्रायः संबोधन करते हैं कि हे भव्य प्राणियो ! संसार, शरीर, भोगों में आसक्ति तथा स्वार्थ, मोहमाया, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, घृणा आदि के होने से इस जीव-आत्मा की बड़ी दुर्दशा और दयनीय अवस्था होगी। अतः आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता को समझो और अनादिकालीन मिथ्यात्व व अज्ञान-परिणति से बचो क्योंकि मोह और राग-द्वेष के कारण ही यह जीव उत्तरोत्तर कर्मार्जन करता रहता है। जब इसे रत्नत्रय की उपलब्धि हो जाती है; तब यह सहज में ही इस गहन संसार-समुद्र को

पार कर जाता है। पूज्य क्षुल्लकजी महाराज ने बड़े परिश्रम और अध्ययनपूर्वक आदर्श कृति के रूप में इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। आपने बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है कि व्यक्ति, आत्म-कल्याण के लिए अवसर की तलाश में रहता है परन्तु उसे कभी मौका नहीं मिलता। असमय में ही इस संसार को छोड़कर चल देता है अतः आत्मकल्याण में किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए।

आपकी लेखनी का शब्द-विन्यास, बहुत ही सरल है जिससे गंभीर अर्थ का बोध होता है; अध्यात्मविषय के प्रतिपादन की आपकी प्रक्रिया अनूठी है; इतना ही नहीं आप वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करते हुए आत्मस्वरूप का विवेचन करते हैं तथा संसार के मनोज्ञ पदार्थों के अंतरंग व बहिरंग रूप का साक्षात्कार करते हुए उनकी बीभत्सता दिखलाते हैं।

मेरा तो यह विश्वास है कि इस ग्रन्थ के अध्ययन से अनेक अध्यात्म-ग्रन्थों के सार का बोध हो जाता है। वस्तुतः आपने गुरु-परम्परा तथा शास्त्राध्ययन से प्राप्त ज्ञान को अनुभव के सांचे में ढालकर संसार के प्राणियों को एक नवीन मार्ग-दर्शन कराया है। इस ग्रन्थ के अन्तस्तल में प्रवेश करने पर प्रतीत होता है कि आपके हृदय में व्यापक उदारता तथा धर्मोद्योत करने की महती भावना है।

आपकी लेखनी में आत्मरस झलकता है तथा आत्मज्ञान पिपासुओं को इस ग्रन्थ के अध्ययन से बड़ी शांति मिल सकती है। क्योंकि यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक अभिनिवेश से परे मूलरूप में जैनधर्म सिद्धान्त का, आचार-प्रणाली का, जीवन के क्रमिक विकास की प्रक्रिया का सर्वसाधारण प्राणियों को परिचय कराने के लिए एक बहु-सम्मत प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

निस्संदेह पूज्य क्षुल्लकजी महाराज मानवों को दानवता से बचाते हुए मानवता का पाठ पढ़ाते हैं तथा उस पर उन्हें चलना भी सिखाते हैं यही आपकी विशेषता है। आपका ज्यादातर समय अभीक्ष्णज्ञानो-

पयोग में तथा ध्यानाध्ययन में व्यतीत होता है। आपको हर समय कुछ न कुछ लिखना व पढ़ना ही इष्ट है।

'सार समुच्चय' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य कुलभद्र हुए हैं। उन्होंने अपने जन्म से किस नगर को विभूषित किया तथा कौन से मातापिता ने ऐसे साधु रत्न को जन्म दिया, कब तक वे गृह-वास में रहे अथवा उनका समय कौनसी शताब्दी में था, इत्यादि बातों को जानने के लिए सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इतना निश्चित है कि वे अपने समय के एक अपूर्व एवं उत्कृष्ट विद्वान् थे; उनका ज्यादा गुणगान करना मानों सूर्य को दीपक दिखाना है यह सब उनके बनाये हुए 'सार-समुच्चय' ग्रन्थ के ३२८ श्लोकों को भली प्रकार मनन करने वाला व्यक्ति जान सकता है।

आत्म-हितैषी जीवों के लिए, आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शिक्षा प्राप्त कराने में यह ग्रन्थ समर्थ है। इसीलिए तो यह ग्रन्थरत्न पूज्य क्षुल्लकजी महाराज को अत्यन्त प्रिय लगा; आपने अपने जीवन में इस ग्रन्थ का कम से कम ५-७ बार गहराई से अध्ययन किया तभी से आपकी यह इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का विस्तृत विवेचन किया जाय जिससे सर्व साधारण जन को भी लाभ मिले।

इस ग्रन्थ में आचार्य कुलभद्र लिखित मात्र ३२८ श्लोक हैं। उनको ज्यों का त्यों ही लिखा है तथा उनका अर्थ भी अक्षरशः लिखा गया है। पूज्य क्षुल्लकजी महाराज ने तो केवल पाठकों के लाभार्थ इसका विस्तृत विवेचन किया है तथा रोचकता के लिए जगह जगह पर बहुत सुन्दर दृष्टांतादि देकर इसको और अधिक रुचिकर बनाया है; ठीक ही है-जिस किसी भी विषय का वर्णन यदि उदाहरणपूर्वक किया जाता है तो वह विषय आसानी से समझ में आ जाता है, कहा भी है कि "दृष्टांते हि स्फुटायते मतिः" अर्थात् दृष्टांत मिलने पर बुद्धि स्पष्ट हो जाती है अतः उदाहरण देकर विषय को विशद बनाया गया है।

इस ग्रंथ के अनुवाद करने का मुख्य उद्देश्य श्री क्षुल्लकजी महाराज का यह है कि मानव, इन्द्रिय-लोलुपता की पाशविक व अनाचारमूलक

कुवृत्तियों से मन को हटा कर, संयम की ओर झुके तथा वह अपने जीवन को निखार कर जीवन के नैतिक-स्तर को ऊंचा उठा सके।

इस ग्रन्थ का स्वाध्याय या मनन जो भी व्यक्ति करेगा वह संसार के भौतिक पदार्थों से मुंह मोड़कर विषय-भोगों को असार, दुःखमय तथा जन्म-जरा-मरणरूप संसार का कारण जानकर इनसे विरक्त होगा; राग-द्वेष को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर प्रयत्नपूर्वक इसका परिहार करेगा और क्रोध, मान, माया, लोभादि के स्थान पर, क्षमा आदि दश धर्मों को धारण करेगा तथा सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता हुआ अनुकम्पा का आश्रय लेगा, स्व-पर के भेद को समझकर, यत्नाचारपूर्वक मोक्षमार्ग में निर्भय होकर विचरण करने लगेगा।

वस्तुतः श्री क्षुल्लकजी महाराज नहीं चाहते कि उनका नाम टंकित किया जाय लेकिन जिसकी सुगंधि भीतर से फूट रही है उसको कौन रोक सकता है ?

आपने कई विद्वानों के तथा मेरे विशेष आग्रह पर ध्यान देकर अस्वस्थ काय में भी सजग एवं सशक्त आत्मा के प्रकाश में अपने अमूल्य समय को लगाकर इस ग्रन्थ का विस्तृत विवेचन किया है।

यद्यपि इस ग्रंथ का नाम पहले से ही सार-समुच्चय है फिर भी इसका नाम मानव-मार्गदर्शन (तृतीय भाग) रखने का कारण यह है कि इसमें मानव-मात्र के लिए पथ-प्रदर्शक सामग्री की बहुलता है।

विशेषकर आज के युग में मानवता अपनाने को चारों ओर पुकार है और जैनेतर लोग यह समझते हैं कि जैन-ग्रन्थों में सांप्रदायिक धर्म का ही उल्लेख है; मानवता और राष्ट्र-प्रेम की गंध नहीं मिलती है यथार्थ में ऐसी बात नहीं है; वे लोग जैन-साहित्य से अनभिज्ञ हैं इसलिए ऐसा कहते हैं। जैनधर्म का तो मूल ही मानवता का विकास करना है। पूर्वाचार्यों ने भी मानवता के आदर्शरूप को सिद्ध करने के लिए अनेक ग्रन्थ रचे हैं; उनमें से ही एक यह कुलभद्राचार्य की मूल कृति है अतः श्री क्षुल्लकजी महाराज ने इसे मानव-मार्ग-दर्शन प्रथम व द्वितीय भाग की शृंखला में ही निर्दिष्ट किया है।

श्री क्षुल्लकजी महाराज की विशेषता तो मैंने यह देखी कि ग्रन्थ के निर्माण के पूर्व ही ग्रन्थ छपवाने वाले महानुभाव आगे से आगे तैयार रहते हैं। फलतः इस विषय में होने वाली आर्थिक समस्या का विकल्प भी नहीं होता अतः ऐसे महान् जनहितकारी कार्य में धनराशि का सदुपयोग करने वाले सज्जनों के प्रति आभार प्रदर्शन करना भी हमारा प्रधान कर्त्तव्य है।

भावपक्ष की दृष्टि से इस ग्रन्थ का मूलभाव श्री कुलभद्राचार्य ने बहुत सुन्दर श्लोकों में व्यक्त किया है। कलापक्ष की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर दृष्टान्तों द्वारा एवं अपने अनुभवों की सुगन्ध द्वारा पूज्य क्षुल्लकजी महाराज ने इसे सुसज्जित किया है।

प्रो० चेतनप्रकाशजी पाटनी ने इसे आधुनिक रूप में नवीनतम रूप दिया है; प्रूफ संशोधन का जटिल कार्य ही नहीं किन्तु इसमें अपनी प्रतिभाशाली बुद्धि और परिश्रम का योग देकर इस कार्य को पूर्णता-प्रदान की है। मेरा इसमें कुछ भी नहीं है; सारा श्रेय उक्त महानुभावों को ही है। अवशिष्ट त्रुटियों का ही मैं जिम्मेदार हूं और इन कमियों के लिए विज्ञजनों से प्रार्थना है कि वे उपयुक्त सुझाव देने का कष्ट करें ताकि भविष्य में उन पर विशेष ध्यान रखा जा सके। अधिक कहां तक लिखें, पूज्य क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी महाराज द्वारा जिनागम और जिनधर्म का प्रचार दिन दूना और रात चौगुना होता रहे, यही मेरी मंगल कामना है।

विनीत :

पण्डित विद्याकुमार सेठी

अधिष्ठाता,

श्री दिग० जैन आचार्य धर्मसागर व्रती आश्रम,

सीकर।

※ द्रव्य-प्रदाता ※

प्रस्तुत ग्रन्थ की एक-एक हजार प्रतियों के प्रकाशन का व्यय-भार वहन कर जिन चार उदारमना महानुभावों ने जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में अमित सहयोग दिया है, वे अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं। जिनवाणी के प्रति उनकी यह निष्ठा सतत बनी रहे, यही शुभकामना है।

—प्रकाशक

卐

श्रीयुत ब्र० नेमीचन्दजी गंगवाल, पचार (सीकर)

ब्र० नेमीचन्दजी गंगवाल एक सेवाभावी, परोपकारपरायण, देवशास्त्रगुरु-भक्त सद्गृहस्थ हैं। आपके पूज्य पिताश्री गोरूलालजी ने स्वर्गीय आचार्यकल्प १०८ श्री चन्द्रसागरजी महाराज से मुनिदीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया था। दीक्षाग्रहण के अवसर पर आपने अपना एक मकान पचार जैन-समाज को 'जैनभवन' बनाने हेतु भेंट दिया था; साथ ही पचार गांव के आसपास के गांवों में जिनालयों की पूजा-व्यवस्था के लिए पांच हजार की राशि भी दान में दी थी।

ब्र० नेमीचन्दजी भी पिता द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। आपने सप्तम प्रतिमा के व्रत स्व० आचार्य १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज के रेनवाल चातुर्मास के समय ग्रहण किए थे। तभी से आप व्यापार आदि कार्यों से निवृत्त होकर अपना अधिकांश समय धर्मध्यानपूर्वक ही व्यतीत करते हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती लादीबाई भी सरल-शान्त परिणामों वाली, पतिव्रता और धर्मपरायण महिला है। आपके पांच पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। पुत्रों का व्यवसाय बिहार राज्य में है।

ग्राम पचार में डेढ़ लाख रुपए की लागत से आपने माध्यमिक विद्यालय का भवन बनवाया है जो ब्र० नेमीचन्द गंगवाल माध्यमिक

विद्यालय के नाम से चल रहा है। चारणावास गांव में आपने प्राइमरी स्कूल का भवन बनवाया है। आपने अनेक बार तीर्थक्षेत्रों की सपरिवार वन्दना की है। यथाशक्ति व्रत-उपवास भी करते हैं; दो बार दशलक्षण के दस-दस उपवास कर चुके हैं। आपकी अन्तरंग अभिलाषा यही रहती है कि हे भगवन् ! वह दिन कब आएगा जब मैं भी मुनिदीक्षा धारणकर समाधिपूर्वक इस नश्वर शरीर का परित्याग करूँगा ? आप तन-मन-धन से धर्मकार्यों में अनवरत संलग्न रहते हैं। आपकी धार्मिक भावनाओं में निरन्तर वृद्धि हो– यही कामना है।

–रतनचन्द छाबड़ा, कोछोर (सीकर)

卐

श्रीयुत सेठ भँवरलालजी कासलीवाल, दांता (सीकर)

७४ वर्षीय श्रीयुत भँवरलालजी कासलीवाल सरल स्वभावी, उच्च विचारशील एवं धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं। आपकी पत्नी श्रीमती घेवरीदेवी भी पुण्यशीला, भद्रपरिणामी और पतिव्रतपरायण महिला है। आपके छह पुत्र और छह पुत्रियाँ हैं। पुत्रों का व्यवसाय जयपुर, कलकत्ता और गौहाटी में है। कलकत्ते की प्रसिद्ध फर्म 'रामचन्द्र विजयकुमार' आपकी ही है। आप इस अवस्था में भी प्रतिदिन नियमपूर्वक भगवान का पूजन करते हैं तथा छोटे-बड़े सभी धर्म कार्यों में सोत्साह भाग लेते हैं। अपने मधुर, सहानुभूतिपूर्ण और परोपकारपरायण स्वभाव के कारण आप दांता में जन-जन के सम्माननीय हैं। आपको ये सभी गुण अपने माता-पिता से विरासत में मिले हैं। आपके जीवन-निर्माण का श्रेय आपके चाचाजी श्री रामचन्द्रजी कासलीवाल को है।

२३ वर्ष की अवस्था में आपने भ्रातृ-मण्डल के नाम से एक स्थानीय संगठन स्थापित किया था जिसने ग्राम के विकास तथा उसकी समृद्धि हेतु प्रशंसनीय कार्य किया है। इसी संगठन ने एक भव्य भवन बनवाकर उसमें आयुर्वेदिक औषधालय खोला है तथा ग्राम जलयोजना हेतु अग्रिम धनराशि देकर पेयजल की व्यवस्था की है। समय समय पर
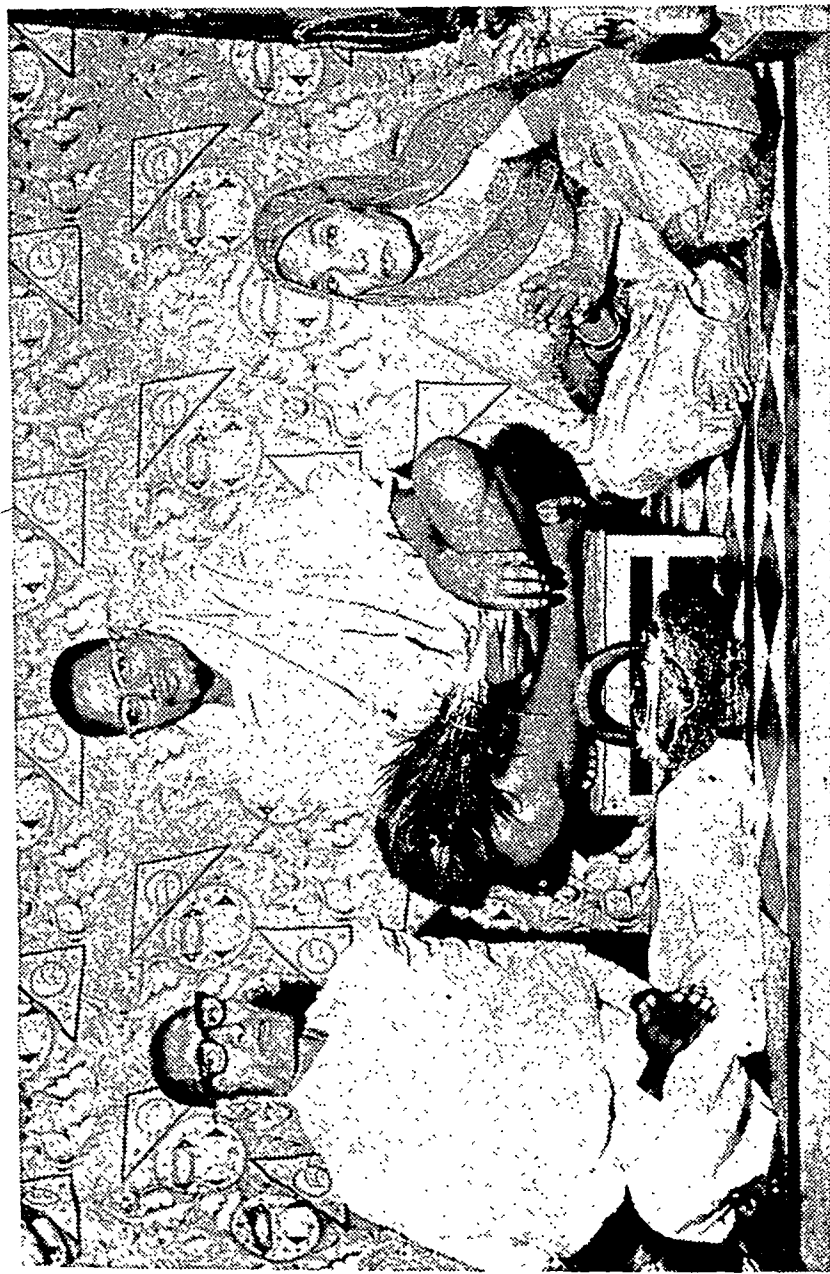
पचारनिवासी ब्र० नेमीचन्दजी गंगवाल और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती लादीबाई
पूज्य क्षुल्लकजी के साथ

स्वर्गीय १०८ मुनिश्री सिद्धसागरजी महाराज
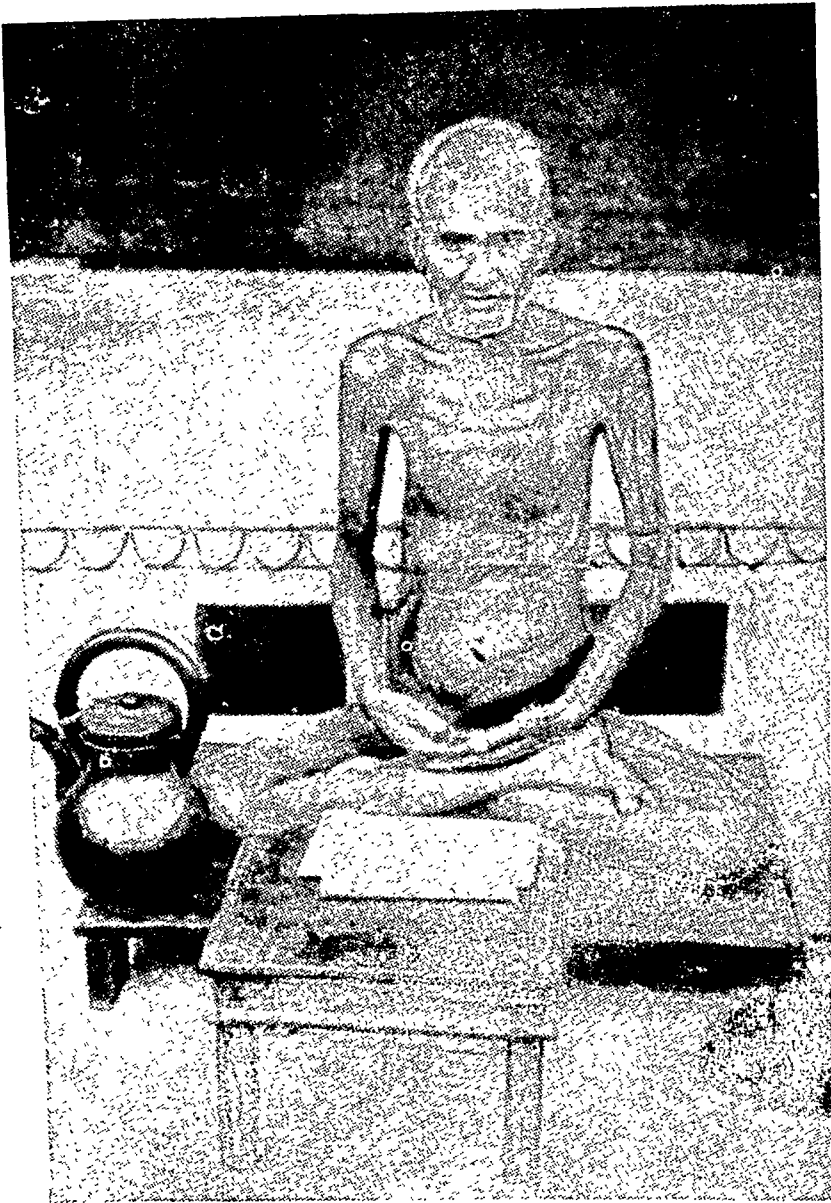
पूर्वनाम : श्री गौरूलालजी गंगवाल

पचार (सीकर) राजस्थान

आपकी प्रेरणा से 'नेत्र-चिकित्सा शिविर' भी लगाए जाते हैं जिनमें समागत रोगियों के आवास, आहार, औषधि आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था निःशुल्क की जाती है। इस प्रकार जन-सेवा के कार्यों में आप सदैव अग्रणी रहते हैं।

पूज्य १०८ मुनिश्री विजयसागरजी महाराज के दांता-चातुर्मास के समय आपने तन-मन-धन से प्रशंसनीय सहयोग दिया था। आपका विनीत स्वभाव, सादगी, धर्मभावना तथा सेवा के प्रति निष्ठा हम सबके लिए अनुकरणीय है।

—इन्द्रमणि शर्मा शास्त्री, दांता (सीकर)

卐

श्रीयुत ब्र० चतुर्भुजजी अजमेरा, पाँचवा (नागौर)

ब्रह्मचारी सेठ चतुर्भुजजी अजमेरा अत्यन्त विनम्र, हँसमुख, मृदु-भाषी, सरल और शान्त स्वभावी, मन्द कषाय वाले, धर्मनिष्ठ महानु-भाव हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती धापूबाई भी पतिव्रता एवं धर्म-परायणा नारी-रत्न है। वर्त्तमान में आप दोनों श्रावक की सप्तम प्रतिमा के व्रतों से सुशोभित हैं तथा गृहस्थोचित षट्कर्मों का यथाशक्ति प्रतिदिन पालन करते हैं। आपके श्री गोरीलालजी, मोहरीलालजी, सोहनलालजी एवं शान्तिलालजी चार लघुभ्राता हैं और श्री भँवरलालजी व चिरंजीलालजी दो सुपुत्र हैं। सम्पूर्ण परिवार सदाचारपरायण एवं देवशास्त्रगुरु-भक्त हैं। धार्मिक कार्यों में विशेष उत्साही है। आपका कारोबार भावनगर, जामनगर, गांधीधाम, गयाजी, मुजफ्फरपुर, गौहाटी आदि स्थानों में है। इस धर्मनिष्ठ परिवार के सद्प्रयत्नों से पाँचवा ग्राम में पूज्य १०८ मुनिराज श्री सन्मतिसागरजी तथा पूज्य १०८ मुनिराज श्री विजयसागरजी के ससंघ चातुर्मास सम्पन्न हुए हैं।

ब्रह्मचारी चतुर्भुजजी की तीर्थों, सिद्धक्षेत्रों, गुरुओं और जिनवाणी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा है। प्रतिवर्ष सपरिवार तीर्थाटन के लिए जाते हैं तथा जहाँ भी साधु-सन्तों का चातुर्मास होता है, वहाँ रहकर आहारदान

का पुण्य अर्जित करते हैं। ७२ वर्ष की उम्र में भी आप किंचित् भी प्रमाद किए बिना संयम व त्यागमार्ग पर अग्रसर हैं। विशाल व सम्पन्न परिवार के होते हुए भी आप में ममत्व या अहंकार नहीं है।

जनसेवा के कार्यों में भी आप सदैव अग्रणी रहते हैं। पाँचवा में पानी की टंकी (सार्वजनिक) का निर्माण आपने करवाया है। गत ४० वर्षों से चल रहे श्री सन्मति दि० जैन धर्मार्थ औषधालय में भी आपकी सहायता सराहनीय है। स्कूल में भी आपने कुछ कमरों का निर्माण करवाया है। कबूतर निवास में भी आपका स्तुत्य सहयोग रहा है। अस्पताल भी आपने बनवाया है जो जन-जन की सेवा कर रहा है। अपनी उदारता व परोपकारभावना के कारण आप पाँचवा में सबके श्रद्धास्पद हैं।

आत्महित एवं धर्मप्रभावना हेतु किए गए आपके प्रयास सराहनीय हैं। हमारी यही भावना है कि आप और आपके कुटुम्बी-जन निरन्तर धर्मप्रभावना में रत रह कर आत्मकल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ते रहें।

—जीवणराम छाबड़ा; मंत्री, दि० जैन समाज, पाँचवा

श्रीयुत नथमलजी पाटोदी, कोछोर (सीकर)

कोछोरनिवासी और कलकत्ताप्रवासी ५० वर्षीय श्रीयुत नथमलजी पाटोदी एवं उनके परिवार की धार्मिक रुचि अत्यधिक प्रशंसनीय है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती मणिबाई अत्यन्त भद्रपरिणामी, पतिव्रत-परायणा एवं अतिशय धर्मानुरागिनी है। आपको ये धार्मिक संस्कार अपने पिता श्रीमान् सेठ भंवरलालजी पाटनी (लाडनूं) से प्राप्त हुए हैं जो धर्म-कार्यों में सदा अग्रसर रहते हैं।

श्रीयुत नथमलजी पाटोदी की धर्मनिष्ठा, सादगी और परोपकार-भावना से कोछोर का जन-जन मन्त्रमुग्ध है। आपने कोछोर ग्राम में सार्वजनिक सेवा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किए हैं।

पाँचवानिवासी ब्र० सेठ चतुर्भुजजी अजमेरा और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती धापूबाई पूज्य क्षुल्लकजी के साथ

आपके दादाजी श्री दयालबग्सजी, पिताजी श्री गौरीलालजी व चाचाजी श्री मोहरीलालजी की भी लोकसेवा के कार्यों में बड़ी रुचि रही है। आपकी दादीजी श्रीमती मलखूदेवी बड़ी सरल स्वभाववाली और पुण्यात्मा महिला थी। कोछोर में उनके नाम से श्रीमती मलखूदेवी अस्पताल चल रहा है। अस्पताल बनवाने में आपने खुले दिल से धन लगाया था। आपकी माताजी के नाम से श्रीमती इचरजदेवी जैन कन्या पाठशाला चल रही है। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक धर्मशाला, कुए व विश्रामघर आदि का निर्माण भी आपके द्वारा हुआ है। बाजार के मध्य में सार्वजनिक उपयोग के लिए पानी की टंकी व प्याऊ का निर्माण भी आपने करवाया है। इस प्रकार जनसेवा के कार्यों में आप तन-मन-धन सब प्रकार से भरपूर सहयोग करते हैं। यही कारण है कि कोछोर में आप सर्वप्रिय नगरसेठ माने जाते हैं। आपका कारोबार कलकत्ता नगर में फर्म श्री मोहरीलाल नथमल के नाम से होता है।

आपकी धर्मनिष्ठा और परोपकार की भावना सतत बनी रहे, यही कामना है।

—शिखरचन्द गंगवाल
मंत्री, दि० जैन समाज, कोछोर

प्रकाशकीय

जून १९७८ के अन्तिम सप्ताह में कार्यवशात् कुचामन सिटी जाना हुआ। वहाँ उन दिनों पूज्य १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागरजी विराज रहे थे। मध्याह्न में दर्शनार्थ पहुंचा तो मन्दिरजी के द्वार पर ही एक परिचित ने कह दिया कि 'महाराज श्री आपकी प्रतीक्षा ही करते थे'। इस प्रतीक्षा के कारण पर विचार करता हुआ जब मैं दर्शनार्थ पहुंचा तो वहाँ महाराजश्री के साथ पं० विद्याकुमारजी सेठी, श्री गिरधारीलालजी अग्रवाल, मंत्री, चन्द्रसागर स्मारक लाडनूं और श्री जंवरीमलजी संचालक, तापड़िया प्रिण्टर्स, जोधपुर को किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श करते देखा। पूज्य क्षुल्लकजी को इच्छामि निवेदन करने के बाद अन्य आसीन महानुभावों को सविनय जयजिनेन्द्र कहकर मैं भी वहीं बैठ गया तो महाराजश्री बोले— "पुण्य-कार्य में सब निमित्त स्वतः हो आ जुटते हैं। लो, ये चेतनजी भी आ गए।" मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था तो महाराजश्री बोले— "मानव-मार्गदर्शन-तृतीय भाग के मुद्रण के विषय में चर्चा चल रही है। ग्रन्थ का मुद्रण जोधपुर में होगा और तुम जोधपुर में रहते हो अतः इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व तुम सँभालो।" बिना किसी पृष्ठभूमि के इस अप्रत्याशित आदेश से हतप्रभ हुआ मैं कुछ कहता, इससे पूर्व ही श्रद्धेय पण्डितजी ने महाराजश्री के कथन का समर्थन कर दिया और श्री गिरधारीलालजी व श्री जंवरीमलजी एक साथ बोले कि "इनके उत्तरदायित्व ले लेने से प्रेस को बड़ी सुविधा रहेगी। काम शीघ्रता से हो सकेगा।" सामने चौकी पर पाण्डुलिपि के १० रजिस्टर रखे थे– लगभग ४०० पृष्ठ। उन दिनों लेखन-प्रकाशन से सम्बन्धित तीन चार और भी काम मेरे हाथ में थे, फिर विश्वविद्यालय के कार्य के बाद इस विशाल ग्रन्थ के लिए समय निकाल पाना मुझे कुछ कठिन लग रहा था क्योंकि लम्बे अवकाश में भी मैं जोधपुर नहीं रहता, आचार्यकल्प पू० श्रुतसागरजी के संघ में चला जाता हूं अतः नियमित काम चालू रख पाना भी मुझे सम्भव नहीं दिख रहा था। मैं किंकर्त्तव्य-

विमूढ़ता में पड़ा था तभी मेरी स्वीकृति में विलम्ब होते देख पूज्य क्षुल्लकजी पुनः बोले— "इतना सोचना क्या, जैसे भी हो इस कार्य को तुम सँभालो और पूरा करो।" अपनी सीमाओं से अवगत होते हुए भी पूज्य क्षुल्लकजी के आत्मीयतापूर्ण आदेश की अवहेलना करने का साहस मैं नहीं कर सका, उनके चरणों में नतमस्तक हो मैंने अपनी मौन स्वीकृति दी और दूसरे दिन आवश्यक निर्देश प्राप्तकर सारी पाण्डु-लिपि अपने साथ जोधपुर ले आया।

देवशास्त्रगुरु का स्मरण कर मैंने पाण्डुलिपि-वाचन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। वाचन करते हुए उसे उपयुक्त प्रेसकापी का रूप देकर मैं प्रेस को देता गया। जुलाई '७८ के द्वितीय सप्ताह में मुद्रणकार्य आरम्भ हुआ जो पूज्य क्षुल्लकजी के आशीर्वाद से जनवरी १९७९ में पूरा हो सका। इन सात महीनों में दशहरा-दीपावली अवकाश, शरद्-अवकाश तथा पूज्य पिताश्री १०८ श्री समतासागरजी महाराज के आकस्मिक देहविलय के कारण मैं जोधपुर से बाहर रहा फलतः इन दिनों काम रुका रहा और एक डेढ़ माह का विलम्ब हुआ, अन्यथा यह ग्रन्थ दिसम्बर १९७८ में ही आपके हाथों में पहुंच जाता। इस विलम्ब के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

प्रस्तुत कृति मानव-मार्गदर्शन-भाग ३, श्री कुलभद्राचार्य विरचित ३२८ श्लोकों का 'सार समुच्चय' ग्रन्थ है जिसका सरल हिन्दी भाषा में विस्तृत विवेचन पूज्य क्षुल्लकजी ने किया है। यों तो यह ग्रन्थ पूर्वप्रकाशित है, इस पर ब्र० शीतलप्रसादजी की हिन्दी टीका भी सुलभ है तथापि संस्कृतश्लोकों का हिन्दी में विशेषार्थ लिखकर पू० क्षुल्लकजी ने सामान्यरुचि के पाठकों के लिए तत्त्वज्ञान में प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त किया है। ग्रन्थ यथा नाम तथा गुण वाला है। इसकी श्रेष्ठता का अनुमान इसकी विषयसूची को देखकर लगाया जा सकता है, लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषय—तत्त्वविवेचन, संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति, नीति, निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण, रत्नत्रय, ध्यान, तपश्चरण, चतुर्गतिदुःख, आचारादि— इसमें सम्मिलित हुए हैं। पूज्य

कुलभद्राचार्य ने वस्तुतः जिनवाणी का सार ही समुच्चयरूप में यहाँ प्रस्तुत कर दिया है। पूज्य क्षुल्लकजी ने अपनी प्रतिभा से इसे सरल हिन्दी में प्रस्तुत कर एक नवीनरूप दिया है। जो लोग इस ग्रन्थ का पहले स्वाध्याय कर चुके हैं, वे भी यदि प्रस्तुत कृति का स्वाध्याय करेंगे तो इसके नवीनरूप से अत्यधिक लाभान्वित होंगे।

पूज्य क्षुल्लकजी कृत विद्वत्तापूर्ण विवेचन को पढ़कर यह विश्वास दृढ़ होता है कि संयम एवं तपश्चरण से निश्चय ही कई अद्भुत शक्तियाँ और क्षमताएँ आत्मा में प्रकट हो जाती हैं। विधिवत् शिक्षण अत्यल्प होने पर भी साधु-संगति तथा स्वाध्याय के बल पर पू० क्षुल्लकजी ने विशेष ज्ञानार्जन किया है जिसकी साक्षी उनकी कृतियाँ— मानवमार्ग-दर्शन-भाग १, २, ३ हैं। शरीर से रुग्ण होते हुए भी आप यथाशक्ति अध्ययन-लेखन में जुटे रहते हैं। आपकी भावना यही रहती है कि जिनवाणी का घर-घर में प्रचार हो, ऐसी कृतियाँ निःशुल्क वितरित की जावें जो सरल भाषा में सहज बोधगम्य हों तथा जिनका स्वाध्याय कर आबालवृद्ध सभी जन सदाचार की ओर प्रवृत्त हों। आपकी कृतियाँ इस उद्देश्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त कर रही हैं। पुस्तक के पृष्ठभाग में मुद्रित विविध अभिमत इसके साक्षी हैं। प्रस्तुत कृति भी उसी शृङ्खला की एक कड़ी है।

पूज्य क्षुल्लकजी में जटिल और गूढ़ विषय को भी सरल बनाने की अद्भुत कला है। जिनको उनका प्रवचन सुनने का अवसर मिला है, वे उनकी इस कला से परिचित होंगे। आपके प्रवचन में गम्भीरता और रोचकता, दुलार और डाँट-फटकार, निकटता और दूरी तथा सरलता और जटिलता का आनुपातिक सम्यक् सम्मिश्रण रहता है; साथ ही गूढ़ता को स्पष्ट करने के लिए आप विशेष लहजे में बोलचाल के क्षेत्रीय शब्दों का भी सटीक प्रयोग करते हैं जिनसे भाव बिल्कुल ग्राह्य हो जाता है। प्रवचन और लेखन में थोड़ा अन्तर होता है परन्तु मैंने पूज्य क्षुल्लकजी की इस कला को प्रस्तुत कृति में ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न किया है। यथावसर पाठक इसे पढ़कर मुग्ध होंगे।

अस्वस्थ होते हुए भी पुस्तक की रचना करने में जो श्रम पूज्य महाराज ने किया है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। आपने जिस विश्वास के साथ इस वृहत् कृति के निर्दोष प्रकाशन का गुरुतर उत्तरदायित्व मेरे निर्बल कन्धों पर डाला था उसका निर्वाह मैं कहाँ तक कर सका हूँ, इसके निर्णय के अधिकारी या तो पूज्य महाराजश्री ही हैं या फिर आप पाठकगण। पूज्य महाराजश्री ने विशेष अनुग्रह करके मुझे जिनवाणी की समाराधना का जो सुअवसर प्रदान किया उसके लिए मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

श्रद्धेय पण्डित श्री विद्याकुमारजी सेठी का भी मैं विशेष आभारी हूँ। उनका वात्सल्यपूर्ण वरद हस्त सदैव मेरे सिर पर रहा है।

भाई श्री गिरधारीलालजी के प्रति अपना आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ? कागज की खरीद से लेकर पुस्तक के वितरण तक के सभी छोटे बड़े काम वे ही सम्पन्न करते हैं, जिनवाणी के प्रति उनकी यह सेवा स्तुत्य है। मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जिन सज्जनों की ओर से पुस्तकप्रकाशन का व्यय-भार वहन किया गया है, वे अतिशय धन्यवाद के पात्र हैं।

स्नेही बन्धुवर श्री जंवरीमलजी, श्री कँवरलालजी तापड़िया, संचालक, तापड़िया प्रिण्टर्स, अक्षरसंयोजक श्री सिमरथरामजी चौधरी तथा मुद्रक श्री नूरअलीजी को मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ? इन सबकी सहृदयतापूर्ण तत्परता के बिना पुस्तक अपना वर्तमान रूप धारण ही नहीं कर पाती। मैं इन सबका अत्यन्त आभारी हूँ।

अन्तमें, पुस्तक में अज्ञान व प्रमादवश रही त्रुटियों और मुद्रणकार्य में हुए विलम्ब के लिए मैं विद्वज्जनों से क्षमायाचना करता हूं तथा पूज्य क्षुल्लकजी महाराज से यह आशा रखता हूं कि वे इसी प्रकार श्रुताराधना करते रहेंगे और अनेकानेक जीवों के कल्याण में निमित्त बनेंगे।

जोधपुर, विनीत :

२६ जनवरी, १९७९ डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

*

卐 चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तवन 卐

जिनधर्म और जिनराज की, जय बोलो, बोलो, बोलो।
श्री चौबीसों भगवान की, जय बोलो, बोलो, बोलो ॥

ऋषभनाथ जिनधर्म बताया, अजितनाथ रिपु मोह हराया।
सम्भव भवदु:ख दूर भगाया, अभिनन्दन आनन्द बढ़ाया ॥
कर्मजयी जिनराज की, जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ १ ॥

सुमति, पद्म शिवपद के दाता, श्रीसुपार्श्व भव-फन्द मिटाता।
चन्द्रप्रभु जब मन में आता, समन्तभद्र तब माथ नवाता ॥
पुष्पदन्त सुखकार की, जय बोलो, बोलो बोलो ॥ २ ॥

शीतलनाथ, श्रेयांस महन्ता, वासुपूज्य हैं जग-पूजन्ता।
विमल विमलपद निर्मल दाता, अनन्तनाथ है जगविख्याता ॥
धर्मनाथ भगवान की, जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ ३ ॥

शान्ति, कुन्थु प्रभु सुख के दाता, अर मल्लि हैं जग के त्राता।
मुनिसुव्रत व्रत ग्रहण करन्ता; नमि, नेमी वैराग्य धरन्ता ॥
वीतराग भगवान की, जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ ४ ॥

पार्श्वनाथ आतम-तप धरता; कमठ दुष्ट उपसर्ग है करता।
महावीर पशु-यज्ञ हटाता, विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाता ॥
वर्धमान जिनराज की, जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ ५ ॥

ऋषभ आदि महावीर जिनेश्वर, वीतराग सर्वज्ञ जगेश्वर।
ये ही हैं सच्चे परमेश्वर, सिद्धसागर नमो नमोस्तु जिनेश्वर ॥
विश्व-धर्म सरताज की, जय बोलो, बोलो, बोलो ॥ ६ ॥

卐 सब ठाठ पड़ा रह जाएगा 卐

सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब लाद चलेगा बंजारा ।
यह पुत्र-कलत्र-कुटुम्बीजन, कोई काम न तेरे आएगा ॥
क्यों भूल रहा इन पर इतना, तू चेत तभी कल पाएगा ॥१॥

ये दो दिन के सब साथी हैं; तू हंस अकेला जाएगा ।
इस पुण्य-पाप की गठरी का, तू इकला बोझ उठाएगा ॥२॥

इसलिए चेत रे मूरख चेतन ! क्यों नाहक भरमाया है ।
इस दो दिन की ज़िन्दगानी पर, तू इतना क्यों इठलाया है ॥३॥

ये तन-धन-यौवन-रूप-विभव, सबही इक दिन मिट जाना है ।
क्यों इन पर इतना करे गरब, ये कर्मों का अफसाना है ॥
तू निरख अरे ! निज चेतन को, जो काम आएगा सदा तेरे ॥४॥

इस जगत् जाल में क्या रक्खा, यह भूलभुलैया सभी अरे ।
मत करे सोच इन परिजन का, ये काम न आएगे तेरे ॥
तू बोएगा सो काटेगा; ये सब बटमार तेरे नेरे ॥५॥

जिस दिन यहाँ से तू करे कूच, ये सभी गैल में छोड़ेंगे ।
यह गौन तेरी जो भरी पड़ो, इसके बाँटन-हित दौड़ेंगे ॥६॥

फिर नाम कोई न ले तेरा, मुख तेरे से सब मोड़ेंगे ।
जग की है यही रीति चेतन ! ये इसे भला क्यों तोड़ेंगे ॥७॥

तू चला यहाँ से कर खाली, तब सगे जो कहलाते तेरे ।
मन में हँस रहे तेरी पूँजी के, लालचवश आए नेरे ॥८॥

जिस गृहिणी-पुत्र-कलत्र आदि को, अपना है तू मान रहा ।
ये कारागृह की बेड़ी हैं, जिन पर इतना दे ध्यान रहा ॥९॥

सोया बहु 'चक्र' नींद त्यागो, आतम के हित पागो जागो ।
इस स्वप्नदशा से निकल, रूप निज निरखो याके हित पागो ॥१०॥

कहते हैं गुरु सुन रे भविजन !, अजहूं न जगे तो फिर न जगे ।
ये आखिर तोकों दाव मिलौ, हित आतम के तू क्यों न पगे ॥११॥

※ मंगल स्तवन ※

रचयिता–
पण्डितरत्न न्यायालंकार श्री मक्खनलालजी शास्त्री

卐

सुध्यान में लवलीन हो, जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञ बोध, विरागता को, पा लिया तब आपने॥
उपदेश दे हितकर अनेकों, भव्य निज सम कर लिए।
रवि ज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये॥

(वीर स्तवन)

卐

स्याद्वाद नय षट् द्रव्य गुण, पर्याय और प्रमाण का।
जड़-कर्म चेतन बन्ध का, अरु कर्म के अवसान का॥
कह कर स्वरूप यथार्थ जग का, जो किया उपकार है।
उसके लिए जिनवाणि! तुमको, वन्दना शत बार है॥

(जिनवाणी स्तवन)

卐

धरि कवच संयम, उग्र ध्यान, कठोर असि निज हाथ ले।
व्रत, समिति, गुप्ति, सुधर्म भावन, वीर भट भी साथ ले॥
परचक्र-राग-द्वेष हनि, स्वातन्त्र्य निधि पाते हुए।
वे स्व-पर तारक गुरु-तपोनिधि, मुक्तिपथ जाते हुए॥

(गुरु स्तवन)

अनुक्रम

॥ श्रीमहावीराय नमः ॥

卐 मानव-मार्गदर्शन 卐

(तृतीय भाग)

मंगलाचरण

श्री आदि-वीर जिनेन्द्र को, बार-बार शिर नाय।
संग्रह मानव-मार्ग का, करूं स्व-पर सुखदाय ॥

卐

॥ श्रीजिनाय नमः ॥

मंगलाचरण

देवदेवं जिनं नत्वा, भवोद्भवविनाशनम् ।
वक्ष्येऽहं देशनां कांचिन्मतिहीनोऽपि भक्तितः ॥१॥

अर्थ :– ग्रन्थकर्त्ता आचार्य कुलभद्र ने प्रारम्भ में ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु मंगलाचरण करके धर्मोपदेश लिखने की प्रतिज्ञा की है। वह निम्न प्रकार है :—

बुद्धि में अल्प होने पर भी मैं, संसार के जन्म को नाश करने वाले देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र भगवान् को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके कुछ उपदेश को कहूँगा।

विशेषार्थ:– संसार में पूजने योग्य देव वही है जिसने अपनी आत्मा के रागद्वेषादि व अज्ञानादि शत्रुओं को जीत लिया हो और अरहंत तथा सिद्ध पद प्राप्त कर लिया हो। जिनकी आत्मा कर्मकलंक रहित शुद्ध हो गई हो ऐसे देवों की भक्ति उन्हें प्रसन्न करने के लिये नहीं की जाती है, परन्तु उच्च आदर्श के स्मरण से भव्यजीवों के भाव विशुद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। देखो ! इस अथाह संसार समुद्र में भटकता हुआ अज्ञानी प्राणी भी भगवद्भक्ति से आत्मरुचि को प्रकट कर स्वाधीन सुख को प्राप्त कर लेता है तब उसे संसार त्यागने योग्य व मोक्ष ग्रहण करने योग्य भासने लगता है इसलिये भक्ति की जाती है।

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः, प्रसादात् परमेष्ठिनः ।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं, शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥

आप्तपरीक्षा में ठीक ही वर्णन किया गया है कि पंच परमेष्ठियों की कृपा से कल्याणों की सिद्धि होती है, इसीलिये शास्त्र की आदि में आचार्य मंगलाचरण करते हैं। कुछ भी हो वीतराग होने पर भी प्रभु के गुणों का रुचिपूर्वक स्मरण करने से जीवों के परिणामों में निर्मलता आती ही है। "तुम गुण चिन्तत निज-पर विवेक, प्रकटे विघटे आपद अनेक।" फलस्वरूप सुबुद्धि की प्राप्ति होने से, आगे वर्णन किये जाने वाले सभी उपदेशों की धारणा हो सकती है।

१. आत्महित की आवश्यकता

संसारे पर्यटन् जंतु, र्बहुयोनिसमाकुले ।
शारीरं मानसं दुःखं, प्राप्नोति बत दारुणम् ॥ २ ॥

अर्थ :—अनेक योनियों से भरे हुए इस संसार में भ्रमण करता हुआ प्राणी, शरीर सम्बन्धी तथा मन सम्बन्धी भयंकर दुःखों को भोगता ही रहता है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

विशेषार्थः—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति की ८४ लाख योनियां हैं। इनमें यह संसारी प्राणी अपने २ बांधे हुए पाप व पुण्यकर्मों के फल से आत्मज्ञान को न पाकर, आत्मानंद की रुचि न प्रकट कर, मात्र पंचेन्द्रिय के विषय सुख में अन्धा होता हुआ, तीव्र मोह एवं राग-द्वेष के कारण असहनीय दुःखों को भोगता है।

(१) नरकगति के भीतर छेदन भेदनादि के घोर दुःख हैं। (२) तिर्यंचगति में भी छेदन-भेदन, भूख-प्यास, भार वहन, हिम, आतप, वध-बन्धन के घोर कष्ट हैं। (३) मनुष्य गति में रोगादि इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, तथा तृष्णा की दाह के असह्य दुःख हैं। (४) देवगति में ईर्ष्या, शोक व तृष्णा का अपार कष्ट है। इस प्रकार चारों ही गतियों में शारीरिक व मानसिक दुःख होते हैं।

देखो ! बड़े २ पुण्यात्मा देवों को तथा मनुष्यों को सब प्रकार की सामग्रियों का साधन होते हुए भी वे तृष्णा की ज्वाला में असह्य मानसिक दुःखों को भोगते ही रहते हैं; वे अज्ञानवश पांचों इन्द्रियों के सुखों को ही सुख मानते हैं; ऐसे अज्ञानी जीवों को आत्मानंद के सच्चे सुख का भान तक नहीं होता; वे चाह की दाह में सदा जलते ही रहते हैं। वास्तव में भोगों को जितना २ भोगा जाता है उतनी २ इच्छायें बढ़ती जाती हैं। (१) मन मुताबिक सामग्रियों के न मिलने का दुःख (२) समय पर न मिलकर देर से मिलने का दुःख (३) मिली हुई सामग्रियों के संरक्षण का दुःख (४) उनके वियोग होने का दुःख सदा बना हो रहता है। जो प्राणी इस असार संसार के क्षणिक सुखों का दास है उसे इस संसार के शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। मोह में अंधा प्राणी, मरण-काल आया, जानकर भारी संक्लेश करता हुआ महान् दुःखी हो जाता है।

खेद की बात है कि यह आत्मा ज्ञान दर्शन का पुंज होते हुए भी अपने अनंत आनंद को नहीं पहचानता हुआ अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्मों की संगति में अपने को ऐसा भूल गया है कि आत्म-स्वभाव की इसे सुध तक नहीं है। जिस पर्याय में जाता है उसी में आसक्त होकर, बावला सा होकर यद्वा तद्वा क्रियायें करता रहता है, बार बार जन्म-मरण का दुःख उठाता रहता है; अपने ही अज्ञान के कारण घोर आपत्तियाँ सहता रहता है, परन्तु आत्महित की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता। अधिक कहाँ तक कहा जाय यह अज्ञानी प्राणी मोह रूपी मदिरा पीने के कारण उन्मत्त होकर अज्ञानवश वास्तविक आनन्द से वंचित रहता है।

जिस प्रकार एक कुत्ता सूखी हड्डी के टुकड़े को अपनी दाढ़ में धर चबाता है और अपने मुख से निकलने वाले रक्त को चाटकर कुछ क्षण के लिये आनन्द का अनुभव करता है पश्चात् अपनी अज्ञ चेष्टा के कारण व्यथित होकर चीखा करता है, उसी प्रकार भोगों में कृत्रिम एवं क्षणिक सुख की झलक देख, अनात्मज्ञ प्राणी मस्त होकर अपने आपको भूल जाता है और अपने स्वाभाविक आनन्द, शक्ति तथा स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है तथा विरुद्ध प्रवृत्ति करने

के कारण दीन-हीन बन जाता है। प्राणी यदि चाहे तो संसार के चतुर्गति सम्बन्धी दुःखों से छुटकारा पाकर स्थायी सुख को प्राप्त कर सकता है अतः मानव का प्रधान कर्त्तव्य है कि वह प्रमाद को छोड़े और संयम का अवलंबन लेकर निज स्वरूप में विचरण करे।

आर्त्तध्यानरतो मूढो, न करोत्यात्मनो हितम् ।
तेनाऽसौ सुमहत् क्लेशं, परत्रेह च गच्छति ॥ ३ ॥

अर्थः– आर्त्तध्यान में लवलीन मूढ प्राणी मोह तथा मिथ्यात्व के कारण अपनी आत्मा का भला नहीं करता है इसी कारण से वह इस लोक सम्बन्धी व परलोक सम्बन्धी दारुण दुःखों को प्राप्त करता है।

विशेषार्थः– जिसको अपने आत्मस्वरूप का विश्वास नहीं है; जो केवल इन्द्रियसुख को ही सुख मानता है; वह रात दिन पंचेन्द्रिय-विषय-भोगों के पीछे दौड़ता है और उन विषय-भोगों की वांछा से आर्त्त ध्यान में फंसा रहता है। जीव की इच्छानुसार इष्ट पदार्थों का संयोग न होने पर अथवा अनिष्ट पदार्थों के संयोग हो जाने पर जो दुःख होता है उसको आचार्यों ने इष्ट-वियोगज तथा अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहा है। शरीर में रोगादि होने पर जो संक्लेश होता है उसे पीडा-चिंतवन नामका आर्त्तध्यान कहा है; आगामी भोग सामग्री मिलने की लालसा को निदान नामका आर्त्तध्यान कहा है।

उपर्युक्त क्लेशकारी भावों से प्राणी इस लोक में दुःखमय जीवन बिताता है तथा दुर्गति में जाकर तीव्र दुःख पाता है इस प्रकार अज्ञानी मोहान्ध प्राणी अपनी आत्मा का हित नहीं कर पाता है तथा अपने मानव-जन्म को वृथा खोकर आत्मोन्नति के एक अपूर्व साधन से चूक जाता है। देखो ! कैसी विचित्र बात है कि यह मोही प्राणी, अनंत अनात्म पदार्थों की ओर चक्कर मारता है तथा दौड़-धूप करके उन्हें अपना बनाना चाहता है, अर्थात् वैभाविक कार्यों को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करता है और साधना के सच्चे मार्गरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि को भाररूप अनुभव करता

है, सांसारिकता में आकण्ठ मग्न रहता है, व्यापारादि के लेन-देन में प्रातः शीघ्र ही उठता है और रात्रि में देर से सोता है इस प्रकार अपनी शक्ति को नष्ट करता है परन्तु आत्महित के लिए प्रयत्न नहीं करता है; वास्तव में संसार-परिभ्रमण का कारण शरीरादि में आत्म-भावना करना ही है, इसी को आचार्यों ने दूसरे शब्दों में आर्त्तध्यान कहा है; इसी से संसार की परिपाटी सदा चलती रहती है।

ज्ञानभावनया जीवो, लभते हितमात्मनः।
विनयाचारसम्पन्नो, विषयेषु पराङ्मुखः॥ ४॥

अर्थ :– विनय तथा आचरण से सम्पन्न एवं पञ्चेन्द्रियों के विषयों से उदासीन जीव सम्यग्ज्ञान की भावना करने से आत्मा का हित कर सकता है।

विशेषार्थ :– जो मानव देव, शास्त्र व गुरु तथा धर्म में आदर सहित भक्ति रखता है, शक्ति के अनुसार धर्म का आचरण करता है, मुनि व श्रावक के व्रतों का पालन करता है, साथ ही जिसके मन में यह वैराग्य आ गया है कि इन्द्रियों का सुख सच्चा सुख नहीं है, यह जीव के लिये विष के समान हानिकर है, ऐसा ही ज्ञानी सदा इस प्रकार का चिन्तन करता रहता है कि मैं निश्चय से सिद्ध भगवान के समान ज्ञाता, द्रष्टा, आनंदमय, वीतराग आत्मा हूं, कर्म का संयोग और शरीरादि मुझसे सदा भिन्न हैं। इसी उपाय से सच्चा सुख अनुभव में आता है और कर्म मल सदा के लिये छूट सकता है।

वास्तव में, आत्मदृष्टि के वैभव से सम्पन्न साधक के पास किसी प्रकार की भीति नहीं रहती; उसकी दृष्टि तो सदा अमर-जीवन और अविनाशी आनंद की ओर लगी रहती है; उसकी श्रद्धा में यह बात टंकोत्कीर्ण सी हो जाती है कि मेरी आत्मा एक है, ज्ञान-दर्शन समन्वित है, बाकी के सब बाह्य पदार्थ हैं अर्थात् ये सब संयोग लक्षण वाले हैं, आत्म-स्वरूप नहीं हैं। जब ऐसे उज्ज्वल विचार आत्मा में स्थान बना लेते हैं तब मृत्यु से भेंट कराने वाली मुसीबत भी उस ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा को संतप्त नहीं कर पाती; उसका तो

यह अखण्ड विश्वास है कि मेरी आत्मा, जन्म-जरा-मृत्यु आदि की आपदाओं से परे है; इनका खेल शरीर अथवा जड़-पदार्थों तक ही सीमित है अर्थात् आत्म-विश्वासी प्राणी सोचता है कि जब मेरी मृत्यु नहीं है तब भय किस बात का! जब मेरी आत्मा रोगमुक्त है तब व्यथा किस बात की! वास्तव में न तो मैं बालक हूं, न वृद्ध हूँ और न तरुण ही हूँ यह सब पुद्गल का खेल है; मैं तो एकमात्र ज्ञाता द्रष्टा हूँ, अविनाशी हूँ; आनन्द स्वरूप हूँ, इस प्रकार आत्म-साधक प्रतिसमय आत्मोन्नति के साधन में मग्न रहता है।

आत्मानं भावयेन्नित्यं, ज्ञानेन विनयेन च।
मा पुनर्म्रियमाणस्य, पश्चात्तापो भविष्यति ॥५॥

अर्थः– सम्यग्ज्ञान और विनयपूर्वक सदा अपने आत्मा की भावना करनी चाहिये, नहीं तो मरने के बाद संताप अवश्य होगा।

विशेषार्थः– जो प्रमादी संसार, शरीर और भोगों में मोहित होकर आत्म-हित के कार्य को नहीं करेगा, वह आत्मा को निरन्तर पाप-बंध से मलिन करता हुआ, अन्त में मरकर नरक व पशु गति में जाएगा और महान् कष्ट भोगेगा, अतः बुद्धिमान् मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह निरन्तर बड़े प्रेम से भेद-विज्ञान सहित अपनी शुद्ध आत्मा का बार-बार मनन करे। श्री जिनेन्द्र की भक्ति द्वारा, शास्त्र-स्वाध्याय द्वारा, गुरु के उपदेश-श्रवण द्वारा, सामायिक व ध्यान द्वारा शुद्ध स्वरूप का मनन व अनुभव करे, यही आत्मा के हित का कार्य है। यथार्थ में, मोहरूप अंधकार के दूर होने पर दर्शन शक्ति को प्राप्त होने वाला तत्त्वज्ञानी सत्पुरुष राग - द्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को धारण करता है, क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहरूप पाप के कारणों के होते हुए आत्मा में निर्मलता नहीं आ सकती।

पापों का सम्पूर्ण परित्याग को आचार्यों ने पूर्ण चारित्र कहा है। हिंसा आदि पापों का पूर्णतया परित्याग करने में असमर्थ प्राथमिक साधक के लिये उनका आंशिक परित्याग आवश्यक है। इस प्रकार विशुद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति

हुए बिना, आत्म-शक्ति और विभूति की चर्चा, मात्र काल्पनिक लड्डू उड़ाने जैसी बात है, लेकिन मन-मोदक से भूख नहीं मिट सकती। आत्मा में अनादि काल से लगी हुई कालिमा को सम्यक्चारित्र द्वारा निकालकर उसे निर्मल बनाना होगा। खेद है कि आज का भोग-प्रधान मानव कोरे ज्ञान के गीत गा गा कर या सुन सुन कर, आनंद विभोर होकर झूमने लगता है, किन्तु संयमाचरण के बिना यथार्थ आनंद का निर्झर नहीं बहता। अनादि काल से लगी हुई दुर्वासना और विकृति सम्यक्चारित्र का अवलम्बन लिए बिना दूर नहीं हो सकती है।

तथा च सत्तपः कार्यं, ज्ञानसद्भावभावितम् ।
यथा विमलतां याति, चेतो रत्नं सुदुर्धरम् ॥ ६ ॥

अर्थः– कठिनता से प्राप्त होने योग्य यह आत्मा रूपी रत्न जिस तरह से निर्मल हो जावे; उसी तरह से ज्ञानकी यथार्थ भावना करते हुए सच्चा तप करना योग्य है।

विशेषार्थ :– किसी खान में रत्न पाषाण था, उसका मिलना कठिन था। जब हाथ में आ गया तो जौहरी उसको बड़े यत्न से रखकर बड़े भाव व परिश्रम से उसके मैल को दूर करके, उसको चमकता हुआ रत्न बना देता है और अटूट धन कमाता है। वैसे ही आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना बहुत कठिन था। जिस किसी ज्ञानी को आत्मज्ञान रूपी रत्न प्राप्त हो गया तो अब उसका कर्त्तव्य है कि जिस उपाय से यह आत्मा शीघ्र ही कर्म मल से छूटकर शुद्ध हो सके उसी उपाय से इसे शुद्ध करना चाहिये। उपवास, ऊनोदर, रस-परित्याग, एकांत सेवन आदि बारह प्रकार के तपों को अपनी शक्ति को न छिपाकर, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना भाते हुए जिनागम के अनुसार यथार्थ रूप से करते रहना चाहिये, जिससे परिणामों में आनन्द रहे व शरीर की तथा इन्द्रियसुख की आसक्ति दूर हो एवं मन भी वश में रहे।

आंतरिक इच्छाशक्ति तथा कषायों को दमन करते रहने के अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति अवश्य होती है; यही सच्चा तप है। वास्तव में इच्छा

ही दुःख की जननी है अतः मन इच्छाओं से जितना मुक्त होगा उतना ही वह निर्विकल्प होगा। निस्तरंग सागर ही प्रशान्त होगा। यह शत प्रतिशत निर्णयप्राप्त सिद्धांत है कि मानव के मन में उठने वाली सभी इच्छायें न कभी पूरी हुई हैं न कभी होंगी। साधारण मानव तो क्या ? बड़े २ चक्रवर्ती सम्राट और धनकुबेर श्रेष्ठी भी अपनी सभी इच्छाओं को पूरी नहीं कर सके; इतिहास में ऐसे एक दो नहीं, अनेक उदाहरण हैं अस्तु; इच्छाओं से मुक्ति ही दुःख से मुक्ति है। अशान्ति और आकुलता से बचने का एक मात्र उपाय यही है। जो साधन पूर्व पुण्योदय से प्राप्त हैं उन्हीं का निरासक्त भाव से ठीक उपयोग करो; उन्हीं में संतुष्ट रहकर जीवन यात्रा चलाओ; यथार्थ में सबके साथ घुल-मिलकर, आडम्बरहीन जीवन जीना ही मानव जीवन का आदर्श है; इसी में शान्ति है; अनाकुलता है।

मानवों के पोजीशन का चक्र बड़ा भयंकर है; पोजीशन का पागलपन जीवों को बर्बाद ही करता है आबाद नहीं; सच तो यह है कि मानवों की इच्छा के मूल में अपेक्षित यथार्थ आवश्यकता होनी चाहिये; भोग, विलास, आडम्बर, अहङ्कार या पोजीशन आदि नहीं। अतः मन में किसी इच्छा के उत्पन्न होते ही सर्व प्रथम देखो कि क्या वह ठीक है ? क्या वह अपने पड़ोसी के लिये हितकर है ? उसकी पूर्त्ति से मेरा अथवा पड़ोसी का, परिवार का या समाज का कोई अहित तो नहीं है ? बस, कम से कम इतना सा विश्लेषण करो और दृढता के साथ इच्छापूर्त्ति के प्रयत्न में जुट जाओ; इस तरह से आपको कुछ शांति मिलेगी। सारांश यह है कि असंभव एवं अनपेक्षित विकल्पों के अर्थहीन चक्र से बचो।

जीवन धरती है, आकाश नहीं; धरती पर उडा नहीं, चला जाता है, यह ठीक है आप कभी २ दौड़ भी सकते हैं परन्तु याद रखिये, वह भी आंख बंद करके नहीं; आंख खोलकर ही। अतः मोक्षार्थी साधक को उचित है कि वह संयम तथा सदाचरण की अधिक से अधिक समाराधना करे, क्योंकि असंयममय जीवन से आत्मा, स्वस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता; विषयोन्मुख बनने से आत्मा में दैत्य भाव पैदा होते हैं जबकि अपने मन और इंद्रियों को वश में

करने से साधक तीन लोक को वश में करने योग्य, अपूर्व शक्ति का स्वामी बन जाता है। वास्तव में, सदाचरण एवं संयम सदृश साधनों के द्वारा अपनी चित्तवृत्ति एकाग्र करके यह आत्मा एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न करता है; जन्म-जन्मान्तर के समस्त विकार तथा दोषों को नष्ट कर देता है और स्फटिक के सदृश निर्मल हो जाता है; इससे संयम का लोकोत्तरपना स्पष्ट विदित होता है। देखो ! तीर्थङ्कर भगवान का निर्वाण निश्चित होता है फिर भी उन्हें संयम के आश्रय बिना, मुक्ति नहीं मिलती। द्वादशांगरूप जिनेन्द्र-भारती में आचाराङ्ग सूत्र का आद्यस्थान है जिसमें संयम पर विशेष प्रकाश डाला गया है। जैन शासन में संयम की महत्ता सुविदित ही है; यह संयम मनुष्य जीवन की अनुपम विभूति है; जिसे अन्य पर्यायों में पाना संभव नहीं है। संयम विन जीवन सयल सुण्ण।

नृजन्मनः फलं सारं, यदेतज्ज्ञानसेवनम्।
अनिगूहितवीर्यस्य, संयमस्य च धारणम् ॥ ७ ॥

अर्थः– मानव जन्म का यही सार या फल है कि अपनी शक्ति को न छिपाकर संयम को धारण किया जावे और ज्ञान की आराधना की जावे।

विशेषार्थः– मनुष्य-पर्याय की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है। संयम का साधन, उत्तम धर्मध्यान व शुक्लध्यान इसी पर्याय में हो सकता है; नरक, पशु व देवगति में नहीं हो सकता। इसलिये प्राप्त हुए इस अपूर्व अवसर को विषय कषायों में नहीं खोना चाहिये। वास्तव में सफलता तभी होगी जब संयम को धारणकर आत्मानुभव सम्बन्धी अभ्यास किया जायगा। यदि शक्ति हो तो सर्वपरिग्रह का त्याग कर, निर्ग्रन्थ साधु हो, महाव्रतों को पालते हुए आत्म-ध्यान का साधन करना चाहिए। यदि महाव्रतों को धारण करने की शक्ति न हो तो श्रावक के योग्य ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करना चाहिए। जिस दरजे के

लायक चारित्र पालने की शक्ति व योग्यता हो उस दरजे का चारित्र शुद्ध भाव से पालन करना चाहिए; यही मनुष्य पर्याय का सच्चा सार है।

आदर्श चारित्र वाले प्राणी विषय वासनाओं का त्याग कर, आत्मज्ञान को जगाते हुए जयशील होते हैं। सत्पुरुषों के जीवन में अनेक प्रकार के संकट आते रहते हैं परन्तु वे जीवन की ममतावश अनीति का मार्ग ग्रहण नहीं करते। वे सोचते हैं कि आत्मा की रक्षा से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥

प्राणियों को केवल जीवन व्यतीत करने को अधिक मूल्यवान् नहीं मानना चाहिये किन्तु ज्ञान तथा संयमपूर्वक व्यतीत हुए आदर्श जीवन को बहुमूल्य जानना चाहिए; आज का आदर्शच्युत मानव स्वार्थ-साधना को प्रमुख जानकर, विषयान्ध बनता जा रहा है; भले ही वह बाहर से निर्मोही व स्वस्थ सा दिखे किन्तु न जाने कौनसा क्षण, पाप का उदय आने पर, विनाश का उग्र रूप धारण करके इस जीवन को पश्चाताप की अग्नि में जला डाले अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह हर समय विशुद्ध ज्ञान की निर्मलता द्वारा संयम ग्रहण करके मनुष्य-जन्म की सार्थकता प्राप्त करे।

ज्ञानध्यानोपवासैश्च, परीषहजयैस्तथा ।
शीलसंयमयोगैश्च, स्वात्मानं भावयेत् सदा ॥ ८ ॥

अर्थः— शास्त्र-ज्ञान, आत्म-ध्यान तथा उपवास द्वारा; क्षुधा, तृषा आदि परीषह-जय द्वारा तथा शील, संयम एवं योगाभ्यास के द्वारा निरन्तर अपने आत्मा की भावना करनी चाहिए।

विशेषार्थ :— आत्म-हित के लिये उचित है कि आत्मा के मूल शुद्ध स्वरूप का वारवार मनन या अनुभव किया जावे। इस कार्य के लिये

शास्त्रों का तथा ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिये एवं शारीरिक व मानसिक विकारों के शमन के लिये उपवास भी करने चाहिये। ध्यान करते हुए यदि क्षुधा, तृषा, डांस, मच्छर, शीतादि परीषह सहनी पड़े तो शांति से सहनी चाहिए। अपने स्वभाव को शीलवान, शांत, मंदकषायी रखना चाहिए तथा अहिंसादि पांच प्रकार के चारित्रों को पालना चाहिए। इन्द्रियों व मन पर पूर्ण संयम रखना चाहिए तथा नाना प्रकार के आसनों से स्थिर होकर योगाभ्यास करना चाहिये। आत्मा का मूल स्वभाव परम शुद्ध वीतराग ज्ञानानंदमय अमूर्तिक है। सिद्धोऽहं शुद्धोऽहं इस तरह की भावना करनी चाहिए।

वास्तव में वासनादि को छोटा करना ही, आत्मा को बड़ा करना है किन्तु भोगासक्त प्राणी मरते दम तक अपनी वासनाओं को कम करना नहीं चाहता; आचार्यों का कथन है कि मनुष्य-जीवन एक महत्त्वपूर्ण हाट है; यहाँ की विशेष निधि संयम है; जिसने इस बाजार में आकर, संयमरूपी निधि को नहीं खरीदा, उसने अक्षम्य भूल की। प्राथमिक अभ्यासी साधक के लिए संयम का अभ्यास करना जरूरी है; आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि भाई! जो विषय जब तक तुम्हारे सेवन में नहीं आते, कम से कम उतने समय तक के लिये तो उनका परित्याग करो; कदाचित् व्रती अवस्था में तुम्हारी मृत्यु हुई तो दिव्य-जीवन अवश्य मिलेगा। शान्तिपूर्ण और सुखमय जीवन बिताने के लिये आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का परित्याग करना चाहिये; जिससे अनावश्यक पदार्थों के माध्यम द्वारा रागद्वेषादि विकार आत्मा की शान्ति को भंग न कर सकें। साधक अगर चाहे तो अपनी भोगाकांक्षाओं को मंद करके अपना जीवन सुखमय कर सकता है।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो, ध्याने चाध्ययने तथा।
तपसो रक्षणं चैव, यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥ ९ ॥

अर्थः– यदि आत्मा का भला चाहते हो तो ध्यान में और शास्त्र पढ़ने में ज्ञान का अभ्यास निरंतर करते रहो, साथ ही तप की भी रक्षा करो।

विशेषार्थः– आत्म-ज्ञान का अभ्यास ही आत्मा के लिये परम हितकारी है। साधक को चाहिए कि जब तक एकाग्र मन होकर ध्यान हो सके तब तक ध्यान के द्वारा ज्ञानाभ्यास करे, जब ध्यान में मन न लगे तब आध्यात्मिक शास्त्रों को मुख्यता से पढ़े। उपवास, ऊनोदर आदि बारह प्रकार के तपों का भी साधन करता रहे, जिससे इन्द्रियां व मन अपने वश में रहे, कषाय भी शमित हों तथा कष्टों को सहने का अभ्यास भी स्थिर हो सके—

सङ्गत्यागो कषायाणां, निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति, सामग्री ध्यानजन्मनः॥

मुनि नागसेन (तत्त्वानुशासन)

वास्तव में, मन, वचन और काय की एकतापूर्वक यदि संयम धारण किया जाय तो ज्ञान का दीपक अकम्प जल सकता है। जो व्यक्ति इन तीनों को त्रिवेणी-संगम नहीं दे सकता उसके चंचल मन की आंधियाँ ज्ञान दीपक को बुझाने का प्रयत्न करती रहती हैं। सद्-असद् का विवेक ज्ञान द्वारा ही संभव है। देखो! संसार में व्यावहारिक ज्ञान का भी उपयोग करना होता है; माता, भगिनी, पत्नी, सुता इत्यादि के साथ साक्षात्कार होते ही ज्ञानोपयोग से व्यवहार-स्थिरता उत्पन्न होती है, ज्ञानशून्य को पागल कहा जाता है; सच तो यह है कि इस लोक और परलोक में मार्ग-दर्शन कराने वाला ज्ञान ही है। जैसे सूर्य के प्रकाश में सभी पदार्थ दिखाई देते हैं परन्तु अन्धकार में नहीं सूझते, उसी प्रकार ज्ञानबल से भौतिक-आत्मिक विज्ञान की उपलब्धि सुगम हो जाती है; भगवान को भी केवलज्ञान प्राप्त होने से ही मुक्ति की प्राप्ति हुई थी, दिव्यध्वनि सर्वज्ञ की सर्वोत्तम ज्ञान-घन गर्जना ही तो है।

ज्ञानी आत्मा संयम धारण करता हुआ अपनी सच्ची और सुदृढ़ साधनाओं के फल-स्वरूप अनादिकालीन संचित कर्म-राशि को चूर्णकर अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त दर्शन आदि अनुपम विभूतियों का अधिपतित्व प्राप्त करता है; परन्तु खेद है कि मोहरोग से पीड़ित अविवेकी प्राणी विषयभोगों की लालसा से आकर्षित होकर सम्यग्ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण जीवन के महत्त्व को भुलाकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों की तृप्ति को ही अपने जीवन का आदि तथा चरम लक्ष्य समझता है और संसार समुद्र में जन्म-मरणरूपी गोता खाता रहता है अतः प्राणियों का कर्त्तव्य है कि वे शास्त्र-स्वाध्याय के बल से ज्ञानार्जन करें और संयम धारणकर उत्तम ध्यान करते हुए मुक्ति लाभ लेवें।

ज्ञानादित्यो हृदि यस्य, नित्यमुद्योतकारकः।
तस्य निर्मलतां याति, पंचेन्द्रियदिगङ्गना ॥ १० ॥

अर्थः— जिसके मनमें ज्ञानरूपी सूर्य सदा प्रकाशित रहता है, उसकी पांचों इन्द्रियरूपी दिशाएँ (जो सूर्य की स्त्रियाँ मानी जाती हैं) निर्मल रहती हैं अर्थात् निर्विकार रहती हैं।

विशेषार्थः— सूर्य के प्रकाश से दिशाएँ प्रकाशित व निर्मल रहती हैं, उन पर अन्धकार नहीं आता है। सूर्य दिशारूपी स्त्री का पति है क्योंकि दिशा की शोभा सूर्य से होती है, सूर्य के वियोग से दिशा अन्धकारयुक्त मलिन हो जाती है, वैसे ही पांचों इन्द्रियों के विकारों को दूर रखकर उनको शान्त व स्वभाव में काम करने वाली रखने के लिए सम्यग्ज्ञान-रूपी सूर्य के प्रकाश की जरूरत है। आत्मज्ञान और वैराग्य के प्रताप से इन्द्रियां वश में रहती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय ब्रह्मचर्य में, जिह्वा इन्द्रिय रस नीरस भोजन पाकर संतोषमें, नेत्र शास्त्रावलोकन में व निर्विकार भाव के साथ वर्तने में, कर्ण जिनवाणी श्रवण में, नासिका सुगंध-दुर्गन्ध में समभाव रखने में समर्थ होती है। आत्मार्थी को अपने मन को कभी

बेकाम नहीं रखना चाहिए। हर समय आत्मध्यान व शास्त्रज्ञान में लगाये रखना चाहिए।

यथार्थ में स्व-पर विवेक, हेयोपादेय-विज्ञान, आत्मरति तथा परपदार्थों से विरति ज्ञान से होती है; इसी कारण महाव्रती मुनि अभीक्ष्णज्ञानोपयोग में लगे रहते हैं। वास्तव में, आत्मज्ञान ही सर्वोच्च स्थिति है। ध्यानाग्नि में सब कर्म क्षण मात्र में भस्म हो जाते हैं। ज्ञान से संसार के समस्त पदार्थ अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतीत होने लगते हैं; ज्ञानोपयोगी व्यक्ति अज्ञान के अन्धकार में नहीं डूबता; क्योंकि ज्ञानोपयोगरूप सूर्य जिसके अन्तर में उदित होता है उसके अज्ञानरूपी अन्धकार नहीं रहता; ज्ञानोपयोग आत्मशान्ति और निराकुलता उत्पन्न करता है, स्वाध्याय ज्ञानोपयोग का व्यवहार मार्ग है और मैं शुद्ध आत्मा हूँ; आत्मस्वरूप हूँ; यह ज्ञानोपयोग का निश्चय परिणाम है। जैसे ग्रन्थ के अक्षरों को हम अर्थरूप में परिणत करके उपयोगी बना लेते हैं; वैसे ज्ञान से समस्त पदार्थ अपने वास्तविक स्वभाव में प्रतीत होने लगते हैं।

संसार में सर्वत्र यही कहा जाता है कि चारित्र का सुधार करना चाहिए; लेकिन सबसे पहले उस चारित्र का स्वरूप जानना आवश्यक है। यथार्थ में कषायों-क्रोधादि विकारों पर विजय प्राप्त करना ही चारित्र है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, काम, तृष्णा आदि के आधीन होने पर चारित्र का दर्शन तक नहीं होता। ममता का त्याग करने से राग द्वेष आदि दोष दूर होते हैं, अतः समतातत्त्व का प्रेमी ममता का त्याग करे तो कल्याण हो सकता है; स्पृहा-आकांक्षा ही सच्चे सुख की प्राप्ति में बाधक है अतः निस्पृहत्व में ही कल्याण है। ममता विपत्ति का मूल है। समता शान्ति की जननी है।

एतज्ज्ञानफलं नाम, यच्चारित्रोद्यमः सदा।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः साधुसेवापरायणैः ॥ ११ ॥

अर्थ :– ज्ञान पाने का यही फल प्रसिद्ध है कि पापों को त्यागने वाले और साधुओं की सेवा में लीन रहने वाले पुरुषों द्वारा सदैव चारित्र पालने में पुरुषार्थ किया जाना चाहिए।

विशेषार्थ :– शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने की सफलता तभी है जब उस ज्ञान के प्रकाश में पापों को बुरा जानकर छोड़ दिया जावे तथा मन पर अंकुश रखने के लिए साधुओं की सेवामें लीन रहकर उनकी आज्ञाप्रमाण व उनके निरीक्षण में मुनि या श्रावक का चारित्र नित्य निर्मलभाव से पाला जावे तथा अंतरंग में स्वानुभव का प्रकाश किया जावे। चारित्र पाले बिना ज्ञान का होना निष्फल है; आत्मरमण से ही वीतरागता होगी तथा वीतरागता से ही स्वात्मानन्द मिलेगा व कर्ममल दूर होगा।

यथार्थ में, संसार के प्राणियों का जीवन अनेक विपदाओं से भरा हुआ है, इसमें दुःख के अलावा सुख अतिअल्प है, जो ज्ञानवान व्यक्ति इस सत्य को जानकर साम्यभाव से अपने पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप के उदयकाल में शान्त रहता है वही सुखी है अथवा वही मोक्षमार्गी है। जो अपने मन, वचन और काय से आत्मकल्याण हेतु प्रवृत्ति करता है वह सुखी है वही दुःखों से बच सकता है; परन्तु जो अज्ञानी सुख की खोज में बाहरी पर पदार्थों में आनन्द मानते हैं वे मानो दीर्घजीवन के लिये विषपान कर रहे हैं।

सच तो यह है कि सत् आचरण और संतजनों की संगति में शान्ति है तथा समीचीन ज्ञान का अर्जन करने में सुख का निवास है। जो प्राणी आत्मसुख में निमग्न रहता है, उसकी नस-नस में सुख का लहू प्रवाहित होता है; सच पूछो तो सुख किसी दूर नगर का नाम नहीं है, जहाँ रेल या मोटर पहुंचादे, सुख तो अपने ही भीतर भरा हुआ है, जिसे ध्यानस्थ होकर मानव हर जगह प्राप्त कर सकता है; आचार्यों ने बताया है कि सुख, भोग में नहीं योग में है, राग में नहीं त्याग में है। इच्छाओं

में अनन्त दु:ख है, जबकि निरीह जनों को सर्वत्र सुख है। इस प्रकार जब प्राणी भोगों की नि:सारता जान लेता है तब वह सोचता है कि मेरी आत्मा ज्ञान तथा आनन्द का पुंज है इसे परावलम्बन की आवश्यकता नहीं है; इस श्रद्धा से प्रेरित हुआ मानव अपना विशेष स्थान रखता है और आत्महित में उद्यम करता है। अतः मोक्षार्थी प्राणियों को साधना के सच्चे मार्ग में लगना चाहिए; इसके लिए चारित्र धारण कर आत्मा को पवित्र बनाने की अति आवश्यकता है, उस पवित्रता का उदय तत्त्वज्ञानी के ही होता है।

सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य, निभृतेनान्तरात्मना।
ज्ञानामृतं सदा पेयं, चित्ताह्लादनमुत्तमम् ॥ १२ ॥

अर्थ:– अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि को सर्व सांसारिक उपाधियों को त्याग कर निश्चिन्त होकर एकान्त में, चित्त को आनन्द देने वाले श्रेष्ठ ज्ञान रूपी अमृत का सदा पान करना चाहिए।

विशेषार्थ – ज्ञानी सम्यग्दृष्टि का कर्त्तव्य है कि वह अपने मन की आकुलता के कारणभूत सर्व सांसारिक कार्यों का त्याग करदे। यदि सामर्थ्य हो तो सर्व परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ मुनि हो जावे; अन्यथा श्रावक का एकदेश चारित्र ग्रहण करके आरम्भ को त्यागे या घटावे; पूर्ण निश्चिन्त होकर एकान्त स्थान में बैठकर समताभाव के द्वारा शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अनुभव कर। इसी आत्मध्यान के प्रभाव से अपूर्व आनन्द होगा, इस आत्मध्यान के अभ्यास से निरन्तर अपने शुद्ध स्वरूप को देखना चाहिए।

जैनाचार्यों का यह निष्कर्ष है कि आत्मा पृथक् है और पुद्गल पृथक् है, इसके अलावा जो कुछ कथन है सो सारा इसी का स्पष्टीकरण है; अत: आत्महितैषियों को चाहिए कि वे सभी उपायों से पर पदार्थों से ममत्व छोड़कर अपनी ज्योतिर्मय स्थिति को प्राप्त करलें, यही सच्चा

पुरुषार्थ है, इसीसे अनन्त संसार का अन्त होगा। संसार में मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है, उसमें भी मनुष्योचित गुणों का पाना तथा धर्म-बुद्धि होना अतिदुर्लभ है; इनकी प्राप्ति भारी पुण्यशालिता की सूचक है। प्रायः मनुष्य अपने को पाप कार्यों में सरलता से गिरा लेता है क्योंकि पतन का मार्ग ढलान जैसा होता है, उसमें उद्योग की अपेक्षा नहीं होती। जैसे–कुए में प्रवेश करते समय रस्सी को परिश्रम नहीं करना पड़ता, परन्तु जब वह भरी हुई डोल लेकर ऊपर उठती है तब खींचने वाले के प्राण फूल जाते हैं, अथवा पर्वत पर आरोहण करना कितना कठिन प्रतीत होता है, पर नीचे उतरने में उतना कष्ट नहीं होता; उसी प्रकार अपने को पतन की ओर प्रवृत्त करना कठिन नहीं है परन्तु ऊपर उठना भारी कष्टप्रद प्रतीत होता है। जो लोग उत्थान के मार्ग में कष्ट का अनुभव करते हैं वे सिवाय पतन के, और कुछ नहीं कर सकते हैं।

वास्तव में, शरीर से मनुष्य होना अलग बात है और आचरण से मनुष्य होना अलग बात है; आज मनुष्यशरीर तो अतिसंख्या में हैं, परन्तु उनमें आचरण के धारी मनुष्य बहुत अल्प संख्या में हैं।

ज्ञानं नाम महारत्नं, यन्न प्राप्तं कदाचन।
संसारे भ्रमता भीमे, नानादुःख विधायिनी ॥१३॥

अधुना तत्त्वया प्राप्तं, सम्यग्दर्शनसंयुतम्।
प्रमादं मा पुनः कार्षीः, विषयास्वादलालसः ॥१४॥

अर्थः–अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्टों को देने वाले इस भयानक संसार में भ्रमण करते हुए तूने जिस सम्यग्ज्ञान नामके महान् रत्न को कभी नहीं पाया था, अब सम्यग्दर्शन सहित उसे प्राप्त कर लिया है फिर तू पांचों इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध होकर प्रमाद न कर।

विशेषार्थः– अनादि-काल से संसार में भटकते इस आत्मा ने निज-पर के भेद विज्ञान सहित आत्मस्वरूप, बोधि को प्राप्त नहीं किया,

अनन्त जन्म-मरण करते हुए सम्यग्ज्ञान पाने का निमित्त ही नहीं बना; बड़े पुण्य से आर्यखण्ड तथा उत्तम श्रावक कुल में जन्म मिला, इन्द्रियों की पूर्णता हुई; जिनधर्म का समागम मिला, सात तत्त्वों को जाना, परिणामों की शुद्धि हुई, करणलब्धि का लाभ हुआ, अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम हुआ, तब कहीं प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का लाभ हुआ। सम्यग्दर्शन के प्रकाश बिना शास्त्रों के द्वारा तत्त्वों का ठीक ठीक परिज्ञान होने पर भी शुद्ध आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं हो पाती है; सम्यग्दर्शन के प्रकट होते ही सर्व ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! जिस सम्यग्ज्ञान रूपी महान् रत्न को तूने आज तक नहीं पाया था वह अब बड़े भारी पुण्य-योग से तुझे मिल गया है; इस सम्यग्ज्ञान को महान् रत्न की संज्ञा इसीलिए दी है कि तीनलोक की सम्पत्ति भी इसके सामने तुच्छ है; तथा यह रत्न ऐसा प्रकाशशील है कि इसके उजाले में शुद्ध आत्मा भिन्न दिखती है और रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म आदि अपनी आत्मा से बाहर के चेतन व अचेतन समस्त पदार्थ भिन्न दिखते हैं। इसी के प्रकाश से स्वानुभवरूपी सीधे मोक्षमार्ग का पता लगता है, जिस पर चलने से साधक शीघ्र निराकुल मोक्षधाम में पहुंच सकता है और संसार के जन्म, मरण, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोगजनित व तृष्णा की दाह से प्राप्त असहनीय दुःखों से छूट सकता है। ऐसे अपूर्व सम्यग्ज्ञान को पाकर हे आत्मन् ? यदि तू फिर प्रमाद करेगा व निश्चय तथा व्यवहार सम्यक्चारित्र का पालन न करेगा और पांचों इन्द्रियों के भोगों में लुभाकर जीवन बिता देगा तो अन्त में पछताएगा तथा भव-भव में कष्ट उठाएगा और जब याद आएगा तब पछतावा करेगा कि हा ! मैंने उत्तम अवसर को वृथा खो दिया; काचखण्ड के समान विषयसुख के लोभ में रत्न समान आत्मानन्द को फेंक दिया।

यह प्राणी अनादिकाल से 'बहिरात्मा'-आत्म-अनात्म के विवेक से रहित -रहा है; इसलिए उस समय उसकासमस्त आचरण आत्मस्वरूप का

घातक हेय-उपादेय के विचार से रहित होकर—रागद्वेषादि परिपूर्ण रहा है। जब इसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब उसके आचरण में भी परिवर्तन हो जाता है, उस समय इसकी क्रियायें भी (चारित्र) सम्यक्चारित्र के नाम से कही जाती हैं। यद्यपि चारित्रमोहनीय का उदय विद्यमान रहने से वह जब-तब विषयभोगों में प्रवृत्ति करता है, परन्तु वह उन्हें हेय ही समझता है, उनमें आसक्तिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है; उस समय उसकी संज्ञा 'अन्तरात्मा' हो जाती है; यही 'अन्तरात्मा' जब संसार के कारणभूत विषयों से पूर्णतया विरक्त होकर तप-संयम को स्वीकार करता है, तब वह उनके द्वारा संवर और निर्जरा को प्राप्त होता है तथा चार घातिया कर्मों का क्षय करके अर्हन्त-अवस्था को प्राप्त करता है, उस समय वह सकल परमात्मा कहा जाता है; तत्पश्चात् वह शेष चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट करके निकल परमात्मा (सिद्ध) हो जाता है। उस समय जो निराकुल सुख उसे प्राप्त होता है वह आत्मा के द्वारा आत्मा में ही उत्पन्न किया गया आत्मिक सुख है जो शाश्वत (अविनश्वर) है।

निष्कर्षतः, यहाँ यह उपदेश दिया गया है कि हे आत्मन्! तू अनादि-काल से बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) रहा है, उस समय तूने न्याय-अन्याय का विचार न करके जो मनमाना आचरण किया है उसके कारण तुझे अनेक दुःख उठाने पड़े हैं। इसलिए अब तू सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके 'अन्तरात्मा' बन जा और जो व्रत-संयम आदि आत्मा के हितकारक हैं उनमें प्रवृत्त होकर परमात्मा बनने का प्रयत्न कर, ऐसा करने पर ही तुझे वास्तविक सुख प्राप्त हो सकेगा। अतएव इन विषय भोगों को शत्रु से भी अधिक भयङ्कर समझकर उन्हें संयम तथा तप द्वारा छोड़ने का प्रयत्न कर, इस प्रकार भले प्रकार समझता हुआ अपने प्रयोजन (मोक्षप्राप्ति) को सिद्ध कर, यदि तूने ऐसा न किया और प्रमाद ही करता रहा तो यह अमूल्य मनुष्य पर्याय पूरी हो जाएगी फिर तुझे अनेक योनियों में भारी संक्लेश होगा और तू जन्म-मरणरूपी समुद्र में गोते खाता रहेगा।

वास्तव में, संसार में सब प्रकार की वस्तुएँ और विभूतियाँ सरलता से प्राप्त हो सकती हैं; किन्तु आत्मोद्धार की कला (विद्या) को पाना अत्यन्त दुर्लभ है; किसी किसी विरले भाग्यशाली को ही उस चिन्तामणिरत्न तुल्य परिशुद्ध दृष्टि की उपलब्धि होती है; इस प्रकार की दिव्यज्योति अथवा वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त साधक की जीवन लीला मोही बहिर्दृष्टि, मिथ्यात्वी कहे जाने वाले प्राणी से जुदी होती है।

आत्मानं सततं रक्षेत्, ज्ञानध्यानतपोबलैः।
प्रमादिनोऽस्य जीवस्य, शीलरत्नं विलुम्पते ॥१५॥

अर्थ:—अतएव अपने आत्मा को शास्त्रज्ञान, आत्मध्यान तथा उपवास-ऊनोदरादि तप के बल से सदा विषयकषायों से सुरक्षित रखे, क्योंकि प्रमादी आलसी जीव का शीलरत्न (चारित्ररूपीरत्न) लुप्त हो जाता है।

विशेषार्थः—जब सम्यग्ज्ञानरूपी महान् रत्न हाथ लग गया है तब विवेकी मानव का कर्त्तव्य है कि वह शास्त्राभ्यास करता रहे, आत्मध्यान बढ़ाता रहे तथा तपकी साधना करता रहे जिससे विषय-कषाय निर्बल हो जावें, रागद्वेष दूर होते जावें तथा वीतरागविज्ञानमयी भावकी बढ़ती होती जावे; इसी उपाय से आत्मा की इस भयानक संसार से रक्षा हो सकेगी। यदि आलस्य किया जावेगा तो पुण्य के प्रताप से जो मनुष्य पर्याय आदि का साधन मिला है वह भी चला जाएगा। ऐसे सुन्दर अवसर को गमाकर फिर दीर्घकाल के लिए पछताना पड़ेगा।

यथार्थ में, जो प्राणी अपनी श्रद्धा से शरीर आदि अनात्मीय वस्तुओं से ज्ञान-आनन्दमय आत्मा को पृथक् समझता है, उसी को आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि कहा है अथवा स्वपर के विश्लेषण करने की इस शक्ति से सम्पन्न जीव को अन्तरात्मा कहा है। ऐसे ज्ञानी पुरुषों की वृत्ति कमल के समान रहा करती है; जिस प्रकार जल के बीच में सदा

विद्यमान रहने वाला कमल जल-राशि से वस्तुतः अलिप्त रहता है; उसी प्रकार वह तत्त्वज्ञ भोग और विषयों के मध्य में रहते हुए भी उनके प्रति आंतरिक आशक्ति नहीं धारण करता है। आत्मसक्ति और उसके वैभव के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा से सम्पन्न व्यक्ति का ज्ञान पारमार्थिक अथवा सम्यग्ज्ञान कहलाता है; आत्मकल्याण अथवा विमुक्ति के प्रति होने वाली उसकी प्रवृत्ति को ऋषियों ने सम्यक्चारित्र बतलाया है।

रत्नत्रयमार्ग में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण का सुन्दर समन्वय विद्यमान है; इसी समन्वयकारी मार्ग की उपेक्षा करने के कारण प्राणी अनादिकाल से संसारसमुद्र में गोता लगाते हैं। सच पूछो तो आचरण या क्रियाशून्य का ज्ञान, प्राण हीन है, अविवेकियों की क्रिया निःसार है तथा श्रद्धा विहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्राप्त नहीं करा सकती है, अर्थात् अज्ञानी मोही प्राणी जितने भी प्रयत्न करता है उतना ही वह अपनी आत्मा को बन्धन में डालकर दुःख की वृद्धि करता है। यद्यपि शब्दों से वह मुक्ति के प्रति ममता दिखाता हुआ कल्याण की कामना करता है; किन्तु यथार्थ में उसकी प्रवृत्ति आत्मा को बन्धन की ओर ले जाने वाली होती है।

शीलरत्नं हतं यस्य, मोहध्वान्तमुपेयुषः।
नानादुःखशताकीर्णे, नरके पतनं ध्रुवम् ॥१६॥

अर्थ :– मोहरूपी अन्धकार से ग्रसित जिस प्राणी का चारित्ररूपी रत्न नष्ट हो गया उसका निश्चय से अनेक दुःखों से पूर्ण नरक में पतन होगा।

विशेषार्थः–जो व्यक्ति शरीर व इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर अपनी आत्मरुचि को व अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा को गमा बैठता है, उसका चारित्र मलिन हो जाता है तथा वह स्वार्थ में अन्धा हो जाता है। रात्रिदिन हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी रौद्रध्यान में फ़ंसकर अशुभ भावों से नरकायु को बांधकर महान् कष्टों के समूह से

भरे हुए नरकों के बिलों में पड़कर दीर्घ आयु तक महान् संकट भोगता रहता है।

देखो! संसार में ज्यादातर प्राणी अपनी इन्द्रियों के वश होकर बाहरी जगत् की वस्तुओं में आनन्द मानते हैं; उनमें कोई बिरला पुरुष ऐसा भी होता है जो अपनी इन्द्रियों की इस बहिर्वृत्ति का निरोध करके उसे अन्तर्मुख करता है तथा आत्मस्थित होकर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है। ऐसी आत्मलीनावस्था होने पर ही मानव अनन्त संसार से निकलकर परमात्म पद को प्राप्त करता है; परमात्मा के न कोई कार्य है, न मन और इन्द्रियाँ हैं; उनका तो अन्तरंग और बहिरंग आत्मा ही है, सच तो यह है कि उन महात्माओं ने संसार को असार जानकर छोड़ दिया और अपना यथार्थ पद प्राप्त कर लिया; परन्तु जो अज्ञानी प्राणी मोहरूपी अंधकार से अन्धे हो रहे हैं वे अपनी इस उत्तम मनुष्य पर्याय को मात्र भोगों में ही खोकर आत्मवंचना कर रहे हैं; यह सुन्दर मानव पर्याय गमाकर वे निश्चय ही नरकों के दारुण दुःख भोगेंगे। इसलिए मानव का कर्त्तव्य है कि वह निजस्वरूप को परखकर अनादि-काल के बँधे हुए कर्मों को संयम आदि धारण करके नष्ट करदे; अर्थात् अपना कल्याण करे, ऐसा "ज्ञान" ही रत्नत्रय के मध्य में विराजमान महामणि है परन्तु जो प्राणी अपने इस अटूट ज्ञान भण्डार को न देख-कर प्रमादवश भोगों में मस्त रहता है, वह अज्ञानी इन्द्रियरूप तस्करों द्वारा लूट लिया जाता है इन चोरों से बचकर जो अपने शीलरत्न को सम्भाल कर रखता है उसी का मानव-जन्म पाना सार्थक है। वास्तव में मोह, राग, द्वेष, मद और मात्सर्य ने विषमता का जाल जगत् में फैला रखा है और संसार के प्राणियों को अपने फंदे में जकड़ रखा है; जिससे प्राणी अपने स्वरूप की ओर नहीं देख पाते।

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य, यावच्चेन्द्रियसम्पदः।
तावद्युक्तं तपः कर्त्तुं, वार्द्धक्ये केवलं श्रमः ॥१७॥

अर्थः– जब तक शरीर स्वस्थ है और जब तक इन्द्रियों में प्रसन्नता है; तब तक तप करना उचित है, (इच्छाओं का रोकना सच्चा तप है) अन्यथा वृद्धावस्था होने पर मात्र खेद होगा ।

विशेषार्थः–विवेकीजनों का कर्त्तव्य है कि मनुष्य पर्याय को आत्मोन्नति का मुख्य साधक समझकर बुढ़ापा आने के पहले ही जब तक पंचेन्द्रियों में बल है तथा स्वास्थ्य अच्छा है और अंगोपांगों में शक्ति है तब तक आत्मध्यान का अच्छा अभ्यास कर लेना चाहिए । युवावय को विषयों के जाल में फँसाकर यह नहीं सोचना चाहिए कि जब बूढ़ा होऊँगा तब तप कर लूँगा । बुढ़ापे में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर निर्बल हो जाता है, भूख-प्यास शीघ्र सताती है, उस समय तप के लिए उद्यम भी करेगा तो भी नहीं कर सकेगा, मन को केवल खेद ही होगा, इसलिये अवसर नहीं खोना चाहिए; मरण के आने का कोई समय नियत नहीं है अतः जितनी जल्दी हो सके आत्म-शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि चित्त की स्थिति क्षणभर में बदल जाती है, शरीर तथा धन भी क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं; प्राणियों का जीवन-दीप क्षण मात्र में बुझ जाता है, काल को करुणा नहीं आती है इसलिए आत्महित में दीर्घसूत्रता नहीं बरतनी चाहिए, कारण जीवन बुद्-बुद्वत् है । आचार्यों ने शतायु मनुष्य को भी क्षणजीवी बताया है, उसका आशय यह है कि जीवित व्यक्ति के परमाणुस्कन्धों में प्रतिक्षण जन्म-मरण की प्रक्रिया चल रही है, जैसे जीवन का काल सौ वर्ष भले ही रहे परन्तु मृत्यु का तो क्षण ही आता है, जो आँधी के उन्मत्त स्पर्श से दीपक के समान प्राणों का देहसे अपहरण करके ले जाता है । वह क्षण कभी भी आ सकता है । देखो ! दस्यु तथा चोर तो रात्रि के अंधकार में किसी का धन हरण करते हैं; परन्तु काल तो निर्भय होकर प्राणियों को हर समय ले जाता है; उसे न करुणा है, न भय, उस महा-काल के आगे किसी की तीन-पांच नहीं चलती; गए हुए दिन वापस नहीं लौटते, यह काल संसार-भक्षक है । संसार के सभी प्राणी काल से

कीलित हैं। ऐसा जानकर हे आत्मन् ! इस जीवन के चन्द समयों में संयम तथा तप धारण करके आत्महित करले वरना वृद्धावस्था में मात्र पछताना ही होगा; क्योंकि प्रथम तो वृद्धावस्था आवे या न भी आवे, तरुण अवस्था में भी मरण हो सकता है अगर वृद्धावस्था आ भी गई तो शरीर का स्वास्थ्य बना रहे ऐसा कोई नियम नहीं है।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं, ज्ञानं कर्मपरिक्षये।
उपयोगिधनं पात्रे, यस्य याति स पंडितः ॥१८॥

अर्थः— जिसका सच्चा पुरुषार्थ निर्दोष आत्मज्ञानपूर्वक तप में है, तथा ज्ञान कर्मों के नाश करने में है तथा धन पात्र के लिए उपयोग में लगता है वही संसार में पंडित है, बुद्धिमान् है।

विशेषार्थ :— आत्मबल व शरीरबल की सफलता तब ही है जब आत्मज्ञानसहित सच्चा तप साधा जावे; विद्वान्, ज्ञानी, शास्त्रज्ञ होने का महत्त्व तब ही है जब उस सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मध्यान किया जावे तथा अनादिसंचित कर्मों को नष्ट कर दिया जावे; धन प्राप्त होने की सफलता भी तब ही है कि जब उसको योग्यपात्रों में दान देने में खर्च किया जावे। जो इस तरह विवेकपूर्वक अपने बल को, ज्ञान को व धन को उपयोगी बनाता रहता है यथार्थ में वही सच्चा पंडित है। यह सब तब ही सम्भव है जब मानव सात्त्विक आहार-विहार, सत्पुरुषों की संगति, वीरोपासना तथा षट्कर्म आदि कार्यों में प्रवृत्ति करे। इन कार्यों से आत्मीय पवित्रता का प्रादुर्भाव होता है, आचार्यों ने इन्हें धर्म का साधन बताया है; आत्मधर्म की अथवा आत्म-निर्मलता की उपलब्धि में सदाचार कारणभूत है। इन गुणों के होने पर आत्म-बोध तथा अपने स्वाभाविक आनन्द स्वरूप में तल्लीनता रूप आत्मनिष्ठा की नितान्त आवश्यकता है।

आत्मा की विशुद्ध मनोवृत्ति—सत्यश्रद्धा, सत्यज्ञान तथा सत्याचरणरूप परिणति ही धर्म है; इन तीन गुणों के विकसित होने पर

यह आत्मा संसाररूपी दुःखों से पूर्णतया छुटकारा पा लेता है और अनन्त संसार से मुक्त हो जाता है। वास्तव में, रत्नत्रयमयी धर्म जिस आत्मा में अवतीर्ण होता है, वहाँ आनन्द का सुधांशु अपनी अमृतमयी किरणों से समस्त संतापों को दूरकर अत्यन्त उज्ज्वल तथा आनन्दप्रद अवस्था को उत्पन्न करता है, ऐसे धर्म की प्राप्ति से आत्मा महान् आत्मा बन जाता है। इसलिए मोक्षार्थियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने पुरुषार्थ को समीचीन तप में लगावें तथा अपने स्वाभाविक ज्ञान के द्वारा अनादि-कालीन उपार्जित कर्मों का नाश करें; अथवा अपने न्यायोपार्जित धन को पात्रदान में लगावें, ऐसा करने से ही इन तीनों की सार्थकता है। अन्यथा संसारी प्राणियों के इन तीनों का स्थायी रहना असंभव है क्योंकि ये सब पूर्वपुण्य के अस्त होते ही समाप्त हो जाते हैं; इस बात को भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि संसार में ऐसा कोई पुण्य या पाप नहीं है जो सदा-सदा के लिये स्थायी रहे। अगर पुण्य-पाप स्थायी हो जावें तो फिर मोक्ष का अभाव हो जाएगा तथा सारी व्यवस्था ही भंग हो जाएगी; ऐसा जानकर प्रमाद न करना ही समझदारी है।

गुरुशुश्रूषया जन्म, चित्तं सद्ध्यानचिन्तया।
श्रुतं यस्य समे याति, विनियोगं स पुण्यभाक् ।।१६।।

अर्थः– जिसका जन्म गुरुओं की सेवा करने में, मन यथार्थ आत्मध्यान के मनन में और शास्त्रज्ञान समताभाव में काम आता है वही पुण्यात्मा है।

विशेषार्थः– परमदयालु गुरु जीवों को सन्मार्ग में प्रेरक होते हैं तथा मोक्षमार्ग की उन्नति का उपाय बताते हैं। अतएव जो अपना जीवन गुरुभक्ति में बिताता है वह बड़ा पुण्यात्मा है। जो अपने चंचल मन को विषयकषायों के झंझट से रोककर आत्ममनन में, आत्मध्यान की चेष्टा में लगाता है वह भी पुण्यात्मा है तथा शास्त्रज्ञान पाने का फल स्याद्वादनय से वस्तुतत्त्व का विचार करना है ऐसा प्राणी आपत्ति-

समय में आकुलता नहीं करता है और न सम्पत्ति प्राप्त होने पर उन्मत्त भाव करता है, अपने साम्यभाव द्वारा जगत को नाटक के समान देखता रहता है; पुण्य-पाप के उदयकाल में हर्ष-विषाद नहीं करता है, आत्म-सन्मुख बुद्धि रखकर अलिप्त रहता है।

वास्तव में, मनोजय के द्वारा ध्यान की सामर्थ्य प्राप्त होती है जिससे अनादिकालीन कर्मों की पर्वत सदृश राशि अंतर्मुहूर्त्त काल में नष्ट हो जाती है; आत्मविकास के प्रेमी भद्रपुरुषों को, जैनाचार्यों के इस अनुभवपूर्ण मार्गदर्शन पर ध्यान देना चाहिए। परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर-मुद्रा धारण करना, राग-द्वेषादि मनोविकारों का दमन करना तथा व्रतों का पालन करते हुए मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना यह सब ध्यान की कारणरूप सामग्री है। परन्तु कोई-कोई विषयासक्त व्यक्ति त्यागीजनों की बुराई करते रहते हैं और कहते हैं कि जब भगवान के ज्ञान में हमारा चारित्ररूप परिणमन आएगा तब हम चारित्रग्रहण करेंगे, मानो इन्होंने भगवान के साथ इतनी निकटता प्राप्त करली है कि भगवान पास आकर इनको यह कहेंगे– श्रीमान्जी, उठिये ! अब आपका दीक्षाकल्याणक का समय आ गया है, मानो सर्वज्ञ को इन प्रमादियों ने अपना पहरेदार बना लिया है। सच तो यह है कि अपनी ख्याति-प्रतिष्ठा के मोह के कारण व्यक्ति विपरीत दृष्टि वाला बन जाता है, जिसके कारण वह वस्तुस्वरूप को भूलकर स्वच्छन्द एवं अनर्गल प्रवृत्ति करने लगता है। इसलिए प्रमाद को छोड़कर आत्म–कल्याणार्थियों को अपने मन के द्वारा सद्ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए; तथा अपने मनुष्य-जन्म की सार्थकता के लिए गुरुओं की वैयावृत्य अथवा सेवा करनी चाहिए तथा श्रुताभ्यास के द्वारा समताभाव में रहना चाहिए, यही मानव-जन्म प्राप्त करने का फल है। मानवों को व्यर्थ की विकथा आदि में अपना समय न गमाकर शास्त्राभ्यास में तथा आत्मचिन्तवन में मग्न रहना चाहिए ऐसा करते करते मानव अपने स्वरूप का अवलोकन कर सकता है तथा सांसारिक बन्धनों से छूटकर स्थायी सुख प्राप्त कर सकता है।

छित्वा स्नेहमयान् पाशान्, भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः, शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥२०॥

अर्थः–रागमयी फन्दों को छेदकर, मोहरूपी महान् अर्गला (आगल) को तोड़कर जो सम्यक्चारित्र में लवलीन है और मोक्षमार्ग में जमा हुआ है वही वीर महात्मा है।

विशेषार्थः– जैसे बंद किवाड़ों वाले मकान के भीतर की वस्तु नहीं दिखती है वैसे ही मिथ्यात्व की आड़ जब तक रहती है तब तक अपने आत्मा का दर्शन नहीं होता है; इसलिए वही वीर योद्धा है जो इस मिथ्यात्व की आड़ को तोड़कर आत्मदर्शी सम्यग्दृष्टि हो जाता है और जगत् के स्नेह के फंदे को छेदकर वैराग्यवान हो जाता है। ज्ञान, वैराग्य से पूर्ण होकर जो सम्यक्चारित्र को पालता हुआ व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बन से स्वात्मानुभवरूपी निश्चय रत्नत्रय में दृढता से जमा रहता है वही सच्चा वीर है।

जब मानव ममता को छोड़कर समता का आश्रय लेता है तो उस समता के प्रकाश में भेद, विषाद, व्यामोह व संकीर्णता का सद्भाव नहीं रहता; वीतराग, वीतमोह, वीतद्वेष बने बिना समतारूपी सुधा का रसास्वाद नहीं आ सकता; जो व्यक्ति वासनाओं के दास बने हुए हैं उन्हें संयम तथा समतापूर्ण श्रेष्ठ जीवन को अपना आदर्श बनाना होगा; इस प्रकार असमर्थ साधक भी अपनी शक्ति को विकसित करता हुआ एक दिन आत्महित के ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

मोह, राग, द्वेष, मद, और मात्सर्य ने विषमता का जाल संसार के अज्ञानी प्राणियों पर फैला रखा है और मोही प्राणियों को अपने फंदे में जकड़ रखा है; जिससे प्राणी अपने स्वरूप की ओर नहीं देख सकते हैं; जिन्होंने इस रागद्वेष मोहादिक की विषमता को मार भगाया वे ही सच्चे सुख के अधिकारी बन गए। मानव ज्यों ज्यों विषयभोगों की आराधना और उनका उपभोग करेगा, त्यों त्यों उसके अशान्ति

तथा लालसा और तृष्णा की अभिवृद्धि होगी; एक आकांक्षा के पूर्ण होते ही अनेक लालसाओं का उदय हो जाता है; जो अपनी पूर्ति होने तक चित्त को आकुलित बनाता है, इसलिए निराकुल सुख चाहने वालों को समता-रस का पान करते हुए मोहजनित फांसी को काटकर, ममतारूपी फाटक की वज्रमयी अर्गला को तोड़कर, संयमरूपी कवच पहनकर मोक्ष-रूपी महल में प्रवेश करना चाहिए; इस प्रकार मोक्षमहल में प्रवेश किए बिना मुक्तिरूपी वधू की प्राप्ति असंभव है। अतः स्वात्मानुभवरूपी सुख चाहते हो तो बिना प्रमाद के शीघ्रातिशीघ्र निःसंकोच होकर मिथ्यात्वरूपी किले को तोड़कर दृढ़ता के साथ संयमरूप कवच धारण करो और सदा सदा के लिये सुखी हो जाओ।

अहो मोहस्य माहात्म्यं, विद्वांसो येऽपि मानवाः।
मुह्यन्ते तेऽपि संसारे, कामार्थरतितत्पराः॥ २१॥

अर्थः– जो कोई भी विद्वान् मनुष्य हैं वे भी काम व धन के स्नेह में तत्पर रहते हुए इस संसार में मुग्ध हो जाते हैं, यह सब मोह की ही महिमा है।

विशेषार्थः– शास्त्रज्ञान रहित, तत्त्वज्ञानरहित मूढ़ प्राणी यदि धन की व विषयों की इच्छाओं में व कुटुम्ब में मोहित होकर आत्महित न करे तो कुछ खेद व आश्चर्य की बात नहीं मानी जाती; परन्तु जो मानव विद्वान् है, शास्त्रज्ञ है, तत्त्वज्ञानी है वह यदि गृहस्थावस्था में मोहित होकर रातदिन धन कमाने में तथा इन्द्रियों की इच्छा पूर्ण करने में लगा रहे तो बड़े खेद व आश्चर्य की बात है। मिथ्यात्व का अन्धेरा जब तक दूर नहीं होता है तब तक सच्चा ज्ञान व वैराग्य नहीं हो सकता है, अतएव इस मिथ्यात्व को दूर करना ही श्रेयस्कर है।

यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि कोई कोई विद्वान् होते हुए भी अर्थात् अपने को शास्त्रज्ञ बताते हुए भी संग्रह की दूषित

भावना से प्रेरित होकर रात-दिन धनवैभव एकत्र करने में संलग्न रहते हैं; उस संचित धन को वे कई भवों में भी नहीं भोग सकते; उन्हें प्रारम्भ में अपनी आवश्यकता की पूर्ति का ध्यान रहता है, परन्तु जहाँ आवश्यकता की पूर्ति योग्य परिस्थिति आई, वहाँ तृष्णा की बीमारी उन्हें घेर लेती है फिर वे संग्रहबुद्धि के नशे में आत्महित की ओर तनिक भी दृष्टिपात नहीं करते; आकुलताओं की सीमातीत वृद्धि होने से उनका मन अशान्ति का केन्द्र बन जाता है, इस व्यामोह के मद में वे इस सत्य पर भी दृष्टिपात नहीं करते कि परिग्रह की वृद्धि में उनकी अशान्ति बढ़ रही है; वास्तव में अज्ञानवश होकर मानव रात-दिन दुःखी रहता है और संसारभ्रमण करता है, इस रोग का इलाज मात्र तत्त्वज्ञान व संतोष ही है; जिसके लिए अन्यत्र खोजने की जरूरत नहीं, वह तो आत्मा का निजी धन है। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आज के युग में कोई २ विद्वान् असलियत को छोड़कर थोड़े से धन के लोभ में आकर जानते हुए भी आचार्यप्रणीत ग्रन्थों को तोड़-मोड़ कर मन घड़ंत बातें लिखते हैं; यह इस पंचमकाल का अचिन्त्य प्रभाव है लेकिन उन्हें याद रखना चाहिये कि तनिक से धन के लिये जो पाप वे बांध रहे हैं वह पाप उन्हें माफ करने वाला नहीं है। समय रहते उन्हें अपनी आत्मा पर दया करके पापों से डरना चाहिए अन्यथा पापोदयकाल में पछताना ही होगा।

२. आत्मा के वैरी विषय-कषाय

कामः क्रोधस्तथा लोभो, रागद्वेषश्च मत्सरः।
मदो माया तथा मोहः, कन्दर्पो दर्प एव च ॥२२॥

एते हि रिपवो चौरा, धर्मसर्वस्वहारिणः।
एतैर्बंभ्रम्यते जीवः, संसारे बहुदुःखदे ॥२३॥

अर्थः— विषयों की इच्छा, क्रोध और लोभ, रागभाव व द्वेषभाव,

लोग मौज-मजा उड़ा रहे हैं, उन्हें याद रखना चाहिए कि जिस दिन उनका पूर्वोपाजित पुण्य (धर्म) अस्त हो जावेगा उसी समय उन्हें अथाह वेदना भोगनी होगी, संसार के प्राणी उन्हें मरी मक्खी की तरह निकाल-कर फेंक देंगे फिर वे धर्म को पुकार पुकार कर कहेंगे कि हे भगवन् ! बचाओ, मगर पुण्य के बिना साता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए मानवों को उचित है कि वे धर्म-अधर्म को भली प्रकार जानें और अधर्म का परिहार करके धर्म को धारण करें।

वास्तव में, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष मोह आदि जघन्य वृत्तियों के विकास से आत्मा की स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रता का विनाश होता है; इन्हीं के द्वारा आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है, जो आत्मा के आनन्दोपवन को भस्म कर देती है; जबकि अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि को अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुंचते हुए स्वयं धर्ममय बन जाती है। अत. संसार से भयभीत प्राणियों का कर्त्तव्य हो जाता है कि वे हर समय आत्मकल्याण हेतु धर्म को अपनाते रहें। यदि प्रमाद तथा हठ से अधर्म को त्यागने का साहस नहीं करेंगे तो नियम से दीर्घसंसार में भटकते ही रहेंगे, ऐसा आचार्यों का अभिमत है।

रागद्वेषमयो जीवः, कामक्रोधवशे गतः।
लोभमोहमदाविष्टः, संसारे संसरत्यसौ ॥ २४ ॥

अर्थः– यह प्राणी रागी-द्वेषी होकर काम व क्रोध के वश में होता हुआ तथा लोभ, मोह और घमण्ड से घिरा हुआ इस संसार में भ्रमण करता रहता है।

विशेषार्थः– क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के उदय के आधीन होकर यह संसारी प्राणी अपने आत्मबल को प्रकट न कर सकने के कारण विकारी, मोही, रागी-द्वेषी होता हुआ तदनुकूल

अपने मन में विचार करता है, उसी प्रकार की वाणी बोलता है तथा वैसी ही शरीर की क्रिया करता है। इन अशुभ प्रवृत्तियों के कारण तीव्र पापकर्म बांधकर इस दुःखमय संसार में जन्म-मरण करता हुआ भ्रमता है, तात्पर्य यह है कि ये कषाय ही जीव के शत्रु हैं। दौलतरामजी ने लिखा है—

"आतम के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।"

यथार्थ में राग-द्वेष, मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व आदि के कारण आत्मा अस्वाभाविकता के फंदे में फँसी हुई है और पराधीन, दीन-हीन और दुःखी बनी हुई है; अर्थात् संसार में परिभ्रमण किया करती है। इन विकृतियों का अभाव हुए बिना यथार्थ धर्म की जागृति नहीं होती; विकारों का अभाव होने पर ही यह आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द और अनन्तदर्शन सदृश अपूर्व गुणों से आलोकित हो सकती है। सचमुच में विकारों पर विजय प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय यह है कि मानव अपने को दीन, हीन, पतित न समझे, परन्तु ऐसा विश्वास हो कि मेरी आत्मा ज्ञान और आनन्द का भण्डार है; मेरी आत्मा अविनाशी है तथा अनन्त शक्ति-समन्वित है। विकृत जड़-शक्तियों से घिरा हुआ आत्मा जड़सा प्रतीत हो रहा है, किन्तु यथार्थ में वह चैतन्य का पुञ्ज है, अर्थात् अज्ञान, असंयम तथा अविवेक के कारण यह जीव हतबुद्धि होकर अनेक विपरीत कार्य करके स्वयं अपने कल्याण पर कुठाराघात किया करता है। कभी-कभी तो यह जीव कल्पित शक्तियों को अपना भाग्य-विधाता मान कर मानवोचित पुरुषार्थ तथा आत्म-निर्भरता को भी भुला देता है। इसी कारण अनन्त संसार में भ्रमण करता है। यदि मानव राग-द्वेष, काम-क्रोधादिकों तथा लोभ-मोह-मद आदि का परित्याग कर दे तो संसार भ्रमण मिट सकता है; वास्तव में कल्याण के लिये पर पदार्थों की आवश्यकता नहीं रहती, प्राणी को स्वयं अपने बल पर खड़ा होना होगा और राग-द्वेषादि से बचना होगा। स्मरण रहे, कल्याण का उदय केवल मौखिक बातों से तथा कहने से

नहीं होगा, उसके लिये आपको विषयों से विरक्त होना होगा, राग-द्वेष आदि अहितकारी तत्त्वों का त्याग करना होगा तथा अपने मन पर अनुशासन करना होगा।

सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो, जैनभक्तः जितेन्द्रियः।
लोभमोहमदैस्त्यक्तो, मोक्षभागी न संशयः ॥२५॥

अर्थ :– सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का धारी, जैनधर्म का भक्त, इन्द्रियों को जीतने वाला लोभ-मोह व मद से रहित जीव, कर्मों के बन्ध से छूट जाएगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

विशेषार्थः– संसार के दुःखों के नाश का उपाय जैनधर्म के यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान तथा ज्ञान है, फिर उस सम्यग्ज्ञान के अनुसार चारित्र का पालना है। साधक को श्री जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी, जैनसाधुओं की व जैन धर्म की भावपूर्वक भक्ति करते रहना चाहिए, अपनी पांचों इन्द्रियों को और मन को अपने आधीन रखना चाहिए तथा क्षण-भंगुर संसार के नाटक में मोह नहीं करना चाहिए। मानव को सांसारिक विभूति का स्वामी होने पर भी किसी प्रकार का अहंकार नहीं करना चाहिए और इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के क्षणिक पदों का लोभ नहीं करना चाहिए। जो प्राणी सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्रवैराग्य सहित आत्मानुभव करेगा वह अवश्य ही कर्मबन्धनों से छूटकर मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

संसार में वैभव की वृद्धि में साधारण मानव अपनी आत्मा को पूर्णतया भूलकर कोल्हू के बैल की जिन्दगी का अनुकरण करता है; परन्तु तत्त्वज्ञानी मानव सदा आत्महित के लिये प्रयत्न करता है क्योंकि उसको आत्मतत्त्व में विलक्षण आनन्द का अनुभव होता है। इसके सिवाय इस मंगलमय धर्म की शरण में जाने से सर्वकार्यों की अनायास सिद्धि भी होती है; परन्तु इस क्षेत्र में वही प्राणी प्रवेश करता है, जो संसार के वैभव को अपना नहीं मानता है अर्थात् उसमें रंजायमान न होता हो

तथा हर समय आत्महित का प्रयत्न करता हो। सच तो यह है कि आत्म-विद्या की उपलब्धि के विषय में आचार्यों ने बताया है कि जैसे-जैसे स्वरूप के अवबोध का रस प्राप्त होने लगता है, वैसे-वैसे प्राप्त हुए भोगों में भी रुचि नहीं रहती है–

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषया सुलभा अपि ॥ पूज्यपाद-इष्टोपदेश ॥

वास्तव में आत्महित में स्थिर महात्माओं को आत्मचिंतन में जो रस और आनन्द प्राप्त होता है, वह छह खण्ड के वैभव वाले चक्रवर्ती को भी नहीं होता। तत्त्व का सम्यक्बोध होने पर महान् पुरुषों की परिणति में एक नवीन स्फुरण होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में भगवद् - भक्ति में तल्लीन रहता हुआ लोभ, मोह, मद आदि कुकृत्यों को छोड़कर आत्मशक्ति को पहचानता है और सम्यक्चारित्र को धारण करके ध्यान के बल से घातिया कर्मों को नष्ट करके सर्वज्ञपद को प्राप्त करता है फिर आयु के अन्त में चारों अघातिया कर्मों को भी निर्मूल करके अजर-अमर पद को प्राप्त करता है, इसी का नाम मोक्ष है।

कामक्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः।
एतेन निर्जिता यावत्, तावत्सौख्यं कुतो नृणाम् ॥२६॥

अर्थ :– काम, क्रोध तथा मोह ये तीनों ही जीव के महान् वैरी हैं; जब तक इन शत्रुओं से मानव पराजित रहता है, तब तक प्राणी को सुख किस तरह प्राप्त हो सकता है?

विशेषार्थ :– सच्चा सुख आत्मा का स्वभाव है, उसका स्वाद तब ही आता है जब आत्मा का स्वभाव निर्मल होता है, यदि आत्मा का स्वभाव मिथ्यात्व से, कामभाव से तथा क्रोधभाव से मलिन हो जाता है, तो इन्हीं कलुषताओं का स्वाद आता है; जैसे पानी में

यदि लवण, नीम या खटाई मिली हो तो लवण का खारा, नीम का कटुक, खटाई का खट्टा स्वाद आएगा परन्तु पानी का निर्मल मिष्ट स्वाद नहीं आएगा। इसी प्रकार जो मानव रात-दिन इन तीनों महान् शत्रुओं के वश में रहता है, उसको आत्मसुख कैसे मिल सकता है? अतएव इन तीनों को पराजित करना चाहिए, वास्तव में ये बड़े वैरी हैं। मिथ्यात्व से यह प्राणी अपने को ही भूल जाता है, तथा कर्मजनित पर्याय में आपा मान लेता है। कामभाव से अन्धा होकर यह तीव्र विषयभोगों में रत होकर शरीर के वीर्य का नाशकर व महान् रागी होकर हेय-उपादेय बुद्धि को भी भूल जाता है तथा धर्म-कर्म की अवहेलना करता है, क्रोध के आधीन होकर बावला सा होकर बकता है व निज या पर के नाश की चेष्टा करता है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
॥ गीता : अध्याय २ ॥

अतः जिस प्रकार विषमिश्रित जल पीने योग्य नहीं होता वैसे इन तीनों भावों का अनुभव योग्य नहीं; ये बुरे भाव यहाँ भी आकुलताकारक हैं व परलोक में भी दुर्गति के कारण हैं।

यथार्थ में कामभोगजनित कथा इस जीव ने आगे भी अनन्तबार सुनी तथा अनन्तबार परिचय पाया और अनन्तबार अनुभव भी किया; यह जीव मोहरूपी पिशाच के द्वारा बैल के सदृश जोता गया, इसलिए इसे कामभोगसम्बन्धी कथा सुलभ पड़ती है; लेकिन कर्मपुञ्ज से विभक्त अपने आत्मा का एकपना न तो कभी सुना और न परिचय में आया तथा न कभी अनुभव में आया; इसी कारण आत्मपरिणति या आत्मरुचि अपनी निजी वस्तु होते हुए भी इस अज्ञानी प्राणी को कठिन मालूम होती है। अतः प्राणियों का कर्मभार हलका होने पर, वीतरागवाणी का परिशीलन

करने पर और संतजनों के समागम से ही वह विमल दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके सद्भाव में नारकी जीव भी अनन्त दु:खों के बीच में रहते हुए विलक्षण आत्मिक शान्ति के कारण अपने को कृतार्थ सा समझता है, परन्तु इनके अभाव में अवर्णनीय लौकिक सुखों के सिन्धु में निमग्न रहते हुए देवेन्द्र तथा चक्रवर्ती भी वास्तविक शान्ति का लाभ नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए मोक्षसुख की अभिलाषा रखते हो तो अपने आत्मस्वरूप में स्थिर रहो और काम-क्रोध तथा मोह आदि से बचो।

नास्ति कामसमो व्याधि-र्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्नि-र्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ।।२७।।

अर्थ :– संसार में काम के समान रोग नहीं है, मोह के समान शत्रु नहीं है, क्रोध के समान अग्नि नहीं है तथा ज्ञान के बराबर कोई सुख नहीं है।

विशेषार्थ :– शरीर में अनेक प्रकार के रोग होते हैं। आचार्यों ने इस शरीर में पांच करोड़, अड़सठ लाख नवासी हजार पांच सौ चौरासी (५,६८,८९,५८४) रोगों का सद्भाव बताया है, परन्तु इनका इलाज तो हो सकता है और वे मिट भी सकते हैं और यदि नहीं भी मिटते तो केवल वर्तमान नाशवंत शरीर को ही छुड़ा देते हैं, परलोक में बुरा नहीं करते; परन्तु कामभाव की वेदना यहाँ भी कष्ट देती है तथा परलोक में भी सताती है। इच्छानुकूल विषय न मिलने पर कष्ट होता है; मिलकर फिर वियोग होने पर भारी कष्ट होता है तथा तृष्णा की वृद्धि से कष्ट होता है, इस तीव्रराग से कर्म बाँधकर यह जीव परलोक में भी कष्ट पाता है, वहाँ भी कामरोग संस्कारवश जागृत हो जाता है, कामरोग भव-भव में दुःखदायी है। इस काम के समान संसार में कोई रोग नहीं है।

मिथ्यात्व के समान कोई शत्रु नहीं है, जगत् में जानमाल का शत्रु

शरीर व सम्पत्ति को हरता है परन्तु यह मिथ्यात्व नरक-निगोद आदि के तुच्छ शरीर में पटककर भव-भव में घोर कष्ट देता रहता है।

क्रोध बड़ी भारी अग्नि है जो प्राणियों के शान्त-भाव को व शरीर के रुधिर को भी जलाती है। क्रोध दूसरों को कष्ट देने के लिये प्रेरित करता है, घोर अनर्थ में प्रवृत्ति कराता है; तीव्र कर्मबन्ध कराकर परलोक में दुःखसागर में गिरा देता है।

आत्मज्ञान से प्राणियों को सच्चा सुख होता है, शास्त्रों में उपयोग रमाने से भी सुख होता है। वास्तव में आत्मिक सुख का भोग, ज्ञान द्वारा होता है ज्ञान द्वारा ही सांसारिक सुख-दुःख में साम्यभाव रह सकता है, इसलिए ज्ञान के समान सुख नहीं—

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृति रोग निवारण॥
छहढाला—दौलतराम॥

ऐसा जानकर मोह, काम व क्रोध को जीतकर ज्ञानाभ्यास में तल्लीन रहना ही श्रेष्ठ है। प्राणियों को आत्मज्ञान के द्वारा भौतिक पदार्थों को निजस्वरूप से भिन्न समझते हुए और आत्मतत्त्व को हृदयंगम करते हुए अपनी आत्मा को काम-क्रोध तथा मोहादि कलंकों से निर्मल या रहित करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ करना चाहिए; यथार्थ में यही सदाचार है, संयम है तथा इसे ही सम्यक्चारित्र कहते हैं; इसके बिना मुक्तिमार्ग के लिए मानव पंगु है। अतः जो विवेकी आत्मा निर्वाणसुख के लिए लालायित रहते हैं उन्हें अपना सर्वस्व माने जाने वाले धन-सम्पदा आदि परिकर को भी छोड़कर संयम ग्रहण करके अपने आत्मस्वरूप में मग्न रहना चाहिए। मानव यदि चाहे तो प्रयत्न करके अनन्त शक्ति, अनन्तशान्ति, अनन्तज्ञान आदि से पूर्ण आत्मत्व को प्राप्त कर सकता है, परन्तु काम-मोह में आसक्त प्राणी आत्मोद्धार की ओर अपना कदम नहीं बढाना चाहता।

कषायविषयार्त्तानां, देहिनां नास्ति निर्वृतिः।
तेषां च विरमे सौख्यं, जायते परमाद्भुतम् ॥२८॥

अर्थ :– चारों कषायों और पांचों इन्द्रियों के विषयों से जो प्राणी पीड़ित हैं उन शरीरधारियों को मोक्ष का लाभ नहीं हो सकता है, इनके छोड़ने पर ही परम आश्चर्यकारी सुख प्रकट हो जाता है।

विशेषार्थ :– जब तक आत्मा के विभाव परिणाम क्रोधादि कषाय विकार एवं मलिनता उत्पन्न कर रहे हैं तथा इन्द्रियों की चाह की दाह जलन उत्पन्न कर रही है, तब तक जीव बन्ध को प्राप्त होता रहता है, ऐसी दशा में मोक्ष का होना असंभव है। जब इन विषय-कषायों का मैल आत्मिक भाव से दूर हो जाएगा तब आत्मानन्द का स्वाद आने लगेगा। इस अतीन्द्रिय सुख का ऐसा स्वाद है कि जिसकी तुलना में संसार में कोई सुख नहीं। सच तो यह है कि मानव जीवन कोई मामूली पदार्थ नहीं है किन्तु इसमें अज्ञानी मानव भोगासक्त होकर रात-दिन भोगों का ही रसपान करते हैं और जीवन व्यतीत कर देते हैं।

मनुष्य जीवन एक महान् निधि है तथा एक अनुपम अवसर है जिसमें मानव आत्मशक्ति को विकसित करके जन्म-जरा-मरण विहीन अमर जीवन के उत्कृष्ट और उज्ज्वल आनन्द को प्राप्त कर सकता है। अर्थात् संतजनों ने जीवन के प्रत्येक अंग तथा कार्य को तब ही सार्थक तथा उपयोगी माना है, जब मानव आत्मविकास की मधुरध्वनि से समन्वित हो, भोगीजनों की भोगलिप्सा तो मात्र आत्मवञ्चना ही है।

मोक्षार्थी प्राणियों की मनोवृत्ति मोही जगत् से निराली ही होती है, वे धन-दौलत तथा विषयभोगों की भावना ही नहीं करते। वे सन्मार्ग पर अपना कदम बढाने के सिवाय जीवन की ममतावश कभी पीछे नहीं हटते; अकिंचनपना ही उनकी सम्पत्ति होती है; वे कर्त्तव्यपालन करते हुए आत्म-जागृतिपूर्वक मृत्यु को जीवन मानते हैं; तो भला ऐसी बलिष्ठ, ज्ञानी आत्माओं का दुर्दैव क्या कर सकता है। इसलिए मनोजय के लिए

मानवों का कर्त्तव्य है कि वे कषाय और विषयवासनाओं से बचकर आत्मिक सुख की ओर दृष्टिपात करें। आर्त्तध्यानों से बचने के लिए आत्मा को बहुत बलिष्ठ बनाना होगा, क्योंकि संसार की चमक-दमक और मोहक सामग्रियों को देखकर मोही प्राणी आपे से बाहर हो जाते हैं फिर आत्मविकास के क्षेत्र में असफल हो जाते हैं। कषायों व विषय-वासनाओं को छोड़ने से ही मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त होगा, ऐसा जानकर समय रहते अपनी आत्मा का हित करना ही श्रेयस्कर है।

कषायविषयै रोगैः, चात्मा च पीड़ितः सदा।
चिकित्स्यतां प्रयत्नेन, जिनवाक्सारभेषजैः ॥२६॥

अर्थ :– कषाय और विषयरूपी रोगों से ही यह आत्मा सदा कष्ट पा रहा है इसलिए जिनेन्द्र भगवान की वाणीरूपी उत्तम औषधियों से उद्योग करके इसका इलाज करना चाहिए।

विशेषार्थ :– अज्ञानी व आत्मबल खोये हुए संसारी प्राणी को कषायों का व इन्द्रियों के विषयभोगों की चाहना का रोग लगा हुआ है; इसलिए उचित है कि जिनवाणी में जो रत्नत्रय धर्मरूपी औषधि बताई है उसका प्रयत्नपूर्वक सेवन किया जावे, तो शीघ्र ही विषयकषायों का रोग मिट जाएगा और यह प्राणी स्वास्थ्य-लाभ करता हुआ सच्चे सुख व शान्ति को प्राप्त कर सकेगा।

देखो ! संसार के अज्ञानी प्राणियों की समझ का यही फेर है कि वे संसारजनित पापरूपी रोगों से डरते हैं तथा मिटाना चाहते हैं, परन्तु उन रोगों के पैदा होने के कारणों को न तो जानते हैं और न छोड़ना चाहते हैं, फिर भला यदि कारण नहीं छूटते तो कार्य होने में सिवाय स्वयं के दूसरे को कैसे दोष दिया जा सकता है। यदि कोई अपने ऊपर पत्थर फेंक कर नीचे सिर करदे और कहे कि मुझे पत्थर की चोट न लगे तो यह एक हास्यास्पद बात होगी। यदि मानव अपने बुरे विचारों

को पहचाने और कर्मरूपी रोगों को आने से प्रयत्नपूर्वक रोके तो दुःखों की सृष्टि नहीं होगी।

यथार्थ में, संसार के प्राणी सुख चाहते हैं और यह सर्वथा सत्य है कि संसार के सभी प्राणी दुःख से डरते हैं, अपितु हर युग में यह एक सनातन प्रश्न रहा है कि दुःख का विनाश कैसे हो? यह बात दूसरी है कि मानव आज तक अपनी बेसमझी के साधनों की ओर भागता रहा है, किन्तु सदा से उसका साध्य सुख ही रहा है; दुःखों के नाश हेतु तथा सुखों की खोज में हर प्राणी भटकता ही रहता है। सुखी होने के लिए समता रामबाण औषधि है तो ठीक उसी तरह से दुःखी होने के लिए तृष्णा है, अब जो अच्छा लगे सो करो, परन्तु याद रखो कि इस मानव जन्म को संक्लेश में ही व्यतीत कर दिया तो फिर आपका कोई ठिकाना नहीं रहेगा, न जाने यह जीव इस चतुर्गति भव-समुद्र में कहाँ जाकर उत्पन्न होगा। अतः आप कर्मजन्य दुःखों से उद्विग्न हो तो आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि सबसे पहले कर्म आने के कारणों को रोकें। वास्तव में न तो तुम्हें कोई सुखी कर सकता है और न कोई दुःखी। समीचीन दृष्टि से देखो तो तुम ही अपने सुख-दुःख के निर्माता हो, इसलिए अपने सत्कर्मों पर विश्वास रखो और हमेशा के लिए सुखी हो जाओ।

विषयोरगदष्टस्य, कषायविषमोहितः।
संयमोहि महामंत्रः,त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥३०॥

अर्थ :– जिनको विषयरूपी नाग ने काटखाया हो तथा जो कषायरूपी जहर से मूर्च्छित हो, ऐसे प्राणियों के लिए संयमरूपी महामंत्र ही सर्व स्थानों में रक्षा करने वाला है।

विशेषार्थः– विषयों की चाह की दाहरूपी नागिनी के द्वारा डसे हुए प्राणियों को लोभादि कषायों का तीव्र विष चढ जाता है; इस विष के झाड़ने का या जिसकर्म के उदय से कषाय के विष का वेग चढा है उस कषाय के अनुभाग को या उसके बल को घटाने या क्षय करने के

दुष्परिणाम को देखता है, तब फौरन ही दूसरी ओर त्याग के माहात्म्य से उसकी आत्मा प्रभावित हुए बिना नहीं रहती; वह तो भली प्रकार जान लेता है कि यह विषय और कषायरूपी पिशाचिनी का ही काम है। ऐसा जानकर भव्य प्राणियों को कषाय से कलुषित अपने मन से राग-भाव को पुरुषार्थपूर्वक छोड़ देना चाहिए वरना इस भयानक चतुर्गति-स्वरूप संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण धारण करते हुए भारी वेदना सहनी पड़ेगी। इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष हर समय अपनी आत्मा की आवाज इन शब्दों में व्यक्त करते हैं कि प्रभो ! वह दिन कब आएगा कि जब मैं स्वतंत्र, निस्पृह, शान्त और पाणिपात्र-भोजी, दिगम्बर मुनि बनकर कर्मों का नाश करने में समर्थ होऊंगा।

कषायवशगो जीवो, कर्म बध्नाति दारुणम् ।
तेनाऽसौ क्लेशमाप्नोति, भवकोटिषु दारुणम् ॥३२॥

अर्थः— कषायों के आधीन होता हुआ यह जीव तीव्र कर्म बाँध लेता है, जिसके कारण करोड़ों जन्मों में महान्, घोर कष्ट को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ :— जो मोही तथा अज्ञानी जीव होते हैं वे कषायों के उदय के आधीन होकर कुदेव, कुधर्म, कुगुरु आदि के आराधनमयी मिथ्यात्व को तथा जुआ खेलना, मांसभक्षण, मदिरापान, चोरी, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन इन सप्त व्यसनरूप अन्याय को सेवन करके तथा हिंसाकारक व रोगवर्द्धक अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करके, न्याय-अन्याय का विचार छोड़कर धन एकत्र करने में व विषयभोगों की सामग्री प्राप्त करने में मूढ़ हो जाते हैं, आसक्त हो जाते हैं, धर्ममार्ग से बिलकुल भ्रष्ट हो जाते हैं; ऐसे जीव तीव्र कर्मों को बाँधकर फिर उनके उदय से करोड़ों कष्टप्रद जन्मों में महान् असहनीय दुःख भोगते हैं। स्थावर (एकेन्द्रिय) काय में तथा त्रसकाय में पराधीनपने से जो अत्यन्त दारुण कष्ट भोगने पड़ते हैं, वे कहने में नहीं आते अर्थात् वे वचन-अगोचर हैं।

सच तो यह है कि अपने भीतर रहने वाले आत्मा को देखने वाले कोई विरले ही प्राणी होते हैं, जो ज्योति अपने आंचल में है तथा जो अपने ही पल्ले से बंधी हुई है जिसे गांठ खोलकर देखने की संसार के मोही प्राणियों को फुरसत ही नहीं होती—

सबकी गाँठो लाल है, लाल बिना कोई नहीं।
जगत भयो कंगाल, गांठ खोल देखी नहीं ॥

ज्यादातर प्राणी तो अपनी आत्मिक सम्पत्ति से अनजान, यों ही पछताते हुए कंगाल की तरह अपनी आयु को पूरी करके चले जाते हैं; परन्तु जो प्राणी तत्त्वज्ञान के द्वारा इसे ढूंढ लेते हैं वे मालामाल हो जाते हैं, लेकिन जिन्हें इसके विषय में जानकारी नहीं होती वे गांठ में लाल होते हुए भी दीन-हीन की तरह कंगाल ही रहते हैं; जैसे अज्ञानीजन अपने अन्दर जलने वाले दीपक को देख नहीं पाते, बाहरी दीपक को जलता देखकर अपने को धन्य मानते हैं, वह बाहरी दीपक जलता हुआ मानवों को शिक्षा दे रहा है कि अरे! तुम इसे जलते देखकर खुश हो रहे हो परन्तु आयुकर्म के बन्धन में तुम भी हमारी तरह ही जल रहे हो। चेतो! जागो! सवेरा होने से पहले सावधान होकर अन्धकार को मिटाने का प्रयत्न करो; यदि अंधकार मिटाने के पूर्व सवेरा हो गया अर्थात् आयुकर्म पूरा हो गया तो सिवाय पछताने के और कुछ भी शेष नहीं रहेगा। अतः मानव को चाहिए कि कषायों के वश होकर कर्मों के बन्धन में न पड़े अन्यथा अनेक भवों में भयानक दुःखों का सामना करना पड़ेगा, जो कर्म सहज में ही हँसी मजाक में बांध लिये जाते हैं वे कालान्तर में रोते-रोते भी नहीं छूटेंगे, ऐसा जानकर प्रति समय अपने विचारों की सम्भाल करना अति आवश्यक है।

कषायविषयैश्चित्तं, मिथ्यात्वेन च संयुतम्।
संसारबीजतां याति, विमुक्तं मोक्षबीजताम् ॥३३॥

अर्थ :– मिथ्यात्व और कषाय तथा विषयों से ग्रसित जीव संसार

के बीज को बोया करता है; जो इनसे छूट जाता है वह मोक्ष का बीज बोता है।

विशेषार्थ :– वास्तव में मिथ्यात्व के कारण यह जीव संसार को व संसार के नश्वर सुखों को ही सब कुछ मान लेता है; इन वासनाओं से अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय जागृत रहता है। उसी के प्रभाव से यह विषय-भोगों का तीव्र लोभी हो जाता है। इसी कारण फिर निरन्तर अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्मों को बांधा करता है–अर्थात् संसार को बढ़ाता है, इसलिए जो विवेकी इस मिथ्यात्व को व अनन्तानुबन्धी कषायों को छोड़ देता है वह व्यक्ति सम्यग्ज्ञानी होकर कर्मों की निर्जरा करता हुआ मोक्ष का बीज बोता है तभी वह मोक्षरूपी फल प्राप्त कर सकता है। अतः हिताकांक्षीजनों को उचित है कि वे इन कर्मों के उपशम या क्षय के लिए भगवत्‌वाणी को सुनें, मनन करें, धारण करें व उसके अनुसार तत्त्वों पर श्रद्धा लावें; देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप, सामायिक व दान इन कर्मों का नित्य पालन करें। तत्त्वों का मनन ही वह उपाय है जिससे स्वयं मिथ्यात्वादि का बल क्षीण होकर सम्यक्त्व भाव का प्रभाव जमता जाएगा तथा संसार का बीज नष्ट होगा और मोक्ष-वृक्ष की वृद्धि होगी। हृदय में अजर-अमर पद की आकांक्षा रखने वाले प्राणी हमेशा चिंतवन करते हैं कि अब हमारी अविद्या दूर हो गई, जिन-शासन के प्रसाद से हमें सम्यग्ज्ञान ज्योति प्राप्त हो गई अर्थात् अब हमने अक्षयआनन्द, अनन्तशक्ति तथा अनन्तज्ञान के भंडाररूप आत्मतत्त्व को पहचान लिया, अतः शरीर के नाश होने पर भी मैं अमर रहूंगा। तथा इन पर पदार्थों के संयोग-वियोग से मेरा कुछ बिगड़ने वाला नहीं है; मैं तो अपने स्वभाव का ही स्वामी हूँ, मेरे स्वभाव में मुझे किसी तरह की बाधा न होकर आनन्द ही आनन्द है।

तत्त्वज्ञानियों ने कहा है कि संसार में विद्वान् तो वे हैं, जो अपने इस शरीर में परम आनन्दसम्पन्न तथा राग-द्वेष रहित परमात्मा को जानते हैं, अर्थात् परमात्मपद को अपने से पृथक् अनुभव नहीं करते हैं

तथा ऐसा सोचते हैं कि हमारा भगवान बाहर नहीं है; हमारे ही हृदय में बैठा है, जिस महाभाग में आत्मदर्शन की ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है वही वस्तुतः ज्ञानवान कहे जाने का पात्र है, तथा वही सच्चा साधक है तथा मुमुक्षु है, उसे अपने साध्य को प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लगता है। फलतः वह प्राणी मोक्षबीज को बोता है।

कषायरहितं सौख्यं, इन्द्रियाणां च निग्रहे।
जायते परमोत्कृष्ट-मात्मनो भव भेदि यत् ॥३४॥

अर्थ :– पांचों इन्द्रियों के निरोध करने से इस आत्मा के सबसे उत्तम कषायरहित वीतराग आनन्द उत्पन्न होता है जो भवभेदी अर्थात् संसार का छेदक (विनाशक) है।

विशेषार्थ :– अज्ञानियों का ज्ञानोपयोग पांचों इन्द्रियों के विषयों में लुभाकर अपनी आत्मा की तरफ नहीं आता है, इसलिए उसे आत्मा के स्वाभाविक परम निराकुल वीतराग व श्रेष्ठ आनन्द का लाभ नहीं होता है। यदि यह आत्मा इन्द्रियों के विषयों से अपना उपयोग हटाकर उसे अपनी ओर झुकाले तो उसी समय अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वाद आजाए; जैसे मिश्री के स्वाद में रसना द्वारा उपयोग के लगते ही तुरंत मिष्टता का स्वाद आने लगता है, वैसे ही जब आत्मा आत्मस्थ होता है तब ही वीतराग ध्यान उत्पन्न होता है; इसी ध्यान से संसार के कारण-भूत कर्मों का क्षय हो जाता है तथा शुद्धात्मानुभव से वर्त्तमान में स्वात्मानन्द भी मिलता है।

सम्यग्दृष्टि प्राणी सदैव अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं, वैराग्यभाव (अनासक्तिरूप) सहित रहते हैं और सोचते हैं कि हम तो अनन्तज्ञानादि सम्पन्न हैं तो फिर विपक्षी कर्मरूप विषवृक्ष को क्यों न जड़मूल से उखाड़ दें! परन्तु आत्मतत्त्व के इस यथार्थ रहस्य से अपरिचित अविवेकी मानव अपने को वर्त्तमान पर्याय में ही पूर्ण शुद्ध मान बैठते हैं और सदाचार में अकर्मण्यता दिखाकर पाप-प्रवृत्तियों में

प्रगति करते हैं। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह वैराग्य भाव को जगाकर आत्महित में प्रवृत्ति करे।

आत्मस्वरूप की साधना करने वाले प्राणी में वैराग्य का दिव्य-प्रकाश पाया जाता है, उसका अन्तःकरण वैराग्यरूप अमृत से परिपूर्ण रहता है। देखो ! अन्य धर्मों में भी आत्मतत्त्व के अभ्यासी के लिये वैराग्य की महत्ता स्वीकार की गई है। वास्तव में, चित्तवृत्ति का निरोध योग है; चित्तवृत्ति की चंचलता का निवारण अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा साध्य है; आचार्यों ने कहा है कि इसमें संदेह नहीं है कि मन चंचल है और उसे वश में करना भी कठिन है; परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इस मन को वश में किया जा सकता है—

असंशयं महावाहो ! मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ गीता. अ० ६ ॥

सारांश यह है कि अपनी पांचों इन्द्रियों को तथा मन को रोककर आत्म-सुख को प्राप्त करो, जो अनन्त सुख का भण्डार है ऐसे आत्मसुख के लिए वाहरी पर-पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती; न किसी विशेष स्थान की जरूरत पड़ती है; न धनादि द्रव्यों की आवश्यकता रहती है परन्तु आवश्यकता एक मात्र संसार, शरीर और भोगों से विरक्तिभाव धारण करते हुए अपने आत्मस्वरूप को पहचानने की है और उसमें तल्लीन होने की है। इसी का नाम मोक्षमार्ग है।

कषायान् शत्रुवत् पश्येत्, विषयान् विषवत्तथा।
मोहं च परमं व्याधि-मेवमूचुर्विचक्षणाः ॥ ३५ ॥
कषायविषयैश्चौरैः, धर्मरत्नं विलुप्यते।
वैराग्यखड्गधाराभिः, शूराः कुर्वन्ति रक्षणम् ॥ ३६ ॥

अर्थ :– चारों कषायों को शत्रु के समान, इन्द्रियों के विषयों को विष के वरावर और मोह को वड़े भारी रोग के समान देखना चाहिए। इस तरह प्रवीण ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। वास्तव में, यह रत्नत्रयमय धर्म कषाय तथा विषयरूपी चोरों से चुराया जाता है, शूरवीर पुरुष वैराग्य-

रूपी तलवार की धारों से उनको रोककर व निग्रह करके अपने रत्नत्रय-धर्म की रक्षा करते हैं।

विशेषार्थः— संसार के अनुभवशील ज्ञानी महात्माओं की यह शिक्षा है कि जो कोई अपना भला चाहता है उसको उचित है कि मिथ्यात्व-भाव को भयंकर रोग के समान जानकर उसका शीघ्र से शीघ्र इलाज करे। क्रोधादि कषायों को कर्मबन्ध के कारण जानकर अपने शत्रु समझे, क्योंकि इन्हीं के कारण इस प्राणी को संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है तथा इन्द्रियों के विषयों को विष के समान जानकर उनका संसर्ग न करे; क्योंकि इन विषयों का सेवन करने पर तृष्णा का ऐसा विष चढ़ जाता है जो भव-भव में कष्ट देता है। यह अज्ञानी भोला प्राणी संसार के जाल में उलझता ही चला जाता है फिर अनन्तकाल में भी निकलना दुर्लभ हो जाता है।

यथार्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है, निश्चय से यह आत्मानुभवरूप है अर्थात् आत्मा का स्वभाव ही है; इसको कषायों ने तथा विषयों ने ऐसा छिपा दिया है कि इस धर्मरत्न का पता ही नहीं चलता है। संसार में वे ही सच्चे योद्धा हैं जो आकिंचन्य धर्मरूपी खड्ग लेकर इन विषयकषाय रूपी चोरों पर ऐसा तीक्ष्ण प्रहार करते हैं कि वे दुष्ट घायल होकर भाग जाते हैं तब रत्नत्रय धर्म की रक्षा स्वयमेव हो जाती है। इस जगत् में मेरा कुछ नहीं है, मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा भाव आकिंचन्य धर्म है अर्थात् यही भाव परम वैराग्य की खड्ग है।

देखो! महान् पुरुषों ने मकड़ी की तरह जाल बुनकर और उसी में फंसकर जीवन गमाने की चेष्टा नहीं की; परन्तु सम्पूर्ण विषयभोगों, कषायों और विकारों पर अपने तत्त्वज्ञानरूपी शस्त्र से प्रहार करके परिपूर्ण आत्मतत्त्व को पाने के लिए दुर्बलताओं के वर्धक संकीर्ण गृहवास को तिलांजलि दी और दिगम्बर मुद्रा धारण करके आत्मसाधना निमित्त अन्तर-बाहिर परिग्रह को त्यागकर महाव्रतरूप प्रशस्त पथ को

स्वीकार किया। उन्हीं तत्त्वज्ञानी मुनिराजों ने अपनी सच्ची और सुदृढ़ साधनाओं के फलस्वरूप कर्म-राशि को चूर्ण करके अनन्त आनन्द, अनन्तज्ञान तथा अनन्तशक्ति, अविनाशी जीवन आदि अनुपम विभूतियों का अधिपतित्व प्राप्त किया था। लेकिन महाव्रतों की असिधारा पर एकदम चलने की शक्ति मोही और विषयों में फंसे हुए, वासनाओं के दासों में कहाँ है, वे भला कैसे आत्म-जागरण के उज्ज्वल पथपर एका-एक चल सकते हैं। उन्हें प्राथमिक अवस्था में पंच अणुव्रतों को अवश्य धारण करना चाहिए तथा षट्कर्म आदि साधन करते हुए हर समय यह सुन्दर हितकारिणी भावना भानी चाहिए कि कब वह शुभ दिन आएगा कि मैं सर्व मोह-जाल को छोड़कर मुक्तिदायिनी दिगम्बर दीक्षा धारण करते हुए आत्मस्वरूप में लोन होऊंगा। यथार्थ में बात यह है कि जिन महाभागों की नाव संसार सागर के किनारे पर आ गई है, उनके समागम से, पवित्र ग्रन्थों के अनुशीलन से और सुदैव से आत्मनिर्मलता के योग्य सुदिन के आने पर किसी किसी सौभाग्यशाली की मोहांधकार-निमग्न आत्मा में निर्मलज्ञान-सूर्य के उदय को सूचित करने वाली विवेक-रश्मियां अपने पुण्य प्रकाश को पहुंचाकर जीवन को आलोकित करने लगती हैं।

शान्ति की वास्तविक प्यास जब आत्मा में उत्पन्न होती है तब वह प्राणी सोचता है कि मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? मेरा क्या स्वभाव है? मेरे जीवन का ध्येय क्या है? उसकी पूर्ति का उपाय क्या है? ऐसे प्रश्नों का समाधान करने के लिए जिस महान्-आत्मा ने सदाशयतापूर्वक प्रयत्न किया, वास्तव में उसी प्राणी ने अपना मार्ग पकड़कर संसार, शरीर, भोगों से विरक्त होकर संयम और तप में गमन किया है; परन्तु संसार में भौतिक पदार्थों के पीछे दौड़नेवाले सुखाभिलाषी प्राणी वास्तविक आनन्दामृत के पाने से वंचित रहते हैं और अन्त में इस लोक से विदा होते समय संगृहीत सामग्रियों की वियोग व्यथा से सन्तप्त होते हैं और भारी संक्लेश परिणामों से मरकर अधोगति के पात्र हो जाते हैं।

देखो ! संसार के प्राणियों को आयु के अन्त में मरना तो पड़ता ही है, चाहे शान्ति तथा साम्यभाव से मरें या रोते चिल्लाते मरें; मरना तो जरूर ही है; परन्तु अज्ञानी प्राणी अज्ञान के अंधकार में मरते समय अपने आत्मतत्त्व को भूल करके पर पदार्थों को अपना मानकर उनका वियोग होते समय छटपटाता है और रो-रो कर अधोगति का बन्ध कर लेता है जबकि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा वस्तुस्वरूप को जानते हुए इस शरीर को अपना न मानकर साम्यभावसहित संयम तथा समाधि के सम्मुख होता है और अपने स्वरूप में रमण करते हुए असार संसार के बन्धन से मुक्त होकर परम शान्ति दायक अतीन्द्रिय सुख का भोग करता है।

३. सम्यग्दर्शन का महत्त्व

कषायकर्षणं कृत्वा, विषयाणामसेवनम् ।
एतद् भो मानवाः! पथ्यं, सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ।।३७।।

अर्थ :– हे मानवो ! कषायों को कृश करके पंचेन्द्रियों के विषयों का सेवन मत करो। इसका पथ्य या हितकारी उपाय उत्तम निर्दोष सम्यग्दर्शन है।

विशेषार्थ :– विषयकषायों को दूर करने के लिए पथ्य के समान उपाय निर्दोष सम्यग्दर्शन है। जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, तब आत्मप्रतीति हो जाती है कि मेरी आत्मा मूल में परमात्मा के समान ज्ञाता-द्रष्टा अविनाशी है तथा सच्चा सुख मुझे स्वतंत्रता से, स्वानुभव से ही प्राप्त हो सकता है; यह विषयरसु खारा पानी पीने के समान विषय चाह को शमन नहीं करता है, अपितु बढ़ा देता है। ऐसी श्रद्धा कषायों का अनुभाग या बल कम करती हुई, उन्हें कृश करती हुई चली जाती है; जैसे जैसे कषायें मंद होती हैं, वैसे वैसे विषयभोगों के सेवन

की प्रवृत्ति कम होती जाती है। आचार्य कहते हैं कि हे मानवो ! इस सम्यग्दर्शन का प्रकाश करो और इसको यत्न से रखो।

मिथ्यात्व के उदय में आत्मा पर-पदार्थों में आत्मीयता की कल्पना करता है, उन्हें आत्मस्वरूप मानता है; यद्यपि वे आत्मस्वरूप नहीं होते हैं, परन्तु अज्ञानी को यह प्रतीत होता है कि ये मेरे हैं। वास्तव में जब इस अज्ञानी प्राणी के मोहादि कर्मों का सम्बन्ध रहता है तब इसके परिणामों में विकृति रहती है, उस समय यह परपदार्थों में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों की प्रवृत्ति करता है तभी तो ये तीनों मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते हैं।

सारांश यह है कि संसार में वे प्राणी धन्य हैं जिन्होंने कषायरूपी तरंगों से व्याप्त, स्नेहरूपी जल से परिपूर्ण, कामरूपी फेन से युक्त विषय-भोगरूपी मत्स्यों से भयावह इस अगाध संसार समुद्र को तपरूपी नौका में बैठकर पार कर दिया। अतः आचार्यों ने पुकार-पुकार कर कहा है हे आत्मन् ! तू पर वस्तुओं में ममत्व करके व्यर्थ में ही अनादि-काल से क्षुब्ध हो रहा है; परन्तु ये पर-वस्तुएँ तेरी हो नहीं सकतीं, इनका परिणमन तेरी इच्छा के अनुसार नहीं हो सकता है। तू अनादि-काल से अपनी परिणति को भूला हुआ है और पर को अपना मानकर दुःखी हो रहा है; वास्तव में यह पर का ममत्व ही तुझे दुःखी कर रहा है, यदि तू वस्तु के स्वभाव का विचार करके इनका ममत्व छोड़े तो तेरा सुख जो तेरे ही आधीन है, तुझे प्राप्त हो सकता है। इसलिए कषायों को कृश करके इन पंचेन्द्रियों को अपने आधीन करके मनरूपी वन्दर पर अनुशासन करते हुए उत्तम सुख को देने वाले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हुए ज्ञान-चारित्र को अवधारण करके अनन्त ज्ञान-दर्शन को प्राप्त करना चाहिए।

कषायातपतप्तानां, विषयामयमोहिनाम् ।
संयोगायोगखिन्नानां, सम्यक्त्वं परमं हितम् ॥३८॥

अर्थ :– जो प्राणी कषायों के आताप से जल रहे हैं; विषयरूपी

रोग से मूर्च्छित हैं; अनिष्टसंयोग व इष्टवियोग से दुःखित हैं उनके लिए यह सम्यग्दर्शन परम हितकारी है अर्थात् भवाम्भोधि में डूबते हुए प्राणियों को हस्तावलम्बन है।

विशेषार्थ :– तीव्र गर्मी के आताप से पीड़ितजनों को जैसे शीतल जल के सरोवर में स्नान करना हितकारी है, वैसे ही क्रोधादि कषायों का आताप आत्मा के शुद्ध शान्त आनन्दमय सरोवर में स्नान करने से शमित हो जाता है। मूर्च्छा को दूर करने के लिए जैसे अमृतजड़ी का सेवन हितकारी है, वैसे ही विषयों की चाह अतीन्द्रिय आत्मानन्दरूपी अमृत के पान से बुझ जाती है। कर्मों के उदय से अनिष्ट का संयोग और इष्ट स्त्री-पुत्र मित्रादि का वियोग होता है, उनकी चिन्ता शुद्धात्मा के मनन की शान्त हवा लगने से मिट जाती है; अतएव आत्मप्रतीति रूप सम्यग्दर्शन विषय-कषायों के दूर करने का सबसे बड़ा उपाय है।

हे आत्मन्! यदि तू मुक्तिरूपी वधू का वरण करना चाहता है, तो तुझे सम्यग्दर्शन के नगर में जो तप-संवर की अर्गला से युक्त है, क्षमारूपी दृढ़ परकोटे से सुरक्षित है, तीन गुप्तिरूपी खाई से शोभित है, क्रोध, मान, माया और लोभरूपी शत्रुओं से अजेय है, चारित्ररूपी दुर्ग में बैठकर, पराक्रमरूपी धनुष को पंच समितिरूपी प्रत्यञ्चा पर चढाकर, फिर धृतिरूपी मूठ से पकड़कर, सत्यरूपी चाप के द्वारा खींचकर तपरूपी बाण से कर्मरूपी शत्रुओं का नाश कर देना चाहिए। संसार में कषायरूपी विष, क्षमारूपी अमृत को दूषित कर देता है तथा यह कषायरूपी विषम-ग्रह प्राणियों को स्थिर नहीं रहने देता है; अतः इस कषायरूपी अग्नि को शान्त करने के लिए मानवों को आत्मध्यानरूपी जल का सिंचन करना चाहिए। वीतरागप्रणीत आत्मधर्म ही कल्पवृक्ष है, चिंतामणि रत्न तुल्य है तथा संसार रोग नाशक औषधि है, यही कामधेनु है और जीवों का परम मित्र है, ज्यादा कहाँ तक कहें यही यमरूपी सिंह के मुख से बचाने के लिए अष्टापद है अर्थात् मुक्तिनगर को पहुंचाने के लिए सुन्दर मोटरकार है तथा मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकार का नाश करने के

लिए साक्षात् सूर्य के समान है अतः शाश्वत सुख और शान्ति की इच्छा करने वाले प्राणियों को कषाय तथा विषय भोगों की लालसा छोड़कर अपने अन्दर विराजमान सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय धर्मों को अपनाना चाहिए अर्थात् आत्मरुचि प्रकट करके पर पदार्थों से ममत्व हटाकर निजस्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए।

वरं नरकवासोऽपि, सम्यक्त्वेन समायुतः।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य, निवासो दिवि राजते ॥३६॥

अर्थः– सम्यग्दर्शन से विभूषित जीव को नरक का वास भी अच्छा है परन्तु सम्यग्दर्शनरहित को स्वर्ग में रहना भी शोभा नहीं देता।

विशेषार्थ :– प्राणियों को विषय-भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती; आकुलता नहीं मिटती; स्वर्गों के देवोपनीत भोग भी तृष्णा की दाह दूर नहीं कर सकते, वहाँ बाहरी सुख सामग्री रहते हुए भी अन्तरंग में क्लेश भाव रहता है अर्थात् आर्त्तध्यान बना रहता है जबकि नरक में यद्यपि बाहरी बहुत कष्ट रहता है तथापि अन्तरंग में सम्यग्दर्शन रहने से उस नारकी को आत्मीय आनन्द का स्वाद आता रहता है; इसी कारण वह परम संतोषी व सुखी है। नरक में अशुभ के उदय को वह पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा समझता हुआ संतोष से भोग लेता है, देखो! नरक में रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि प्राणी मोक्षमार्गी है, जबकि स्वर्गवासी देव मिथ्यात्व के कारण संसारमार्गी है। स्वर्ग से चयकर मिथ्यादृष्टि जीव एकेन्द्रिय पर्याय भी धारण कर सकता है, जबकि नरक से निकलने वाला सम्यग्दृष्टि जीव तीर्थंकर तक हो जाता है; अतः सम्यग्दर्शन एक अपूर्व रत्न है।

संसार के मोही प्राणी कनक, कामिनी आदि में अपने को कृतार्थ मानते हैं; किन्तु तत्त्वज्ञ प्राणियों की स्थिति इससे निराली होती है। मृत्यु के नाम से जहाँ दुनिया घबराती है; वहाँ साधक मृत्यु को अपना स्नेही तथा परममित्र मानकर मृत्युकाल को महोत्सव मानता है; मृत्यु के विषय

में साधक की निराली दृष्टि होने के कारण अवर्णनीय विपत्तियों के आने पर भी वह सत्पथ से विचलित नहीं होता; यथार्थ में ऐसे साधक के आगे कर्मों को भी हार माननी पड़ती है। वास्तव में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार तब ही होता है जब प्राणी का अन्तःकरणरूप जल, राग-द्वेष तथा मोहादि की लहरों से चंचल नहीं रहता; इसीलिए तो कहा है कि सम्यग्दृष्टि प्राणी चाहे नरक में भी क्यों न रहे परन्तु वह अपने आत्म-तत्त्व के अनुभव से (सम्यग्दर्शन) सुख का ही रसास्वाद लेता है जबकि मिथ्यादृष्टि प्राणी चाहे स्वर्ग में भी क्यों न रहे, वह अपनी विपरीत धारणा से दुःखी ही रहता है, वास्तव में बाहरी सुख सामग्रियों की उसके कमी नहीं है परन्तु वह तो दुःख का ही अनुभव करता है।

सम्यक्त्वं परमं रत्नं, शंकादिमलवर्जितम् ।
संसारदुःखदारिद्र्यं, नाशयेत्सुविनिश्चितम् ॥४०॥

अर्थः—शंका, कांक्षा आदि आठ मुख्य दोषों से रहित यह सम्यग्दर्शन परम रत्न है, संसार के दुःखरूपी दारिद्र्य को यह निश्चय से नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ :— जैसे किसी दरिद्री मानव को निर्दोष रत्न मिल जावे तो वह उसे बेचकर लक्षाधीश बन जाता है, वैसे ही जिस किसी को सम्यग्दर्शनरूपी रत्न मिल जाता है तो वह सर्व सांसारिक कष्टों को मिटाकर परम सुखी हो जाता है; अनादिकाल से चली आई उसकी तृष्णा की प्यास मिट जाती है। जैसे जंगल में मृग को पानी न मिलने से भ्रम से पानी को झलकाने वाली बालू मिट्टी उसकी तृष्णा को शमन नहीं करती है, वैसे मिथ्यात्वी का भ्रम से माना हुआ विषयसुख तृष्णा को शमन नहीं कर सकता है। सच्चा पानी मिलने से जैसे मृग तृप्त हो जाता है, वैसे आत्मसुख मिलने से सम्यग्दृष्टि परम संतोषी रहता है; इसलिए जगत् में सम्यग्दर्शन के बराबर कोई अमूल्य रत्न नहीं है, ऐसे सम्यग्दर्शन को व्यवहार में आठ अंग सहित पालना चाहिए तब उसके विरोधी आठ

दोष नहीं रहेंगे । वे आठ अंग निम्न प्रकार हैं— (१) **निःशंकित**– सात तत्त्वों में तथा देव, शास्त्र, गुरु में दृढ़ श्रद्धा रखनी और निर्भय होकर सत्य मोक्षमार्ग पर चलना । (२) **निःकांक्षित**– विषय सुख को पराधीन, दुःख का बीज व संसार में भ्रमाने वाला समझकर भोगों की चाह नहीं करना । (३) **निर्विचिकित्सा**– दुःखी, अनाथ, रोगी, दरिद्री तथा साधु और व्रती को रोगग्रस्त या दुःखी देखकर घृणा नहीं करनी परन्तु उनकी वैयावृत्य करके अपने को धन्य समझना । (४) **अमूढ़दृष्टि**– मूर्खता से देखादेखी किसी कुदेवादि की भक्ति न करना तथा प्रशंसा न करना । (५) **उपगूहन**– अपने अवगुणों को छोड़ते हुए गुणों को बढ़ाना तथा अपनी ख्याति प्रतिष्ठा न चाहना तथा पराये अवगुणों के ग्रहण का स्वभाव न रखकर पर को सन्मार्ग पर लगाने का भाव रखना । (६) **स्थितिकरण**– अपना मन धर्मसेवन में शिथिल हो तो दृढ़ करना व दूसरों को सन्मार्ग पर आरूढ़ करना तथा धर्म से डिगते हुए प्राणियों को धर्म में स्थिर करके हर्ष मनाना । (७) **वात्सल्य**– धर्मात्माओं के साथ गौवत्स के समान प्रेम रखना तथा प्राणी मात्र पर दया करना । (८) **प्रभावना**– जैनधर्म का प्रकाश करके अज्ञान व मिथ्यात्व दूर करना, शास्त्र लिखवाकर प्रचार करना व साधुओं का विहारादि करवाना, धार्मिक उत्सवों में तन-मन-धन लगाना । इन आठ अंगों को जो व्यवहार में पालता है, उसके सम्यक्त्व प्रकट होता है तथा आत्म-प्रतीति होती है जिसके होने पर मानव एक दिन महामानव बन जाता है ।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य, ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य, संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

अर्थ :– जो भव्य आत्मा सम्यक्दृष्टि है, उसको निश्चय से निर्वाण का लाभ होगा और मिथ्यादृष्टि जीव हमेशा इस संसार में भ्रमण करता रहेगा ।

विशेषार्थ:– सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं, जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं स्वयं निश्चय से मोक्षस्वरूप हूँ; मैं स्वयं सिद्धसम शुद्ध हूँ;

यह कर्मयोग मेरे स्वभाव का घातक है, इसे अवश्य दूर करना चाहिए। इस तरह वह आत्मानुभवरूपी साबुन या सोड़े के द्वारा अपने आत्मारूपी वस्त्र को अवश्य शुद्ध करके शीघ्रातिशीघ्र मुक्त हो जाएगा। परन्तु मिथ्यादृष्टि को न तो मोक्ष की और न ही मोक्षमार्ग की श्रद्धा होती है, वह तो संसार के क्षणिक सुख को ही सुख मानता है और धन-धान्यादि पर-पदार्थों के संग्रह में आसक्त रहता है। वह संसार से पार होने की कला से अनभिज्ञ रहता है तथा अपने पाप-पुण्य के उदय के अनुसार इस भयानक संसारवन में भटकता ही रहता है।

भो भव्यात्माओ ! यह सम्यग्दर्शन संसार के समस्त दुःखों का नाश करने में समर्थ है, अतः इसके धारण और रक्षण में प्रमादी एवं आलसी मत बनो। निरन्तर ऐसा उद्यम करो जिससे सम्यक्त्व दृढ़ और उज्ज्वल बना रहे, क्योंकि ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की आधार-शिला सम्यग्दर्शन ही है। जैसे नगर में प्रवेश करने का कारण द्वार है, बिना द्वार के नगर में प्रवेश नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार मोक्षमहल में प्रवेश करने की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। जैसे मुख की शोभा नेत्रों से है, उसी प्रकार ज्ञानादि अनन्तगुणों की शोभा भी सम्यग्दर्शन से है, जैसे वृक्ष की स्थिति मूल (जड़) से है वैसे ही आत्मिक गुणों की अवस्थिति सम्यग्दर्शन से है, ऐसा दृढ़ विश्वास करके ज्ञानादि शेष आराधनाओं की शुद्धि के लिए सप्त भयों का और पच्चीस दोषों का विनाश करने वाले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए।

आत्मसाधना का प्राण निर्भीकता है, जिन्हें इहलोक, परलोक, मरणादि भयों की चिन्ता सताती है, वे साधना के सच्चे मार्ग में नहीं चल सकते। इस आत्मज्ञान में यह अलौकिकता है कि साधक विपत्ति को दुर्दैव की कृपा मानता है और भली-भांति जानता है कि यह आत्मा पूर्वबद्ध-कर्म का कर्जा विपत्ति के बहाने चुकाकर ऋणमुक्त हो रही है; आत्म-शक्ति अथवा आत्मा के गुणों के विषय में यथार्थ विश्वास (सम्यग्दर्शन) यथार्थ ज्ञान तथा सम्यक् क्रिया की भी अनिवार्य आवश्यकता है। साधना की भूमिकारूप विशुद्ध श्रद्धा यथार्थ में निर्वाण के लिये महत्त्व-

पूर्ण है, इसी प्रकार साधना के लिए शील, सदाचार, संयम आदि भी अपना असाधारण महत्त्व रखते हैं।

पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ, धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः, सम्यक्त्वदृढमानसः ॥४२॥

अर्थ :- जो कोई प्राणी सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को दृढ़ता से अपने मानस में संजोकर रखता है तथा सदाचार से सम्पन्न है वही पंडित है, वही विनयवान है, वही सुन्दर है, उसी का दर्शन प्रिय है तथा वही धर्म-मार्ग पर चलने वाला धर्मात्मा है।

विशेषार्थ :- संसार में पंडित वही है, जिसके पण्डा अर्थात् भेद-विज्ञान है, जो आत्मतत्त्व को परसे भिन्न समझकर उसका परम प्रेमी है, सम्यग्दृष्टि है और श्रद्धा के अनुकूल मोक्षमार्ग में चलने वाला है। केवल शास्त्रों का ज्ञाता पंडित नहीं है। विनयवान शिष्य वही है जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रधारियों की बड़ी भक्ति व विनय करता है। संसार में वही सत्पुरुष दर्शन योग्य है जिसके भावों में रत्न-त्रय धर्म प्रकाशमान रहता है। वही धर्म का ज्ञाता है जो भले प्रकार आत्मतत्त्व को जानकर उसका स्वाद लेता है अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना न कोई पंडित हो सकता है न भक्त, न दर्शनीय हो सकता है और न धर्मज्ञाता ही।

अपने विचारों से प्राणी चाहे तो इस पृथ्वी को स्वर्गधाम बना सकता है, चाहे तो नरककुण्ड भी। प्राणी मन में जैसा विचार करता है वैसा प्रायः बाह्य में प्रकट होता है, चाहे कोई अन्धेरे में छिपकर विचार करे परन्तु वह भी प्रकट हुए बिना नहीं रहता है। यथार्थ में मानव तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है, तब वह भेदज्ञान के द्वारा निज और परको पहचानता है, उसी क्षण प्राणी अगणित चिन्ताओं से मुक्त होकर उस उच्च शान्ति को प्राप्त करता है जिसकी बड़े से बड़े नरेश, वैभव-शाली गृहस्थ तथा श्रेष्ठ गौरवशील राजनीतिज्ञ जन स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते।

देखो ! दुनिया की उलझनों में फँसे व्यक्ति को क्षणभर भी चैन नहीं मिलती है, लोकोपकार आदि सत्कार्यों से सांसारिक आनन्द और अभ्युदय मिलते हैं; परन्तु निःश्रेयस्, निर्वाण-मुक्ति, अविनाशी सुख का उपाय तो संसार, शरीर तथा भोगों से विमुख होकर, आत्मा के सम्मुख होकर जीवन को वीतराग एवं वीतमोह बनाने में है। सच तो यह है कि तत्त्वज्ञान का रसिक मानव तो आत्मोन्मुख होकर पर पदार्थों से ममत्व नहीं करता, परन्तु जो व्यक्ति कोरे तत्त्वज्ञान की डींग मारते हैं तथा विषयवासनाओं में लिप्त रहते हैं वे तो मात्र आत्मवंचना करते हैं। इसलिए प्राणियों को सदाचार सहित रहना चाहिए। सदाचार तब ही होता है, जब सद्विचारों को अपनाया जावे। ऐसे सद्विचार प्राणियों के तब ही होते हैं जब संसार से भय होकर आत्मतत्त्व में विश्वास हो।

जरामरणरोगानां, सम्यक्त्वज्ञानभेषजैः ।
शमनं कुरुते यस्तु, स च वैद्यो विधीयते ॥४३॥

अर्थ :– जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी औषधियों से अपने जन्म-जरा और मरणरूपी रोगों को दूर कर देता है, वही वैद्य कहा जाता है।

विशेषार्थ :– शरीर क्षणभंगुर है। इसके रोगों को शान्त करने वाला जड़वैद्य है, यथार्थ तत्त्व से वैद्य नहीं है। संसार में सच्चा वैद्य वही है जो आत्मज्ञान की औषधि सेवन करके अनादिकाल से पीछे लगे हुए अपने जन्म-जरा-मरणरूपी रोगों को दूर करता है और अन्य प्राणियों को भी ज्ञानदानरूपी औषधि बताकर उनके रोग मिटाता है। जन्म-जरा-मरण के समान कोई भी भयंकर रोग नहीं है; इन रोगों को दूर करने की दवा रत्नत्रय धर्म है; उसमें भी सम्यग्दर्शन सहित आत्मज्ञान प्रधान है; इसका प्रयोग करने वाला ही तत्त्वज्ञानी वैद्य है।

संसार के जन्म-मरणादि रोगों को शान्त करने के लिए प्राणियों को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिए।

इस यथार्थ चिकित्सा में 'निःशल्यो व्रती' सबसे बड़ा परहेज है, क्योंकि शल्य रहने पर प्राणियों को कभी शान्ति नहीं मिलती। ये शल्य तीन प्रकार के बताए गए हैं, माया, मिथ्यात्व और निदान। ये तीनों जब तक रहते हैं तब तक पूर्ण शान्ति प्राप्त नहीं होती।

दूसरों की वञ्चना करने का नाम "माया" है; विपरीताभिनिवेश का नाम मिथ्यात्व है तथा संसार के भोगों की इच्छा का नाम "निदान" है। ये तीनों शल्य संसार-निमित्तक हैं, आचार्यों ने कहा है कि निःशल्य प्राणी ही व्रती होता है। जो शरीर में प्रवेश किए हुए कांटे की भांति निरन्तर शरीर व मन के संताप में कारण हो उसे शल्य कहते हैं। अतः हे आत्मन्! करुणावान गुरु बार-बार यही समझाते हैं कि हृदयरूपी पिटारे (करण्ड़) में शल्यरूपी हलाहल विष को न छिपाकर अन्तःकरण में निर्मलता धारण करो। प्राणियों के सम्पूर्ण जीवन में किए हुए तप-व्रत और संयम आदि का फल निःशल्य होने से ही होता है; इसलिए मोक्षार्थियों को सतर्कतापूर्वक शल्य का त्याग कर देना चाहिए। आजके युग में उदारता, समता, विश्वप्रेम आदि के मधुर शब्दों का मात्र उच्चारण करने वालों तथा अपनी स्वार्थपरता का पोषण करने वालों की कमी नहीं है सदाचारी जन कोई विरले ही मिलते हैं।

जन्मान्तरार्जितं कर्म, सम्यक्त्वज्ञानसंयमैः।
निराकर्त्तुं सदा युक्त-मपूर्वं च निरोधनम् ॥४४॥

अर्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के द्वारा जन्म-जन्म में संचित किए हुए कर्मों को नित्य ही दूर करना चाहिए तथा आनेवाले कर्मों को प्रयत्नपूर्वक रोकना चाहिए।

विशेषार्थ :- विना भोगे, कर्मों की स्थिति व अनुभाग तथा शक्ति को घटाकर आत्मा के प्रदेशों से छुड़ा देना अविपाक निर्जरा है; तथा नवीन आनेवाले कर्मों को न आने देना संवर है। संवर या निर्जरा दोनों का उपाय आत्मचिंतन तथा संयम है, इसी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान

और चारित्र की एकता कहते हैं। आत्मध्यान की अग्नि से पूर्वबद्ध कर्म जलते हैं तथा नवीन कर्म नहीं आते; अतएव सम्यग्दर्शन के प्रताप से ज्ञानरूपी सूर्य की रोशनी में अपनी आत्मा को संयम के माध्यम से शुद्ध कर लेना योग्य है; क्योंकि ऐसा किये बिना संसारचक्र से छुटकारा होना असम्भव है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के हृदय में आत्मा का देदीप्यमान स्वरूप प्रकट प्रतिभासित होता है, कैसा है उसका प्रतिभास! ज्ञानज्योति से प्राप्त होने वाले आनन्द रस से भरा हुआ साक्षात् पुरुषाकार अमूर्त्तिक चैतन्य धातु का पिण्ड अनन्त गुणों से युक्त अपने चैतन्य को जानता है; अतः इसके प्रकाश से वह ज्ञानी आत्मा परद्रव्यों में तनिक भी रञ्जित नहीं होता है। क्योंकि वह निजस्वरूप को ज्ञाता, द्रष्टा, पर द्रव्य से भिन्न शाश्वत और अविनाशी जानता है तथा पर द्रव्य का स्वभाव क्षणभंगुर, नाशमान और अपने स्वभाव से भिन्न जानता है। उस स्थिति में वह सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण से भी नहीं डरता; वास्तव में सम्यग्ज्ञानी पुरुष मरण का अवसर आने पर विचारता है कि मुझ आत्मा का तो मरण होता नहीं, यह शरीर निश्चित ही नाशवान है, क्योंकि यह पुद्गल का पिण्ड है, इसका स्वभाव ही गलना, सड़ना है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी पुरुष की क्रिया भी समीचीन होती है, वह हर समय अन्याय-अत्याचार से डरता हुआ संयम का आश्रय लेता है और इस शरीर से भारी तप आदि करके अनादिकाल के अर्जित कर्मों को नष्ट कर देता है। इस प्रकार वह महान्पुरुष अनन्त सुख के राज्य को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है।

सम्यक्त्वं भावयेत् क्षिप्रं, सज्ज्ञानं चरणं तथा।
कृच्छ्रात्सुचरितं प्राप्तं, नृत्वं याति निरर्थकम् ॥४५॥

अर्थ :— मानवों को शीघ्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र की भावना करनी चाहिए; बड़ी कठिनता से प्राप्त किया हुआ यह उत्तम मनुष्य जन्म व्यर्थ ही बीता जा रहा है।

विशेषार्थ :– मानवों को रत्नत्रय सहित आत्मध्यान का अभ्यास शीघ्र ही प्रारम्भ कर देना चाहिए; फिर कर लेंगे, ऐसा प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक तो, बड़े पुण्य के उदय से, बड़ी कठिनता से यह मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है, इस पर्याय में ही पूर्ण संयम की आराधना हो सकती है, बाकी तीन गतियों में संयम नहीं धारण किया जा सकता तथा सम्पूर्ण कर्मों का नाश करने वाला पूर्ण ध्यान नहीं हो सकता। दूसरे में, इस कर्मभूमि में मनुष्य की स्थिति बनी रहे ऐसा भी नियम नहीं है, अकाल मरण भी हो सकता है; इसलिए एक घड़ी भी वृथा न खोकर निरंतर आत्मज्ञानसहित संयम तथा ध्यान का अभ्यास करके नरजन्म को सफल कर लेना चाहिए; जो प्राणी प्रमादवश धर्म का साधन नहीं करते हैं वे मनुष्य-भव का मूल्यांकन न करके इसे वृथा खो रहे हैं।

आत्मा से शरीरादि पदार्थ भिन्न हैं, इस भेदविज्ञान की दृढ़ता जिस मानव को हो गई है उसे व्रत, तप, संयम एवं शीलादि का दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए; यदि ऐसे मनुष्य चारित्र धारण करने में कायरता लाते हैं तो जीवन पर्यन्त भले ही आत्मा-आत्मा रटते रहो, परन्तु अनादिकालीन कर्मों का नाश नहीं होने वाला है, जब वे सम्यक्त्वसहित चारित्र को धारण करेंगे तभी ध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे।

यथार्थ में, मात्र सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता; इनके साथ सम्यक्चारित्र होने से मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता श्रीमद् उमास्वामी ने सर्व प्रथम सूत्र में कहा है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः; इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों की एकता होने पर ही मोक्षमार्ग होता है। इन तीनों में से एक या दो होने से मोक्षमार्ग नहीं बनता, ऐसा आचार्यों का अभिप्राय है। मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता तो सर्वार्थसिद्धि के देवों के ३३ सागर प्रमाण सम्यग्दर्शन व ज्ञान का सद्भाव पाये जाने पर उन्हें भी मोक्ष हो जाता परन्तु ऐसा होता

नहीं क्योंकि वहाँ चारित्र का अभाव है; वे चतुर्थ गुणस्थान से एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकते, अर्थात् उन्हें पंचमगुणस्थान भी प्राप्त नहीं हो सकता।

अतीतेनापि कालेन, यन्न प्राप्तं कदाचन ।
तदिदानीं त्वया प्राप्तं, सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥४६॥

अर्थ :– भूतकाल में कभी भी जिसे नहीं पाया था, उस श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन को तूने इस समय पा लिया है।

विशेषार्थ :– वास्तव में सम्यग्दर्शन खेवटिया है जो भवसागर से पार करने वाला है, यदि यह मिल गया होता तो भूतकाल में इस संसार-सागर में भटकना नहीं पड़ता। यही सीधे मोक्षद्वीप में ले जाने वाला है, बड़े ही शुभ संयोग से अब जो तूने सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्राप्त कर लिया है तो यदि इसको चिन्तामणि रत्न समझकर इससे लाभ नहीं उठाया तो पीछे पछताना ही रहेगा; इसलिए इसकी दृढ़ता से रक्षा करनी चाहिए। इसी आत्मश्रद्धासहित आगमज्ञान को बढ़ाते हुए जितना-जितना कषायों का रस मंद होता जाएगा उतना-उतना चारित्र धारण करते हुए आत्मशुद्धि का प्रयत्न प्रमाद छोड़कर कर लेना श्रेयस्कर है; अवसर चूकने पर भारी दुःख होगा।

सम्यग्दर्शन के सामने तीन लोक की सम्पदा का भी कोई मूल्य नहीं है; देखो! राजा श्रेणिक ने सम्यक्त्व के अभाव में मुनिमहाराजपर घोर उपसर्ग करके ३३ सागर की नरकायु बाँध ली थी; फिर भगवान् महावीर के समवसरण में जाकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके उस दीर्घ नरकायु को काटकर मात्र ८४ हजार वर्ष प्रमाण बना ली थी और उसी सम्यक्त्व के प्रभाव से वे भविष्यत्काल के प्रथम तीर्थंकर होने वाले हैं, अतः मानवों को अविनाशी सुख की प्राप्ति हेतु मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्वरूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए और प्राप्त होने पर दृढ़ता से इसकी रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि तीनों

लोकों में और तीनों कालों में ऐसा कोई भी सुख नहीं है जो सम्यक्त्व-रूपी महाबन्धु के द्वारा न प्राप्त होता हो।

भो आत्मसुखार्थी प्राणियो ! देखो ! स्वात्मसिद्धि को सत्पुरुष चिरकाल तक घोर तपश्चरण से प्राप्त करते हैं; किन्तु मोही-रागी-द्वेषी जीव बिना कुछ किए ही अपने को संसार अवस्था में ही सिद्ध समान मानते हैं तथा रात-दिन भोगों में आसक्त रहते हुए, चारित्रधारियों की अवहेलना करते रहते हैं और स्वाध्याय से प्राप्त अपने कोरे ज्ञान से ही बिना चारित्र के तथा बिना संयम-तप के ही अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं तथा कहते हैं कि हमको तो सिद्धों का सा आनन्द आता है उनके लिए आचार्यों ने कितना सुन्दर कहा है—यह कथन पूर्ण सत्य है—

दोहा— विषयी सुख का लालची, सुन अध्यातमवाद ।
त्यागधर्म को त्यागकर, करे साधु अपवाद ॥

सच तो यह है कि मिथ्यात्व से ग्रस्त आत्मा को सत्पुरुषों से तथा धार्मिक जनों से घृणा होती है, उनको अध्यात्मवाद रूप रसायन हजम न होने से वे कुपथगामी बन जाते हैं।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते, चारित्रं कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्तिं, शमे च परमां रतिम् ॥४७॥

अर्थ :— आज जब तुझे श्रेष्ठ मानवजन्म प्राप्त हो गया है तो तुझे पुरुषार्थ करके चारित्र धारण करना चाहिए तथा सच्चे धर्म में उत्तम भक्ति करके शान्तभाव में परम प्रीति करनी चाहिए।

विशेषार्थ :— संसार में मानवजन्म के समान कोई उत्तम जन्म नहीं है; 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' ऐसे दुर्लभ जन्म को पाकर बुद्धिमान् मानव वही है जो उसको सार्थक करे। अतएव मनुष्यों को सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनि या श्रावक का चारित्र अपनी शक्ति को न छिपाते हुए अवश्य पालना चाहिए। रत्नत्रयमय धर्म में दृढ़ भक्ति रखनी चाहिए तथा राग-द्वेष छोड़कर वीतरागभाव में रत रहना चाहिए; आत्मानुभव के

अभ्यास से वीतरागभाव बढ़ता है। इसलिए निरन्तर आत्म-चिंतन से संवर व निर्जरा करते हुए आत्मा को शुद्ध करना चाहिए, ऐसा अवसर फिर नहीं मिलेगा।

आचार्यों ने बताया है कि यदि तुम पूर्णरूप से दुःख का अभाव करना चाहते हो तो दिगम्बर श्रमण अवस्था धारण करो, परन्तु भाई! कोरी बातों से, ज्ञान की गाथा गाने से, संसार से छुटकारा होने वाला नहीं। कई भाई कहते हैं कि चारित्र में क्या रखा है! कषायों को कृश करना चाहिए, लेकिन वे भाई धोखा खा रहे हैं, 'कषायों को कृश करना' मुँह से कह देना सरल बात है, वास्तव में कषाय तथा राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए बाहरी वस्तुओं का त्याग जरूरी है, जैसे धान्य का बाहरी छिलका पहिले अलग किया जाता है उसके पश्चात् तंदुल की भीतरी मलिनता दूर करते हैं। परिग्रह आदि सामग्री को सर्व प्रथम दूर करना चाहिए तब कहीं अन्तरंग कषायें तथा राग-द्वेष कृश होते हैं। जब तक बाहरी परिग्रह आदि का ममत्व नहीं छूटता तब तक भला, विचार तो करो अन्तरंग कषाय आदि कैसे छूटेंगे? यह विचित्र अध्यात्मवाद है जो शरीर से आत्मा की भिन्नता की खूब बातें करते हैं, स्वतत्त्व, परतत्त्व की खूब चर्चा करते हैं; परन्तु ऐसा काम करने से डरते हैं जिससे शरीर की मुटाई कुछ कम हो जाय या इन्द्रियों के पोषण करने वाले मधुर पदार्थों की प्राप्ति रुक जाय, बातें आत्मा की करते हैं किन्तु आचरण चार्वाक पंथ सदृश रहता है वास्तव में आत्मा की आराधना और विषय-भोग इन दोनों में विरोध हैं; आचार्यों ने कहा है कि जिस सामग्री से चैतन्यमय आत्मा का हित होता है उससे जड़ शरीर का हित नहीं होगा तथा जिस सामग्री से शरीर का हित होगा उससे जीव का हित नहीं होगा।

अनादिकालजीवेन, प्राप्तं दुःखं पुनः पुनः।
मिथ्यामोहपरीतेन, कषायवशवर्तिना ॥४८॥

अर्थ :– यह प्राणी अनादिकाल से मिथ्यात्व के संयोग से कषायों के

वश होकर बार-बार भारी कष्ट उठाता रहा है।

विशेषार्थः— यह जगत् अनादि है। अनादि से ही इस प्राणी का संसार में परिभ्रमण हो रहा है, इसका कारण मोहभाव है। मिथ्या-श्रद्धान से हमने संसारवास को ही उत्तम जाना, विषय-सुख को ही सुख समझा, अतीन्द्रिय आनन्द व मोक्षतत्त्व की कभी प्रतीति नहीं की; इस कारण तृष्णा की पूर्ति के लिए लोभ कषाय में फंसकर मायाचार करके, द्वेषियों से क्रोधभाव करके इस मूढ प्राणी ने बार-बार घोर कर्म बाँधे और बार-बार दुर्गति में पड़कर घोर असहनीय कष्ट पाये। अब प्राणियों को उचित है कि अपनी आत्मा की दुर्गति से रक्षा की जावे; अतएव नये कर्म-बन्धन न करते हुए पुराने संचितकर्मों को संयम तथा तप के द्वारा नष्ट करें, यही मानवजन्म की सार्थकता है।

वास्तव में, जगत् के मोहान्ध अज्ञानी प्राणियों को इस बात का बोध नहीं होता कि मेरी आत्मा भिन्न है और ये शरीरादि पर पदार्थ भिन्न हैं, इसी कारण यह अज्ञानी भ्रम से इस शरीर को ही आत्मा मानकर इससे ममत्व करता है, इसके नाश होने पर भारी दुःख करता है और बहुत-बहुत शोक करता है—

मै सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप, सुभग मूरख प्रवीन॥
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दुःखदेन; तिन्हीं को सेवत गिनत चैन॥

(छहढाला—दौलतराम)

हाय! हाय! मेरी स्त्री का अब क्या होगा? मेरे प्यारे पुत्र अभी छोटे हैं; उन्हें कौन सम्भालेगा? मेरे पिता और प्यारे भ्राता मेरे बिना कैसे रहेंगे इत्यादि। सच तो यह है कि अज्ञानीजन इस वर्तमान पर्याय को सत्य और अपनी समझकर उसके विनाश में अनेक प्रकार के विलाप कर-कर के मरते हैं और महाक्लेश को प्राप्त होते हैं; परन्तु ज्ञानी पुरुष इससे विपरीत इस प्रकार विचार करते हैं कि अहो! इस जगत् में कौन

किसका पति, कौन पुत्र, कौन माता, कौन पिता, किसकी हवेली, किसका धन, किसका वैभव अर्थात् ये सब झूठे हैं पूर्व कर्मों के वश इनका संयोग-वियोग होता रहता है, इनमें कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। जैसे स्वप्न में प्राप्त हुआ राजपद, इन्द्रजाल के खेल के समान है, इसी प्रकार ये समस्त वस्तुएँ रमणीक दिखाई दे रही हैं, किन्तु वस्तुस्वरूप का विचार करने पर ये स्थायी नहीं हैं; यदि ये स्वभाव से वस्तुपने को प्राप्त होतीं तो शाश्वत रहतीं; नाश को प्राप्त क्यों होतीं। ऐसा जानकर मैं इनसे ममत्व छोड़ता हूँ। ये रहे तो रहें और जायँ तो जायँ मेरा इनसे कोई मतलब नहीं। मैंने इन्हीं परवस्तुओं को अपनाकर आज तक अपना अहित किया, अब मैं इनसे ममत्व छोड़ता हूँ, इस प्रकार ज्ञानी पुरुष विचार करते हैं।

सम्यक्त्वादित्यसंभिन्नं, कर्मध्वान्तं विनश्यति।
आसन्नभव्यसत्वानां काललब्ध्यादिसन्निधौ ॥४९॥

अर्थ :– संसार में निकट भव्य जीवों के काल-लब्धि आदि की निकटता होने पर कर्मों का अंधकार सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य से दूर होता हुआ नष्ट हो जाता है।

विशेषार्थ :– उद्यम करते-करते जब मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषायों का बल इतना कम हो जावे कि करण-लब्धि के प्रताप से उनका उपशम होकर सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जावे तब ही काललब्धि आगई ऐसा समझना चाहिए। वास्तव में जिस समय जो काम हो वही उसकी काललब्धि है; यह काललब्धि निकट भव्य जीवों को ही प्राप्त होती है; जिनका संसारवास शीघ्र छूटनेवाला है वे ही निकट भव्य हैं; यह वात सर्वज्ञ भगवान के ज्ञानगोचर है।

सम्यग्दर्शन एक अपूर्व प्रकाश फैलाने वाला परम तेजस्वी सूर्य है, जब यह प्रकाश होता है तब प्राणियों के अनादिकाल के मिथ्यात्वरूपी अंधेरे का बिलकुल लोप हो जाता है, उस समय पूर्वबद्ध कर्म भी ढीले

पड़ जाते हैं। जैसे जिस वृक्ष के पत्ते हरे हों परन्तु जड़ कट गई हो उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के कर्मों की स्थिति हो जाती है। सम्यक्त्व के होते हुए आत्मानुभव की धूप जितनी-जितनी तेज होती है उतनी-उतनी ही जल्दी शेष कर्मों की राशि का नाश हो जाता है और आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाता है।

अहो देखो! मोह का स्वभाव, कि जो यह सर्व सामग्री प्रत्यक्ष में ही पर है, विनाशीक है और उभयलोक में दुःखदायी है तो भी यह संसारी जीव अपने अज्ञान से इन्हें अपनी मानता है और इन्हें अपने से जुदा होते देखकर भारी दुःख करता है। इसके विपरीत ज्ञानवान अपने स्वभाव का ही अवलोकन करता है, काल का आगमन देखकर भी वह डरता नहीं क्योंकि वह जानता है कि काल का प्रभाव तो इस शरीर पर है मेरे ऊपर नहीं; जैसे मक्खी दौड़-दौड़ कर अपवित्र वस्तुओं पर जाकर बैठती है परतु अग्नि पर कदापि नहीं बैठती, वैसे ही यह काल दौड़-दौड़ कर इस शरीर को ग्रसित करता है किन्तु मुझ से दूर-दूर ही भागता है, मुझ जीव-आत्मा को कभी ग्रसित नहीं कर सकता है, क्योंकि मैं तो अनादि, अविनाशी, चैतन्य देव और त्रैलोक्य पूज्य हूँ, अतः ऐसी मेरी आत्मा पर काल का वश नहीं चलता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि को मरण का भय नहीं होता, वह जानता है, जो मरता है वह तो पहले से ही मरा हुआ है और जो जीवित है वह पहिले से ही जीवित था, जो मरता है वह जीता नहीं है और जो जीता है वह मरता नहीं है; इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को जानने से वह हर समय सुखी ही रहता है; अतः ऐसी धारणा बनने से यह जीव निकट भव्य कहलाता है।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन, विषयासङ्गवर्जितः।
कषायविरतेनैव, भव-दुःखं विहन्यते ॥५०॥

अर्थः— जो इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति से रहित है, वह

सम्यग्दर्शन की शुद्धता होने से और कषायों से विरक्त होने से संसार के दुःखों को अवश्य ही नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव के भाव नियम से आत्मरुचि सहित होते हैं तथा वह अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी होता है अर्थात् उसके भावों में न तो विषयों की आसक्ति होती है और न कषायों की तीव्रता होती है। वह तो आत्मानुभव का अभ्यास करता रहता है; इस कारण उसके वीतरागता का अंश बढ़ता जाता है तथा सरागता का जोर हटता जाता है और पुरातन कर्मों की निर्जरा अधिक होती है तथा नवीन कर्मों का संवर होता है, जिसके कारण वह सब कर्मों से रहित होकर एक दिन मुक्त हो जाता है। इसलिए हे आत्मन् ! भ्रम बुद्धि छोड़ो और निज-पर की पहिचान करो, इसीसे हित साधन होगा। जिससे अपना हित साधन हो वही कार्य करना, यही विलक्षण पुरुषों की रीति है।

देखो ! इस जीव ने अनन्त पर्यायों में अनन्त बार भिन्न-भिन्न माता-पिता प्राप्त किए सो इस समय वे सब कहाँ चले गये ? इस जीव को अनन्त बार स्त्री, पुत्र आदि का संयोग मिला वे सब अब कहाँ चले गये ? प्रत्येक पर्याय में भ्राता, कुटुम्ब और परिवार आदि की प्राप्ति हुई सो वे सब कहाँ चले गये ? वास्तव में संसारी जीवों के पर्याय बुद्धि है, वे जिस पर्याय में जाते हैं उसी में आपा मानकर उसमें तन्मय होते हुए तद्रूप ही परिणमन करते हैं। यह नहीं जानते कि पर्याय विनाशीक है और मेरा स्वरूप नित्य-शाश्वत अविनाशी है; ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता है। इसमें बेचारे प्राणियों का कोई दोष नहीं परन्तु यह सब मोह का ही माहात्म्य है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। लेकिन जो भेदविज्ञानी पुरुष हैं जिनका मोह गल गया है, वे पर्याय को अपनी कैसे मानेंगे, वे महापुरुष क्या किसी के द्वारा चलायमान किए जा सकेंगे ? कदापि नहीं। सच तो यह है कि इस जगत् में जितने दुःख हैं वे केवल आत्म-स्वभाव को न जानने से ही हैं, इसलिए हे आत्मन् ! अपने स्वभाव की ही आराधना करो, क्योंकि जो ज्ञान स्वभाव है वह तुम्हारा ही स्वभाव

धर्म की श्रद्धा न करके रागी-द्वेषी देव, एकान्त वचन, परिग्रहधारी साधु तथा सरागधर्म में श्रद्धा रखना मिथ्यादर्शन है। इन भावों से प्रेरित होकर संसार का अज्ञानी प्राणी हिंसादि घोर पापों को करता है तथा कर्मों का बन्ध करके दीर्घकाल तक भववन में भटकता है, फिर जन्म-मरण तथा इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदि के अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट पाता रहता है। जब तक प्राणी मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व का लाभ नहीं करता है तब तक मोक्ष का आनन्द पाने का मार्ग हाथ में नहीं आ सकता; अतएव यत्न करके इस मिथ्यात्वरूपी सर्प को छोड़ना उचित है।

देखो! मिथ्यात्व के सद्भाव में धारण किया हुआ दुर्द्धर चारित्र भी जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सकता है; जैसे गिरिसहित कड़वी तूमड़ी में रखा हुआ मधुर दूध भी कटुता को प्राप्त हो जाता है परन्तु गिरिरहित तूमड़ी में रखा हुआ वही दूध मधुर रहता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वयुक्त जीव के तप, व्रत, संयम एवं चारित्र आदि समीचीन नहीं हो सकते, जबकि मिथ्यात्व से रहित वे ही तपादि सफल होते हैं। यह मिथ्यात्व परभव में तो दुःख देता ही है परन्तु इसका कटु फल तत्काल भी प्राप्त हो सकता है। जिस प्रकार विषबाण से विद्ध पुरुष का मरण अवश्यम्भावी है और प्रतीकार रहित है, उसी प्रकार इस मिथ्याशल्य से विद्ध प्राणी का संसार परिभ्रमण अवश्यम्भावी है। अतः आत्मकल्याण के इच्छुक हे प्राणियो! आपका कर्त्तव्य है कि इस दुःख-दायी संसार के बीज मिथ्यात्व को छोड़कर सच्चे मोक्ष को प्राप्त करें; क्योंकि अनादिकाल से चले आ रहे इस मिथ्यात्व को छोड़े बिना आपका कल्याण अर्थात् भवभ्रमण का नाश नहीं हो सकता है, जब तक प्राणी आत्मस्वभावरूपी सम्पत्ति को नहीं सम्भालता है तब तक उसका इस दारुण दुःखमयी संसार से छुटकारा कैसे होगा; ऐसा जानकर प्रमाद छोड़कर अपने स्वभाव में गति करो और सदा-सदा के लिए अक्षय आनन्द को प्राप्त करो।

आत्मतत्त्वं न जानन्ति, मिथ्यामोहेन मोहिताः ।
मनुजा येन मानस्था, विप्रलुब्धाः कुशासनैः ।।५३।।

अर्थ :– उस मिथ्यात्व भाव से मूढ़ होते हुए मानव तथा मिथ्या उपदेशों से मिथ्यामार्ग के लोभी होते हुए शरीर के अहंकार में फंसकर अपने आत्मिक तत्त्व को नहीं जान पाते हैं ।

विशेषार्थ :– एक तो अनादिकाल का अग्रहीत मिथ्यात्व प्राणियों में होता है, जिससे वे शरीरासक्त बने ही रहते हैं; दूसरे उनको विपरीत मार्ग का उपदेश मिल जाता है; इस प्रकार एकान्त व असत्य धर्म के उपदेशों से लुभाकर वे कुदेवों की भक्ति में तथा सराग क्रियाओं में और हिंसाकारक आचरणों में सुख के लोभी होकर तल्लीन हो जाते हैं। उनको वैराग्यमयी आत्मतत्त्व का उपदेश नहीं सुहाता है, इस प्रकार वे आत्म स्वरूप को कभी भी नहीं पहचान सकते हैं; परन्तु रात-दिन मैं ऐसा, मैं ऐसा, इस अहंकार में डूबे रहते हैं, अपने कल्याण हेतु उन्हें बिचारने की कभी फुरसत नहीं मिलती ।

तीनों लोकों में और तीनों कालों में मिथ्यात्वरूपी महा शत्रु के द्वारा जो दुःख दिया जाता है, वैसा दुःख अग्नि, सर्प, विष आदि के द्वारा भी नहीं होता, क्योंकि अग्नि आदि पदार्थों से तो वर्त्तमान एक भव में दुःख होता है, किन्तु मिथ्यात्व शत्रु तो असंख्यात और अनन्त भवों में बार-बार मारता है तथा दुःख देता है। देखो ! मिथ्यात्व के प्रभाव से यह अज्ञानी प्राणी अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, पर्वतों से गिरकर, कूप आदि में पड़कर और शस्त्र घात से मरा है, अनन्तबार सिंह आदि दुष्ट पशुओं के द्वारा खाया गया, दुष्ट मनुष्यों द्वारा मारा गया तथा बन्दीगृह आदि में सड़ा और रोगों की तीव्र वेदना से मरा, भूख-प्यास एवं उष्ण शीत की वेदना से मरा, कई बार दरिद्रता की पीड़ा से मरा अधिक कहाँ तक लिखें, तात्पर्य यह है कि संसार में सम्पूर्ण दुःखों का मूलकारण मिथ्यात्व ही है, अतः इसका प्रयत्न पूर्वक त्याग करो।

मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने वाले प्राणियों को चाहिए कि वे अपने

आत्मतत्त्व को पहचाने और सदाचार को ग्रहण करते हुए अनन्त सुख को प्राप्त करें; लेकिन खेद है कि संसार के मोही प्राणी अनादिकाल से अविद्या-मिथ्यात्व आदि के अभ्यास के संस्कारों से विषय-भोगों में ही सुख मानते हैं, जैसे–चिरकाल से बिल में निवास करने वाला सर्प निवारण करने पर भी नहीं रुकता; उसी प्रकार संसारी जीवों के हृदय-रूपी बिल में अनादिकाल से निवास करने वाला मिथ्यात्वरूपी सर्प बारम्बार रोकने पर भी नहीं रुकता, प्रवेश कर ही जाता है; अतः प्राणियों को मिथ्यात्व छोड़कर दृढ़ सम्यक्त्व की भावना निरन्तर मानना चाहिए।

४. धर्माचरण की प्रेरणा

दुःखस्य भीरवोऽप्येते, सद्धर्मं न हि कुर्वते।
कर्मणा मोहनीयेन, मोहिता बहवो जनाः ॥५४॥

अर्थ :–संसार में दुःखों से भयभीत होते हुए भी ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो मोहनीय कर्म के कारण मोहित होते हुए यथार्थ धर्म का आचरण नहीं करते हैं।

विशेषार्थ :–जगत् में सब ही प्राणी दुःखों से डरते हैं और सदा सुख शान्ति चाहते हैं तथापि बहुत से मानव दुःख के कारण अधर्म को नहीं छोड़ते और सच्चे सुख के कारण सधर्म को धारण नहीं करते। जैसे–कोई नीरोग तो रहना चाहता है परन्तु रोग के कारणों को नहीं छोड़ता तथा यथार्थ औषधि का सेवन नहीं करता तो वह अधिकतर रोगी होकर क्लेश ही भोगेगा, इसी तरह अज्ञानी मानव स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के मोह के भीतर ऐसा अन्धा हो जाता है कि कभी न तो सच्चे धर्म को समझने का प्रयत्न करता है और यदि समझ भी लेता है, तो उसका आचरण नहीं करता है; अतएव दुःखों से भयभीत होने पर भी दुःख ही पाता है।

आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! यदि तू ने इस मानव पर्याय में सावधानी नहीं रखी, यदि संक्लेश परिणामों से रोते-रोते तेरी मृत्यु हो गई तो, तुझे अपार कष्ट प्राप्त होंगे और तब तेरे आत्मविकास का मार्ग कंटकाकीर्ण हो जाएगा, मानलो मरकर तू एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में चला जाएगा तो तुझे वहाँ सम्यग्ज्ञान का उपदेश कौन देगा ? संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक हुए बिना जीव में सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता ही नहीं होती है। इससे उचित है कि तू अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप व्रतों को पालन कर; सम्यग्दर्शन के अभाव में ये व्रत शाश्वत सुख देने में तो समर्थ नहीं हो सकते फिर भी उन व्रतों का अपना अलग ही महत्त्व है इनके पालन के फलस्वरूप तू देव पर्याय में श्रेष्ठ सुखों को पा सकेगा, वहाँ सागरों पर्यन्त सुख भोगेगा, वास्तव में उन पर्यायों में जो सुख है वह सच्चा सुख नहीं है, यह बात पूर्णतया सच है, परन्तु स्वर्गीय जीवन की स्थिति पशु पर्याय अथवा नरक पर्याय आदि के अवर्णनीय कष्टों की अपेक्षा अच्छी है; तू पांचोंइन्द्रियों के सुख के लिए ही तो निरन्तर अपना जीवन व्यतीत करता है, व्रतों के प्रसाद से काललब्धि आते ही तुझे सम्यग्दर्शन भी प्राप्त हो सकता है। यथार्थ में मानव जीवन श्रेष्ठ और उज्ज्वल कार्यों के लिए है परन्तु जो दिग्भ्रान्त प्राणी इसे अर्थोपार्जन तथा इन्द्रियसुखों में ही व्यतीत कर देते हैं अथवा येन-केन प्रकारेण धन संचय करने में ही रहते हैं वे यथार्थ में आत्मकल्याण से वञ्चित रहते हैं।

कथं न रमते चित्तं, धर्मे चैकसुखप्रदे ।
देवानां दुःखभीरूणां, प्रायो मिथ्यादृशो यतः ॥५५॥

अर्थ :– देखो ! दुखों से भयभीत देवों का भी मन एक मात्र सुख के कारण धर्म में क्यों नहीं रमण करता है, क्योंकि वे बहुधा मिथ्यादृष्टि होते हैं।

विशेषार्थ :– देखो ! मिथ्यादृष्टि मानवों को साधारणतया अवधि-

ज्ञान नहीं होता है, वे पूर्व व आगामी भव को नहीं जान सकते हैं; परन्तु देवों के तो नियम से अवधिज्ञान होता है; वे पाप और पुण्य के फल को प्रत्यक्ष जान सकते हैं तथापि मिथ्यात्व के तीव्र उदय से वे आत्मकल्याण में अपने अवधिज्ञान का उपयोग नहीं करते हैं; किन्तु विषयों की तीव्र तृष्णा में ऐसे संलग्न रहते हैं कि उन्हें रात-दिन मनोज्ञ विषय भोगों से फुरसत ही नहीं मिलती हैं; तथापि तीव्र भोगाकांक्षा से संतापित रहते हैं। उनका मन परम सुखदायी जिन धर्म में श्रद्धालु नहीं होता है; अतः संसार में मिथ्यात्व के समान कोई वैरी नहीं है, यह बड़ी नशीली मदिरा है, जिसको पीकर प्राणी संसार के मोहजाल में अचेत सा हो जाता है, धर्म की बात उसे अच्छी नहीं लगती है।

सम्यक्श्रद्धा का आत्म विकास में सर्वोपरि स्थान है, जिसे प्राप्त करना बच्चों का खेल नहीं है; जिसकी प्राप्ति में अंतरंग कारण दर्शन-मोह का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय है; बहिरंग कारण जिनागम, जिनबिम्बदर्शन, धर्म की देशना आदि कहे गये हैं; तथा काललब्धि भी कारण कहा गया है। देखो! काललब्धि न आने पर भगवान् महावीर के जीव मारीचकुमार ने तीर्थंकर ऋषभनाथ के तत्त्वज्ञानी पुत्र भरतेश्वर के सुत होते हुए भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया; किंचित् न्यून कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण काल चला गया, काललब्धि आने पर सिंह की क्रूर पर्याय में चारण ऋद्धिधारी मुनियुगल के उपदेश को पाकर वह जीव सम्यक्त्वी बन गया। उस समय वह जीव अपने स्वरूप को अवगत कर सका; वास्तव में हृदय की मोह रूपी गांठ खुल जाने से वह अपने आत्म-रत्न का दर्शन कर सका और कृतार्थ हो गया अर्थात् थोड़े ही समय में चरमशरीरी बनकर अनन्त सुख का भागी बन गया। इसलिए आचार्यों ने बताया कि हे वत्स! रत्नत्रय धर्म के लिए सदा प्रयत्नशील रहकर अपने मनुष्यभव को सार्थक करना उचित है, क्योंकि जीवन बहुत काल तक रहेगा या क्षणमात्र, इस बात का कोई ठिकाना नहीं, ऐसी स्थिति में व्रत तथा तप को धारण करना ही श्रेष्ठ है, इनके द्वारा स्वर्ग जाना अच्छा है, अव्रत तथा विषय सेवन द्वारा नरक में जाकर दुःख भोगना

ठीक नहीं है। किन्तु याद रखना चाहिए सम्यग्दर्शन के अभाव में ये व्रत सम्यक्चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

दुखं न शक्यते सोढुं, पूर्वकर्माजितं नरैः।
तस्मात् कुरुत सद्धर्मं, येन तत्कर्म नश्यति ।।५६।।

अर्थ :– यदि मानव पूर्व कर्मों के उदय से प्राप्त दुःखों को सहन नहीं कर सकते हैं तो उन्हें सद्धर्म का आचरण करना चाहिए, क्योंकि परमधर्म के सेवन से पूर्व के पाप-कर्म नष्ट हो जाएँगे।

विशेषार्थ :– संसार में प्राणियों को जितने दुःख भोगने पड़ते हैं उनका मूल कारण अपने ही बाँधे हुए पापकर्मों का उदय है; ऐसा निश्चय करके पाप के फल से प्राप्त दुःखों को सहने में असमर्थ मानवों को रत्न-त्रयरूप आत्मधर्म का सेवन अवश्य करना चाहिए। धर्म सेवन से जो वीतराग भाव होंगे उन भावों के प्रभाव से सत्ता में बैठे हुए पापकर्म पुण्य में बदल जाएँगे या अत्यन्त क्षीण हो जाएँगे या क्षय हो जाएँगे तथा महान् पुण्य का बन्ध भी होगा; क्योंकि धर्मानुराग अतिशयकारी पुण्य को बांधने वाला है। अपनी भूल से अयोग्य खानपान द्वारा उठा हुआ रोग, यदि यथार्थ औषधि का सेवन किया जावे तो मिट सकता है तथा बहुत कम हो सकता है। इसलिए विवेकी मानवों का कर्त्तव्य है कि भव-भव के कर्मों के संहारक इस पवित्र जिनधर्म की रुचि पूर्वक आराधना करें।

जैनधर्म के मर्म को न समझने वाले एकांतवादी लोग कहते हैं कि हमें पुण्यसाधक देवपूजा, गुरुपास्ति, संयम, तप, दान और स्वाध्याय रूप षट्कर्मों से क्या लाभ है? पुण्यसाधक सामग्री से पुण्य का बन्ध होता है और बन्ध होने से संसार की वृद्धि होती है; उन्हें जैन शास्त्रों के रहस्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि को नहीं भुलाना चाहिए, यह कथन ध्यान देने योग्य है कि इस पंचमकाल में धर्मध्यान रूप शुभभाव हो सकता है, शुक्लध्यान रूप शुद्ध-भाव की सामग्री का अभाव है, धर्मध्यान रूप शुभ-भाव होने से पुण्य का बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई

व्यक्ति कदाचित् पुण्य बन्ध से बचने के लिए शुभभाव का परित्याग करेगा तो नियम से उसके अशुभ भाव अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान रूप संक्लेश परिणामों के कारण पाप का बन्ध ही होगा, आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि—

त्यक्तपुण्यस्य जीवस्य, पापास्रवो भवेद् ध्रुवम् ।
पापबन्धो भवेत्तस्मात्, पापबंधाच्च दुर्गतिः ॥

अर्थात्-- पुण्य-सम्पादक सामग्री का परित्याग करने वाले जीव के निरन्तर पाप का आस्रव होगा, आस्रव रहित अवस्था अयोगीकेवली के होती है। पापास्रव से पापकर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप कुगति प्राप्त होती है। इसलिए प्राणियों को समीचीन विचारों से आत्मकल्याण करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

सुकृतं तु भवेद्यस्य, तेन यान्ति परिक्षयम् ।
दुःखोत्पादनभूतानि दुष्कर्माणि समन्ततः ॥५७॥

अर्थ :– जिसके द्वारा धर्मकार्य होगा उसके धार्मिक भावों से दुःखों को पैदा करने वाले कर्म सर्वथा क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ :– पूर्वबद्ध कर्म यदि निकाचित आदि वज्र के समान तीव्र न हों तो धार्मिक पवित्र वीतरागता सहित भावों के प्रताप से अपने समय के पहले ही बिना फल दिये हुए क्षय हो जाते हैं; जिन कर्मों के उदय से असाता होने वाली हो वे कर्म जड़-मूल से जीर्ण होकर गिर पड़ते हैं। आत्मा के अनुभव में अपूर्व शक्ति है, सम्यग्दर्शन सहित धर्म का आचरण करने से प्राणियों के वर्त्तमान जीवन में भी दुःखों से छुटकारा मिलता है और सुखों की प्राप्ति होती है तथा आगामीकाल का जीवन भी कष्ट रहित बनता है, क्योंकि पुण्य का अधिक संचय होता है। धर्माचरण से सुख शान्ति भी अनुभव में आती है, चित्त में संतोष रहता है तथा विषयकषायों की मन्दता होती है।

ज्ञानी आत्मा संसार के भोगों को कर्मों के अधीन, नश्वर, दुःख-

मिश्रित और पाप का बीज जानकर उनकी आकांक्षा नहीं करता, वह तो आत्मतत्त्व की उपलब्धि को देवेन्द्र या चक्रवर्ती आदि के वैभव से अधिक मूल्यवान आँकता है तथा शरीर के सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं होता, वह ज्ञान, कुल, जाति, बल, वैभव, सन्मान, शरीर तथा तपस्या आदि का अभिमान नहीं करता, क्योंकि उसकी तत्त्वज्ञान ज्योति में सब आत्मायें समान प्रतिभासित होती हैं। तात्विक दृष्टि सम्पन्न मानव चांडाल तो क्या पशु तक का सम्मान करता है; क्योंकि शरीर अथवा बाह्य वैभव के मध्य में विद्यमान जीव पर अपने तत्त्वज्ञानरूपी सूर्य की किरणें डालकर वह समयक्–बोधरूपी गुण को जानता है तथा अपनी पवित्र श्रद्धा की रक्षा के लिए भय-प्रेम, लालच तथा आशायुक्त होकर स्वप्न में भी रागी-द्वेषी देवों की वन्दना पूजा, हिंसादि के पोषक शस्त्ररूप शास्त्रों में श्रद्धा तथा पापमय प्रवृत्ति करने वाले पाखण्डी तपस्वियों को प्रणाम, अनुनय, विनय आदि नहीं करता है। क्योंकि सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी प्रभु की वाणी में उसकी अटल श्रद्धा रहती है। ऐसे पुरुष ही पूर्वबद्ध कर्मों को काटने में समर्थ होते हैं तथा अपने संयम आदि में दृढ़ श्रद्धा रखते हुए नए कर्मों को नहीं आने देते हैं; वे अपने वीतराग भावों से तप में अगाढ विश्वास रखते हुए भारी तपश्चर्या आदि करके पुरातन कर्मों को समय के पहले ही खिरा देते हैं तथा इस प्रकार अनादि संसार का अन्त कर देते हैं और सदा-सदा के लिए आत्मस्वरूप को प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं।

धर्म एव सदा कार्यो, मुक्त्वा व्यापारमन्यतः।
यः करोति परं सौख्यं, यावन्निर्वाणसंगमः ॥५८॥

अर्थ :– सांसारिक दूसरे कामों से अपने मन को हटाकर सदा धर्म ही धारण करना योग्य है; जब तक निर्वाण का लाभ न हो, तब तक यह धर्म परमानन्द प्रदान करता रहता है।

विशेषार्थ :– वर्त्तमान जीवन को तथा भविष्य के जीवन को सदा

सुखकारी, संतोषी, क्लेशरहित बनाने का एक मात्र उपाय पवित्र जिन-धर्म का आचरण है। जो मुनि या श्रावक के चारित्र को सम्यग्दर्शन सहित बिना किसी माया, मिथ्या या निदान शल्य के अपने हर्षित मन से विवेकपूर्वक पालते हैं, वे वज्र समान तीव्र कर्मोदय से यहाँ यदि आपत्ति में आ जावे तो भी वस्तुस्वरूप को विचार करके धैर्यवान व निराकुल रहते हैं तथा साधारण पापकर्मों का तो वे क्षय ही कर डालते हैं, जिससे जीवों का बहुत सा दुःख टल जाता है। आत्मानन्द का लाभ तो वे सतत आत्ममनन से करते हैं; पुण्य का उदय अधिक होने से वे धर्मात्मा प्राणी सुगति को ही प्राप्त करते हैं। वहाँ भी आत्मानुभव के संस्कार जागृत रहते हैं, अर्थात् जीवन सुखमय ही बीतता है; निर्वाण की ओर दृष्टि लगाने वाले महात्मा को जबतक निर्वाण का लाभ नहीं होता तबतक उन्हें अतीन्द्रिय सुख के साथ-साथ साता और संतोष का लाभ होता रहता है; शारीरिक और मानसिक कष्टों में अत्यन्त कमी हो जाती है, इसलिए विवेकी प्राणियों को धर्म का सदा आचरण करना चाहिए।

सच तो यह है कि जैसे जैसे मानव अपनी मूल संस्कृति से दूर होता जा रहा है, वैसे वैसे वह धर्म को छोड़कर अधर्म को अपनाता जा रहा है, अर्थात् अपना पतन करता जा रहा है। जिस देश में धर्म-दर्शन, संस्कृति के रूप में अतिपुरातनकाल से प्रचलित रहे हैं, उस देश में आज धर्म और संस्कृति आलोचना के विषय बनते जा रहे हैं, इस आलोचना को प्रश्रय जहाँ से मिल रहा है वह प्रायः अत्याधुनिक विचार है, जो कि देश की संस्कृति-मूलक आत्मा से परिचित नहीं है; आज आधुनिक सभ्यता में लोग आचरण तथा धर्म को तिलाञ्जलि देकर दानवता के रूप में अपनी प्रवृत्ति कर रहे हैं। कोई-कोई व्यक्ति ग्रन्थों से, साधुसंगति तथा लोक परम्परा से धर्म चर्चा सुनते हैं, परन्तु विषयवासनाओं का त्याग करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, त्याग करने वाले तो कोई विरले ही प्राणी मिलते हैं। यथार्थ में त्याग-व्रत-शीलों का ग्रहण करना तो आज नहीं के बराबर हो गया है, परन्तु त्यागियों तथा व्रतधारियों

की निन्दा करने वाले चारों ओर दिखाई दे रहे हैं। यह सब अधर्म का ही माहात्म्य है। अतः मानवों को सब काम छोड़कर आत्म-कल्याण की बात करनी चाहिए।

क्षणेऽपि समतिक्रान्ते, सद्धर्मं परिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये, कषायेन्द्रियतस्करैः ॥५६॥

अर्थ :– सत्यधर्म के आचरण बिना एक क्षण भी वृथा चले जाने पर मैं मानता हूँ कि मैंने अपने को कषाय और इन्द्रियों के विषयरूपी चोरों से ठगा लिया।

विशेषार्थ :– ज्ञानी आत्माओं को धार्मिक क्रियाओं में लगातार अपने मन, वचन और काय को लगाए रखना चाहिए, जिससे विषयों के भाव और कषायों के वेग अपना प्रभाव न डाल सकें। वास्तव, में विषय-कषाय आत्मिक धर्म के चुराने वाले चोर हैं, ज्यों ही वे इस मन को धर्मभावशून्य पाते हैं, त्यों ही वे इसमें प्रवेश कर जाते हैं; अतएव जो त्यागी, व्रती या साधुजन हैं उन्हें २४ घंटों का समय विभाग बनाकर निरन्तर सामायिक, स्वाध्याय, धर्मचर्चा, धर्मोपदेश, धर्मभावना, ग्रन्थ-लेखनादि में बिताना चाहिए। जो व्रती नहीं हैं ऐसे प्राथमिक श्रावक गृहस्थों को द्रव्य कमाने के लिए और न्यायपूर्वक इन्द्रियभोग करने व शरीर को आराम देने के लिए समय का विभाग करके शेष समय को सामायिक, देवपूजा, शास्त्र-स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, परोपकार, दान-सेवा आदि शुभ कार्यों में मान या लोभ की भावना के बिना बिताना चाहिए। एक क्षण भी धर्म भावना के बिना वृथा न खोना चाहिए, लौकिक सर्व व्यवहार धर्म की रक्षा करते हुए नीति व सत्य के अनुकूल करना चाहिए, यही मानवजीवन की सच्ची सफलता है।

हे आत्मन्! जब तक बुढ़ापे का आक्रमण नहीं होता, रोगरूपी अग्नि देहरूपी झोंपड़ी को भस्म नहीं करती, तेरी इन्द्रियों की शक्ति क्षय को प्राप्त नहीं होती, पुत्र-पौत्रादि तेरा अपमान नहीं करते, तब तक तुझे

अपनी आत्मा का हित कर ही लेना चाहिए। आचार्यों ने बताया है कि जो व्यक्ति रातदिन विषयभोगों में तल्लीन रहते हैं और आत्महित के विषय में अपने को अकर्मण्य पाते हैं, वे अपनी आत्मा को ठगते हैं। जो मोहान्धकारयुक्त गृहस्थ विषयों की पूर्ति हेतु बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करता हुआ निरन्तर पाप कार्यों को निःसंकोच होकर करता है, परन्तु पापत्याग-रूप पुण्यकार्यों से दूर भागता है, वह निंद्य कार्यों के फलस्वरूप संसार में पतित दशा को प्राप्त होता है। कई व्यक्ति उच्च अध्यात्म का नामोच्चारण करते हुए पुण्य-जीवन वाले त्यागीजनों की निन्दा करने में भी संकोच नहीं करते हैं, वे ऐसे लगते हैं, मानो काकपक्षी अपने कटुस्वर का ध्यान न रखकर कोकिल के मधुर आलाप की निन्दा कर रहे हैं। उन्हें आयु की समाप्ति के पहले-पहले अपने दुराग्रह को छोड़कर मानवता के नाते आत्महित करने का उद्यम करना चाहिए।

धर्मकार्ये मतिस्ताव-द्यावदायुर्दृढं तव।
आयुः कर्मणि संक्षीणे, पश्चात्त्वं किं करिष्यसि ॥६०॥

अर्थ :– हे आत्मन्! जबतक तेरी उम्र मजबूत है, तबतक तुझे धर्मकार्य में बुद्धि रखनी चाहिए, आयुकर्म के नाश हो जाने पर पीछे तू क्या करेगा ?

विशेषार्थ :– देखो! कर्मभूमि के मानवों की आयु के क्षय होने का कोई नियम नहीं है। बाहरी प्रतिकूल कारण होने पर अकाल में भी आयुकर्म की उदीरणा हो जाती है, सर्व स्थिति कटकर आयुकर्म की वर्गणायें खिर जाती हैं। इसलिए सदा ही धर्मकार्यों में बुद्धि रखनी चाहिए, जिससे मरण कभी भी आये तो भी पछतावा न करना पड़े, पुण्य काम करते करते मरण श्रेष्ठ है।

आचार्यों ने बताया है कि जैसे दिन के बाद रात्रि अनिवार्य है उसी प्रकार जन्म के बाद मृत्यु अवश्यंभावी है, इसलिए समय रहते आत्महित करलो, संसार में बुद्धिमान व्यक्ति दूरदर्शी होते हैं। अपने शरीर

में जो आत्मज्योति छिपी है, उसे जगाओ, नहीं तो श्मशान के ईंधन में और वृथाजीवी मनुष्य में क्या अन्तर है ? देखो ! सारे पाप अन्धेरे में होते हैं, इसी अन्धेरे को दूर करने के लिए दीपक जलाये जाते हैं, परन्तु सच्चा दीपक वही जलाता है, जो अपने अन्दर से क्रोध, मान, माया और लोभ को हटाकर ज्ञान का प्रकाश करता है। संसार में कुलीन मनुष्य सदा अपने कुल और धर्ममर्यादा का पालन करते हैं, उनके सद्आचरणों से उनकी सौ पीढ़ियों के पूर्वजों के कुलाचार का साक्षात्कार होता है, वे अपनी धर्मसंस्कृति और शील-मर्यादा में परम्पराबद्ध होते हैं। इसलिए प्राणियों को ज्योतिर्मुखी होना चाहिए। यथार्थ में धर्म, ज्ञान और आत्म-रमण मानुषी-ज्योति के अंग हैं।

यथार्थ में, धर्म आत्मा और उसके विश्वास की वस्तु है, उसके यथार्थ स्वरूप तथा उपलब्धि पर आत्मा का वास्तविक कल्याण अव-लम्बित है; जैनधर्म का तुलनात्मक अभ्यास करने पर विदित होता है कि जैनधर्म आत्म-विज्ञान है, उस अध्यात्म और विज्ञान के प्रकाश तथा विकास से जड़वाद का अन्धकार दूर होता है तथा विश्व का कल्याण हो सकता है। यदि मानव अनुभव और विवेक के प्रकाश में जैनधर्म का अन्वेषण करे तो विदित होगा कि आत्मा की असलियत, स्वभाव, प्रकृति अथवा अकृत्रिम अवस्था को ही धर्म कहते हैं। वास्तव में धर्म तो स्वभाव को द्योतित करता है; विकृति, कृत्रिमता और विभाव को अधर्म कहते हैं। जिस कार्यप्रणाली से आत्मा के स्वाभाविक गुणों को छिपाने वाली विकृति का परदा दूर होता है और आत्मा के प्राकृतिक गुण प्रकाशमान होने लगते हैं उसे ही धर्म कहते हैं। मोहमयी दृष्टि को छोड़कर प्राकृतिक दृष्टि से देखो तो यथार्थ धर्म का अवलोकन होगा।

धर्ममाचर यत्नेन, मा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्मं चेतसां पुंसां, जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥

अर्थ :- हे भाई ! यत्न के साथ धर्म का आचरण कर, तू मृतप्राणी

के समान मत रह। वास्तव में सद्धर्म का अनुभव करने वाले मानवों का जीवन ही सफल होता है।

विशेषार्थ :– इस दुर्लभ मानवजीवन की सफलता धर्म के आचरण से ही होती है; धर्म के प्रताप से मानवों का जीवन यहाँ भी सुख-संतोष पूर्वक बीतता है और परलोक के लिए भी पुण्य कर्म का संचय होता है। जो प्राणी धर्म का साधन नहीं करते हैं, उनका जीना, न जीना समान है, अर्थात् वे मृतक के समान ही हैं, किन्तु उससे भी बुरे हैं; क्योंकि मृतक पाप का संचय नहीं करते हैं, जबकि धर्मरहित अधर्मीजन तो पापों का संचय करके भावी जीवन को दुःखमय बना लेते हैं इसलिए विवेकियों को उचित हैं कि वे पुरुषार्थ करके धर्म का निरन्तर आचरण करते रहें।

कर्मों को विनष्ट किए बिना यह आत्मा संसार में जन्म-मरण करता रहता है, उन कर्मों का नाश करने के लिए यथार्थ मार्ग संयम धारण करना है, संयम की उज्ज्वलता पर जीवन का विकास निर्भर है; हाँ, चारित्रमोहनीय के उदय से महाव्रती बनने में असमर्थ गृहस्थ को आगम में ऐसा भी मार्ग बताया है कि उसका आश्रय लेने से वह अभ्युदयों का स्वामी होते हुए क्रमशः आत्मविकास की साधन-सामग्री भी प्राप्त कर लेता है तथा अनुकूल सामग्री पाकर वह वीतराग मुनि बनकर शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्नि में पुण्य-पाप सभी कर्मों को भस्म करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गृहस्थ अवस्था में सर्व प्रथम चोरी, जुआ, मदिरापान, वेश्यासेवन, परस्त्री सेवन, शिकार खेलना तथा मांस भक्षण रूप सप्तव्यसनों का त्याग करना चाहिए तथा पंच अणुव्रतों को धारण करते हुए षट्कर्मों का नित्य साधन करना चाहिए। अभक्ष्य भक्षण न करना, अन्याय-अत्याचार के धन को ग्रहण न करना, आगम अनुकूल श्रावक के व्रतों को पालना आदि सद् आचारों में तत्पर श्रावक भी सदा कुमार्गगामी इन्द्रियरूपी घोड़ों व चंचल मन को अपने ज्ञान, त्याग व वैराग्यरूपी रस्सियों के द्वारा नियंत्रण में रख सकता है परन्तु सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो कहना होगा कि गृहस्थ अवस्था में मानव पूर्ण-

तया आत्महित सम्पादन नहीं कर सकता है; क्योंकि वह सम्पूर्ण पापों का त्यागी नहीं हो सकता अर्थात् उसके उत्तम ध्यान की योग्यता नहीं है; उत्तमध्यान के लिए प्राणियों को सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करना होगा तथा महाव्रतों को धारण करना होगा, क्रोधादि कषायों का दमन करना होगा, मन तथा इन्द्रियों को वश में करना होगा तब जाकर उत्तमध्यान की पात्रता होगी।

मृता नैव मृतास्ते तु, ये नराः धर्मकारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै, ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

अर्थ :– संसार में जो मानव धर्म का आचरण करने वाले हैं, वे यदि मर जावें तो भी वे मरे नहीं हैं; परन्तु जो मानव पाप करने वाले हैं, वे जीते हुए भी मरे हुए हैं।

विशेषार्थ :– धर्म का पालन सदा ही सुखकारी है। जो धर्मात्मा आत्मज्ञानी मानव अपने वर्त्तमान जीवन को ध्यान, स्वाध्याय, व्रत और तपश्चरण द्वारा बिताते हैं वे यहाँ भी सुखी हैं तथा भविष्य में भी पुण्य बांधकर साताकारी संयोग तथा संस्कारों से आत्मज्ञान पाते हैं; अतएव शरीर छूटने पर भी उनकी कोई हानि नहीं है; वे जैसे यहाँ सुख से जीते हैं, वैसे परलोक में भी सुखी रहेंगे। परन्तु जो प्राणी मिथ्याभाव से ग्रसित हैं, विषयों की तृष्णा के वश हैं और अन्धे होकर हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों में रत हैं; वे यहाँ भी आकुलित हैं और चिन्तापूर्ण जीवन बिताते हैं तथा परलोक में पाप के फल से घोर दुर्गति में चले जाते हैं। मानव से एकेन्द्रिय वृक्षादि हो जाते हैं; ऐसे मानवों का जीवन भी मरण के समान ही है, कुछ भी लाभदायक नहीं। मानवों को अनेकान्त के प्रकाश में समाधान खोजना चाहिए, पुण्योदय से प्राप्त सामग्री का उपयोग चतुर मानव स्व-पर हित के साधनों में करता है, परन्तु क्रूर तथा दुष्ट व्यक्ति उस साधन-सामग्री का उपयोग विषय-कषायों के पोषण में करता है, इस प्रसंग में यह श्लोक उपयोगी है— मनन करने लायक है—

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परपीड़नाय ।
खलस्य साधोः विपरीतमेत-ज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

अर्थात्–दुर्जन अपनी विद्या का उपयोग विवाद में, धन का उपयोग अहंकारपोषण में तथा शक्ति का उपयोग दूसरों को कष्ट देने में करते हैं; परन्तु सत्पुरुष विद्या का उपयोग ज्ञान कार्य में, धन का उपयोग पात्रदान में तथा शक्ति का उपयोग असमर्थों के रक्षणकार्य में करते हैं। प्रायः मिथ्यादृष्टि लोग पुण्योदय से प्राप्त सामग्री को पापानुबन्धी क्रियाओं में लगाते हैं; यदि वही धन वैभव आदि सम्यग्दृष्टि विवेकी को प्राप्त होता है तो वह उसके द्वारा रत्नत्रय के अंगरूप कार्यों के संरक्षण, संवर्धन, जीव-हितादि कार्यों में लगाता है; जिससे वह अपने पापों का नाश करके अन्तमें सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग करके शाश्वतिक शान्तिपूर्ण पद को पाता है। इसलिए पुण्य के विषय में स्याद्वाददृष्टि का उपयोग करना जरूरी है। वास्तव में सदाचारी मानव मरने के बाद भी जीता है, जबकि दुराचारी लोग जीते रहने पर भी मरे हुए के बराबर है, ऐसा जानकर मानवों को विवेकपूर्वक सदाचार ग्रहण करना चाहिए जिससे वे मनुष्यजन्म की सार्थकता प्राप्त कर सकें।

धर्मामृतं सदा पेयं, दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं, जीवानां जायते सदा ॥६३॥

अर्थ :– संसार में दुःखरूपी रोगों के नाश करने वाले धर्मरूपी अमृत को सदा पीना चाहिए, जिसके पीने से जीवों को हमेशा उत्तम सुख होता है।

विशेषार्थ :– संसार दुःखों से भरा हुआ है, जो जीव संसार के दुःखों से पीड़ित हैं, उनके लिए यही उचित है कि वे धर्मरूपी अमृत का पान करें; यही परम औषधि है, जो सेवन करते हुए भी मीठी है और जिससे सर्व दुःखों का अन्त सदा के लिए हो जाता है। जैसे–अमृत तुरन्त मिठास देता है तथा शरीर को भी नीरोग बनाता है, वैसे ही यह आत्मानुभव-

रूपी अमृत उसी समय आनन्द देता है और उन कर्मों का भी नाश करता है, जो संसार में जीवों को दुःख देने वाले हैं। अतएव जन्म, जरा, मरणादि भयानक कष्टों से सदा के लिए छुट्टी पाने के लिए विवेकी प्राणी को पुरुषार्थ करके ध्यान, स्वाध्याय, भक्ति, तपादि द्वारा अपने मन को निश्चल करके अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन करना चाहिए।

संसार में यदि मानव मानवता को अपनाता है तो श्रेष्ठता के मार्ग पर चल सकता है, उससे वह अपना तथा जगत् का जीवन शान्त-समुन्नत बना सकता है। यदि मानव प्रमादी होकर दानवता को अपनाता है तो वह अपने को तथा संसार के दूसरे प्राणियों को पतन के पथ पर धकेल देता है। देखो! अगर कोई मद्यपान करता है तो वह सारी गली (मोहल्ला) को गालियों से भर देता है और अपने तथा पड़ोसियों के शान्त वातावरण को गन्दा कर देता है; उसी प्रकार विचारपूर्वक देखा जाय तो जैसे एक व्यक्ति गली मोहल्ले की शान्ति भंग कर देता है, वैसे संसार में व्याप्त हिंसा, द्वेष, घृणा और युद्ध के अपराधी कुछ व्यक्ति ही निकलेंगे, जो कि पूरे देश को बदनाम कर देते हैं। निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति और संसार दोनों की शान्ति के लिए सद्‌गुणी लोगों की आवश्यकता है। आजतक जिन्होंने जातियों और देश को यशस्वी बनाया और जिन्होंने कलंकित किया वे दोनों मनुष्य ही थे; परन्तु यथार्थता से विचार किया जाए तो उन दोनों में भारी अन्तर है, एक मानव है तो दूसरा दानव। इसलिए संसार के दुःखों का नाश करना चाहते हो तो आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि आप मानवता को ग्रहण करें तथा धर्मरूपी अमृत को पीकर अपने जन्म-मरणादि दुःखों से छुटकारा प्राप्त करें। इसीमें मानव-जन्म की सार्थकता है वरना मानव में और दानव में कोई फर्क नहीं।

५. धर्म सुखकारी व तारक है।

स धर्मो यो दयायुक्तः, सर्वप्राणीहितप्रदः।
स एवोत्तारणे शक्यो, भवाम्बोधौ सुदुस्तरे ॥६४॥

अर्थ :– जो दयाभाव से पूर्ण है वही प्राणीमात्र का हितकारी धर्म है, वही धर्म अत्यन्त कठिनता से तरने योग्य इस संसार समुद्र से पार उतारने में समर्थ है।

विशेषार्थ :– यथार्थ में धर्म उसे कहते हैं जो प्राणियों को संसार समुद्र में डूबने से बचावे तथा जो सदा उत्तम सुख देवे—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

रत्नकरण्डश्रावकाचार-समन्तभद्र

ऐसा धर्म वही है जो यह सिखाता है कि प्राणीमात्र पर दया भाव रखो। किसी को कष्ट न दो, अपनी आत्मा को व परायी आत्मा को कभी न सताओ। ऐसा विश्वप्रेममय अहिंसा भाव ही धर्म है, जिसके परिणाम में सर्वजीवमैत्रीभाव जाग उठता है, द्वेषभाव निकल जाता है, कोई छोटा है न कोई वड़ा, यह राग-द्वेष भी नहीं रहता है तथा सर्व विश्व की आत्माएँ स्वभाव से समान हैं ऐसा साम्यभाव प्रगट हो जाता है। इस प्रकार का साम्यभाव आनन्दप्रद है तथा संसार में डुबोने वाले कर्मों का नाशक है; यही भाव उस वात की प्रेरणा करता है कि अपने आत्मा को क्रोधादि हिंसक भावों से वचाओ तथा जगत् के प्राणियों के साथ सद् व्यवहार करते हुए उनकी भी यथाशक्ति रक्षा करो। प्रमादभाव से वर्तन न करो जिससे प्राणी वृथा कष्ट पावें।

शान्ति और उन्नति का मार्ग आत्मा के गुणों को विकसित करना तथा विलासिता से विमुख होना है। जब मानव भोग-विलास की ओर अपने कदम बढ़ाता है, तव वह कुछ काल के वाद पतन को प्राप्त होता है; इतिहास इस वात का साक्षी है कि विषयों के दास दीपक के पास दौड़कर आने वाले पतंगों की दशा को प्राप्त करते हैं। विषयजनित आनन्द कृत्रिम है, उसमें स्थायीपन नहीं है, जवकि स्वावलम्वन तथा सदाचार द्वारा उपलब्ध आनन्द अपूर्व होता है। यथार्थ में, इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख विजली की चमक के समान क्षीण है तथा वह

सुख तृष्णारूपी रोग का एकमात्र हेतु है; जिसके सेवन से विषयों की लालसा बढती है, फिर वह तृष्णा की वृद्धि निरन्तर संतप्त करती है। यह जगत् एक बगीचे के समान है, जिसमें सौरभ तथा सौन्दर्य थोड़ी देर ही निवास करते हैं। यह स्थायी आनन्द का स्थल नहीं है, इसी तरह यह मनुष्य-जन्म स्थायी नहीं है। अर्थात् प्राणियों का जीवन मृत्यु के मुंह में है, क्षणभंगुर है। ऐसा जानकर स्व और पर का कल्याण करने में एक क्षण का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

यदा कंठगतप्राणो, जीवोऽसौ परिवर्तते ।
नान्यः कश्चित्तदा त्राता, मुक्त्वा धर्मं जिनोदितम् ॥६५॥

अर्थ :– जब यह जीव मरण के सम्मुख होता हुआ इस शरीर को छोड़कर दूसरे में जाता है, तब जिनेन्द्रकथित धर्म को छोड़कर कोई दूसरा रक्षक नहीं होता है।

विशेषार्थः– जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता रूप आत्मानुभव को धर्म कहा है; शुद्धोपयोग मुख्य धर्म है, जो नवीन बन्ध को रोकता है, पुराने कर्मों को काटता है व आत्मा को शुद्ध करता है। शुभोपयोग व्यवहार धर्म है इससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है, जो कि परम्परा मोक्ष का कारण है। जब संसारी प्राणी मरने लगता है उस समय उसे कोई भी मरण से नहीं बचा सकता; स्त्री, पुत्र, मित्र, वैद्य, धन, सम्पदा, औषधि आदि सब पड़े रह जाते हैं, कोई इस जीव के साथ नहीं जाता। ऐसी असमर्थ दशा में मरण के समय यदि धर्म को स्मरण किया जावे, तो प्राणी शुभलेश्या से मरकर देवगति को ही प्राप्त होता है या मनुष्य गति पाता है; पुण्य के उदय से जिस गति में जावे वहाँ साता-कारी संयोग प्राप्त होता है और ऐसे साधन मिलते हैं जिनसे फिर भी पवित्र जिनधर्म में प्रीति हो जाती है। संसार में परम शरण, परम रक्षक तथा सुखप्रद यदि कोई मित्र है तो वह धर्म ही है; जो धर्म से प्रीति करता है वह सदा दुःखों से बचता है। यदि तीव्र कर्मों के उदय से भारी

कष्ट आ भी जाता है तो धर्म के प्रताप से वह प्राणी उन कष्टों को धैर्य के साथ सहन कर लेता है।

सारांश यह है कि धर्म के समान कोई उपकारी नहीं है। यथार्थ में, मोक्षमार्ग की दृष्टि से जीवन की परिपूर्णता के लिए आत्मोपलब्धि, आत्मबोध एवं आत्मनिमग्नता रूप रत्नत्रय धर्म की अखण्ड ज्योति आवश्यक है; ऐसे रत्नत्रयधारी मुनिराजों के तत्त्वदृष्टि होती है; आप्त, आगम तथा वीतरागी साधुओं के प्रति उनके अंतःकरण में सुदृढ़ श्रद्धा होती है, इसके लिए उनका सर्वाङ्गीण जीवन दर्पण का कार्य करता है। वैसे सूक्ष्मदृष्टि से सोचा जाय तो सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है। वह वाणी के अगोचर है तथा वह केवलज्ञान, मनः पर्ययज्ञान अथवा परमावधि, सर्वावधिज्ञान गोचर कहा गया है। वैसे सम्यग्दृष्टि के बाहरी चिन्ह भी होते हैं। जैसे अनन्तानुवन्धी रागादि अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभादि का अभाव प्रशम भाव है, इससे आत्मा में प्रशान्त भाव उत्पन्न होते हैं, संसार से भयभीत होने को संवेग कहते हैं, आत्मधर्म तथा धर्म के फल में परम उत्साह रखना तथा साधर्मियों में अनुराग अथवा पंच परमेष्ठियों में प्रीति करना संवेग है, त्रस-स्थावर आदि सम्पूर्ण प्राणियों पर दयाभाव रखना अनुकम्पा है तथा सम्पूर्ण तत्त्वों पर यथार्थ स्वरूप के निश्चय को आस्तिक्य भाव कहा है अर्थात् जिनेन्द्रप्रणीत आगम के कथन पर पूर्ण विश्वास धारण करने को आस्तिक्य कहा है परन्तु खेद है, आज कुछ लोग आगम की आज्ञा की जान बूझकर अवहेलना करते हुए आगम के बहुभाग को प्रामाणिक न मानकर अपने को सम्यक्त्वी बताते हैं तथा अपने साथियों को तत्त्वज्ञानी कहते हैं। वास्तव में, सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में यह चेष्टा प्रगाढ़ मिथ्याभाव से परिचालित प्रतीत होती है, ऐसे व्यक्तियों में सम्यक्त्व के सद्भाव के सूचक आस्तिक्य गुण का अभाव निश्चित होता है। आचार्यों की आज्ञा है कि जो व्यक्ति सूत्रकथित एक भी पद के अक्षर को नहीं पसन्द करता है तथा उसके सिवाय शेष आगम को मानता है, उसे मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। वास्तव में मिथ्यादृष्टि जीवों के आचारांगादि एकादश अंगों का ज्ञान

होते हुए भी आत्मा का अनुभव नहीं होता है; क्योंकि उनके मिथ्यात्व-प्रकृति का उदय पाया जाता है।

अल्पायुषा नरेणेह, धर्मकर्मविजानता ।
न ज्ञायते कदा मृत्यु-र्भविष्यति न संशयः ॥६६॥

अर्थ :– जगत् में, धर्म-कर्म को जाननेवाले थोड़ी आयु वाले मानव द्वारा यह नहीं जाना जा सकता है कि कब मेरा मरण होगा, इस बात में संशय नहीं करना चाहिए।

विशेषार्थ :– संसार में कर्मभूमि के मानवों को अकाल-मरण भी करना पड़ता है। इससे मरण समय का निश्चय करना दुर्लभ है; इसलिए ज्ञानीजनों को यही समझना चाहिए कि मेरा मरण सदा ही खड़ा रहता है, मालूम नहीं कब गला दबा देवे, इसलिए धर्मसेवन फिर करलेंगे इस भाव को मन से दूर करके धर्म का सेवन हर समय करते रहना चाहिए। ध्यान, स्वाध्याय, संयम, दान, तप, भक्ति, सेवा, परोपकारादि में सदा लगे रहना चाहिए, जिससे मरण जब चाहे जब होवे तो भी प्राणी को कष्ट न हो, मरकर सुगति प्राप्त हो।

देखो! संसार में इस मोही जीव की एक विचित्र अवस्था है कि वह बाह्य पदार्थों के संग्रह में निरन्तर लगा रहता है तथा अपने मनोदेवता तथा इन्द्रियों की परितृप्ति करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है फिर भी इसे कुछ साता नहीं मिलती। कदाचित् तीव्र पुण्योदय से अनुकूल सामग्री और संतोषप्रद वातावरण मिल भी गया तो फिर लालसाओं की वृद्धि उसे बुरी तरह बेचैन करती रहती है; इस प्रकार उस अन्तर्ज्वाला से दग्ध यह आत्मा वैभव-विभूति द्वारा प्रदत्त विचित्र यातनायें भोगा करता है। जगत् के विषयभोगादि अनित्य हैं, उनके सुखों में स्थायित्व नहीं है, वास्तविकता नहीं है, वे विपत्तियों के भण्डार हैं; ऐसी स्थिति में विवेकी सत्पुरुष अथवा कल्याणसाधकजन उन सुखों के प्रति अनासक्त होकर अपनी आत्मिक ज्योति के प्रकाश में जीवन नौका

को ले जाते हैं; जिसमें उन्हें किसी प्रकार का भी खतरा नहीं रहता है। परन्तु यदि प्राणी के मनोबल की कमी हुई तो विषयवासनाएँ इसे अपना दास बनाकर पददलित करने में नहीं चूकती हैं। मन को दास बनाना बड़ा कठिन कार्य है, लेकिन किसी भाग्यशाली प्राणी के यदि अपना मन वश में हो गया तो इन्द्रियाँ तथा वासनायें उस विजेता के आगे आत्म-समर्पण कर देती हैं। सच तो यह है कि अविनाशी आत्मा का विनाश करने की क्षमता मृत्यु में नहीं है, देखो! जब विद्यमान शरीर का मृत्तिकारूप परिणमन होता है, तब वह अपने बन्ध के अनुसार नवीन आवास-स्थल का अन्वेषण कर लेता है तथा अबाध गति से अन्य शरीर में जीवन तथा ज्योति भर देता है। ऐसा जानकर मानव को हर समय मृत्यु तथा भगवान् को नहीं भूलना चाहिए तथा समय रहते धर्मसेवन हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

आयुर्यस्यापि दैवज्ञैः, परिज्ञाते हितान्तके।
तस्यापि क्षीयते सद्यो, निमित्तान्तरयोगतः ।।६७।।

अर्थ :– यदि किसी की आयु, भाग्य के ज्ञाता निमित्त ज्ञानियों के द्वारा हित से अन्त होगी वा अमुक समय पर छूटेगी ऐसा जान भी लिया जावे फिर भी उसकी आयु किसी विपरीत निमित्त के संयोग होने पर शीघ्र क्षय हो जाती है।

विशेषार्थ :– यदि निमित्तज्ञानी बता भी देवें कि अमुक समय तुम्हारा मरण होगा तो भी उनका कहना कभी-कभी ठीक नहीं पड़ता, क्योंकि जगत् में असाध्य रोग, अग्नि-प्रकोप, भूकम्प, जलप्रवाह आदि अनेक अकस्मात् मरण एकाएक आ जाते हैं, जिससे आयुकर्म के पुद्गल परमाणु उदीरणारूप होकर शीघ्र ही गिर पड़ते हैं। जैसे दीपक में तेल इतना हो कि वह रात्रिभर जलेगा परन्तु किसी कारण से दीपक का तेल गिर जावे या हवा का झोंका लग जावे, तो वह दीपक शीघ्र बुझ जाता है, वैसे ही आयु की स्थिति निमित्तज्ञानी द्वारा जान भी ली जावे तो भी

वह स्थिति एकदम खिर जाती है। अतः जीवन की ऐसी क्षणभंगुरता समझकर बुद्धिमानों को सदा ही धर्म में तत्पर रहना उचित है। तत्त्व-ज्ञानियों ने बताया है कि हे आत्मन् ! तू अपने जीवन की दौड़ में इस बात को सोचने के लिए तनिक भी नहीं रुकता कि मैं कहाँ और किस-लिए जा रहा हूँ ? मालूम होता है कि तुम्हारी सत्यदर्शन की शक्ति चली गई है। अतः हे भाई ! इस शरीर के साथ-साथ कुछ अपनी आत्मा की भी सुधि लेते रहो, यदि आत्मा की चिंता न करके केवल शरीर की गुलामी में ही अपनी शक्ति व्यय कर दी तो याद रक्खो, जिस शरीर की गुलामी करते हो वह शरीर आयु के पूर्ण होने पर तुम्हारा साथ छोड़ देगा और जो आत्मा हमेशा ही साथ रहने वाला है वह दुःखी ही बना रहेगा। वास्तव में, अधिक कार्य व्यस्त व्यक्ति से शान्त भाव से पूछा जाय कि आप इस ज़बरदस्त दौड़-धूप को कब तक करोगे ? आप अपने जीवन को शान्तिपूर्वक क्यों नहीं बिताते ? तो वह कहेगा कि मुझे इसमें आनन्द आता है। हाँ, वह व्यक्ति यदि अन्तः निरीक्षण का अभ्यास करे तो वह यह स्वीकार करेगा कि कोल्हू के बैल के समान अपना जीवन बिताना विवेकी मानव के लिए शोभा की बात नहीं है। संसार से विमुख, महान् पुरुषों ने बताया है कि हे भाई ! आप रात-दिन धन के लिए दौड़ रहे हो लेकिन जरा सोचो इस धन ने आखिर तक किसी का साथ नहीं दिया, यह तो हमेशा बेवफा (बेईमान) दोस्त की तरह साबित हुआ है और अन्त में मूर्च्छा के सद्भाव में यह दुर्गति का ही कारण होता है। इसलिए विवेकीजनों का कर्त्तव्य है कि वे आयु को स्थायी न समझकर आत्महित में लग जावें, वरना अन्तमें पछताना ही होगा।

जिनैर्निगदितं धर्मं, सर्वसौख्यं महानिधिम् ।
ये न तं प्रतिपद्यन्ते, तेषां जन्म निरर्थकम् ॥६८॥

अर्थ :– श्री जिनेन्द्र भगवान ने सर्व सुख के भण्डारस्वरूप धर्म को कहा है, जो प्राणी उसे धारण नहीं करते हैं उनका जन्म वृथा है।

विशेषार्थ :– श्री वीतराग सर्वज्ञ देव ने जिस धर्म का उपदेश किया है वह सर्व प्रकार से सुख का भण्डार है, उस धर्म के पालने से कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहता, वर्त्तमान में भी सुख होता है, आत्मिक सुख का स्वाद आता है, भविष्य में भी साताकारी संयोगों को देने का कारण है और परम्परा से मोक्ष का हेतु है। ऐसे वीतराग विज्ञानमयी धर्म को जो प्राणी नहीं धारण करते हैं उनका मनुष्य-जन्म निरर्थक है। नरजन्म को शोभा आत्मानन्दप्रदायक व परम अहिंसामय धर्म के आराधन से ही होती है; संसार में जो मनुष्य जिन-कथित संयम को पालते हुए अपनी आत्मा को शुद्ध करते हैं उन्हीं का जन्म सफल है; परन्तु जो धर्म से विमुख रहते हैं तथा रात-दिन कुटुम्ब के मोह में अंधे होकर रहते हैं वे मानों इस नर जन्मरूपी रत्न को कोड़ियों के बदले खो रहे हैं। यथार्थ में सच्चे सुधार का एवं सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है बल्कि उसको इच्छापूर्वक घटाना है; ज्यों-ज्यों प्राणी परिग्रह को घटाता जाएगा त्यों-त्यों उसके सच्चा सुख और संतोष बढ़ता जाएगा। इस प्रकार के पवित्र सुख और संतोष को प्राप्त करने के लिए मानव को जड़तत्त्व की आराधना छोड़नी होगी और अनन्त शक्ति के अक्षय भण्डार आनन्दमय आत्मा का आश्रय लेना होगा। जड़ पदार्थों की संगति से ही इस जीव की दुर्दशा हुई है, जैसे अग्नि जब लोहे की संगति करती है, तब वह लुहार के द्वारा घनों की मार सहन करती है। परन्तु जो व्यक्ति अपनी आत्मा को आनन्दमय जानकर परपदार्थों से ममत्व हटाता है, परमार्थ दृष्टि से वही ज्ञानी है, पंडित है, आत्मा अपने आपको स्व-संवेदन (ज्ञान) द्वारा भली प्रकार जान लेता है, आत्म-तत्त्व का क्षय नहीं होता है यह तो अविनाशी आनन्द वाला है तथा अनन्त सुख का स्वामी है। इसलिए प्राणियों को सर्व द्वन्द्व छोड़कर सुख के भण्डार धर्म की आराधना करनी चाहिए, जिससे अनादिकाल के संचित पाप क्षण भर में नष्ट हो जावें; परन्तु जो वर्त्तमान पर्याय के शरीर, धन, कुटुम्ब आदि को स्थिर जानकर रात-दिन विषय भोगों में मग्न हो रहे हैं वे समुद्र में चलती हुई अपनी नौका को ही मानों तोड़ रहे हैं।

हितं कर्म परित्यज्य, पापकर्मसु रज्यते ।
तेन वै दह्यते चेतः, शोचनीयो भविष्यति ॥६९॥

अर्थ :– जो प्राणी आत्मा की हितकारी क्रिया को छोड़कर पापकर्मों में रंजायमान हो जाते हैं, उन्होंने वर्त्तमान में तो अपने आपको दग्ध कर ही लिया, उनकी स्थिति भविष्य में भी शोचनीय होगी ।

विशेषार्थ :– आत्मा का सच्चा हित आत्मज्ञान सहित धर्म के आचरण में है । जो अज्ञानी मूर्ख इस हितकारी धर्म की परवाह न करके रातदिन विषय-कषायों के आधीन होकर उनकी सिद्धि हेतु हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि पापों में आसक्त होकर बिना ग्लानिके उन्हें करते रहते हैं; उन्होंने अपनी आत्मा को मानों जला ही डाला तथा अपना घोर बिगाड़ किया, क्योंकि पापकर्मों से तीव्र कर्मों का बन्ध हो जाता है । फिर जब उन पापों का उदय आएगा और दुःख सहना पड़ेगा, तब उन प्राणियों को बहुत पछताते हुए रोना पड़ेगा और खिन्न होना पड़ेगा; अतएव पापों से अपने मन को हटाकर धर्म में प्रवृत्ति करनी चाहिए । संसार में जो व्यक्ति विषयभोगों को भोगते हुए आत्मतत्त्व की पूर्ण अवस्था मोक्ष को चाहते हैं, वे असम्भव की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, अर्थात् अपनी छाती पर पत्थर बांधकर समुद्र को पार करना चाहते हैं; इसलिए आचार्यों ने सरल तथा मर्मस्पर्शी शैली में समझाया है कि हे भाई ! जैसे दो तरफ दृष्टि रखने वाला पथिक आगे नहीं बढ़ सकता है तथा दो मुखवाली सुई वस्त्र को नहीं सी सकती है इसी प्रकार इन्द्रियसुख और मुक्ति साथ-साथ नहीं होती है । संसार में जो प्राणी आत्मा को छोड़कर अन्य का ध्यान करता है, तो यह एक पागलपन है; जिसने मरकतमणि को पहिचान लिया है क्या वह कांचखण्ड की कोई गणना करेगा ! आचार्यों ने कहा है हे भाई ! ये विषयसुख तो केवल दो दिन के हैं और फिर दुःख की परम्परा है, इसलिए भूल करके भी तू इन नाशवान परवस्तुओं में ममत्व न कर अर्थात् अपने कंधे पर कुल्हाड़ी मत मार । मुक्तिपथ पर चलने

वाले योगियों ने एक हृदयग्राही उदाहरण द्वारा इस तत्त्व को समझाया है। तराजू के नीचे-ऊँचे पलड़े यह स्पष्टतया समझाते हुए प्रतीत होते हैं कि ग्रहण करने की इच्छा करने वालों की अधोगति होती है और अग्रहण की इच्छा वालों की ऊर्ध्वगति होती है, कितना मार्मिक सर्वोपयोगी उदाहरण है कि तराजू का वजनदार पलड़ा नीचे जाता है जो परिग्रह-धारियों के अधोगमन को सूचित करता है तथा हल्का पलड़ा ऊपर उठता है जो अपरिग्रह वालों के ऊर्ध्वगमन की ओर संकेत करता है।

यदि नामाप्रियं दुःखं, सुखं वा यदि वा प्रियम् ।
ततः कुरुत सद्धर्मं, जिनानां जितजन्मनां ॥७०॥

अर्थ :– यदि आपको दुःख अच्छा नहीं लगता है तथा सुख प्यारा लगता है तो संसार को जीतने वाले जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बताए गये सच्चे धर्म को पालना चाहिए।

विशेषार्थ :– दुःखों का मूल कारण पापकर्मों का उदय है तथा सांसारिक सुखों का निमित्त, मूल कारण पुण्य कर्मों का उदय है; इसलिए पाप-क्षय करने तथा पुण्य को संचय करने की आवश्यकता है, यह तभी हो सकता है जब मानव संसार, शरीर और भोगों से थोड़ी विरक्ति लेवे और जिनन्द्रकथित रत्नत्रय धर्म को सच्चे अर्थों में धारण करे, ऐसा करने से प्राणी दुर्गति के दुःखों से बचता है और जब तक निर्वाण प्राप्त न हो तब तक साताकारी संयोगों को प्राप्त करता है, अतएव धर्म-आचरण में प्रमाद करना उचित नहीं है। देखो! आचार्यों ने उन लोगों को भी आत्मोद्धार का सुगम उपाय बताया है, जो तपश्चर्या के द्वारा अपने सुकुमार शरीर को क्लेश नहीं पहुंचाना चाहते हैं अथवा जिनका शरीर यथार्थ में कष्ट सहन करने में असमर्थ है, उन्हें कहा है कि हे भाई! कठोर तपश्चर्या चाहे मत करो परन्तु तुम अपनी मनोवृत्ति के द्वारा वश करने योग्य क्रोधादि शत्रुओं को तो जीत लो, अगर इसमें भी आनाकानी करो तो यह तुम्हारी वेसमझी ही होगी।

मानसिक विकारों पर विजय पाना ही सच्चा विकास और कल्याण है; मानसिक पवित्रता का विशुद्ध जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि निर्वाणप्राप्ति की प्रथम सीढ़ी आत्मदर्शन है; आत्मदर्शन, आत्मबोध तथा आत्मनिमग्नता के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है, परन्तु जिन जीवों में निर्मल आत्मा का वास नहीं होता है, तत्त्वत: क्या शास्त्र, पुराण एवं आत्मतत्त्व की कोरी बड़ी-बड़ी बातें उन्हें निर्वाण प्राप्त करा देगी ? कदापि नहीं। देखो ! संसार में धन, वैभव, विक्रम, प्रभाव आदि सम्पन्न पुरुष की पूजा होती है और ऐसी विशेषता से समलंकृत व्यक्ति का सम्मान किया जाता है। परन्तु आत्मा का इनसे कोई पारमार्थिक हित सम्पन्न नहीं होता है, आत्मा का यथार्थ कल्याण तो उस संवर भावना से होता है, जिसके द्वारा कर्मों का बन्ध नहीं होता है। अत: भो मानवो ! यदि आप दु:ख से डरते हो और सुख चाहते हो तो आपका कर्त्तव्य हो जाता है कि महान् पुरुषों द्वारा बताए गये धर्म को मन, वचन और काय से सहर्ष स्वीकार करो वरना समय निकल जाने पर पछताना ही रहेगा।

विशुद्धादेव सङ्कल्पात्, समं सद्भिरुपार्ज्यते।
स्वल्पेनैव प्रयासेन, चित्रमेतदहो परम् ॥७१॥

अर्थ :– देखो ! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि थोड़े ही प्रयत्न से शुद्ध भावों से संतपुरुषों के द्वारा समभाव प्राप्त कर लिया जाता है।

विशेषार्थ :– परिणामों की बड़ी विचित्र गति है। मानव यदि अपने परिणामों को पलटना चाहे तो निमित्त मिलाने से परिणाम अशुभ व शुभ से हटकर शुद्धोपयोग में बदल सकते हैं। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ समभाव है, समभाव परम धर्म है, यही परम कल्याणकारी है। सामायिक, शास्त्रों का स्वाध्याय, भक्ति आदि निमित्तों के द्वारा वीतराग भाव जाग्रत हो जाता है अथवा व्यवहार नयको गौणकर जब शुद्ध निश्चयनयके द्वारा मनन किया जाता है, तब सर्व जीव मात्रपर समभाव

जाग्रत हो जाता है। देखो ! संसार में मानवों को चर्मचक्षुओं के साथ-साथ ज्ञाननेत्र भी मिला है, जिसके द्वारा वे वस्तुस्वरूप का निर्णय करने की शक्ति भी रखते हैं परन्तु जो व्यक्ति अपने ज्ञाननेत्र से हीन हैं वे कुबुद्धि मानव हितमार्ग को छोड़कर अहितमार्ग को अंगीकार करते हुए अनेक दुःख उठाते हैं; वास्तव में सम्यग्ज्ञानवंचितों के भाग्य में विपरीतार्थ दर्शन-वृत्ति ही होती है परन्तु सम्यग्ज्ञानी आत्मा पदार्थों के जानने में संशय रहित होते हैं। आचार्यों ने सम्यग्ज्ञान से रहित मानव को मनुष्य शरीरधारी मृग (पशु) कहा है, इतना ही नहीं उन्होंने यहाँ तक कहा है कि प्रशस्त जीवन की कला, जीवन जीने का फल, आत्म-परमात्म-परामर्श ग्रहण करने के लायक या छोड़ने के लायक विज्ञान, निराकुलता इत्यादि की सम्प्राप्ति ज्ञान बिना संभव नहीं। यथार्थ में, अज्ञानी हिताहित ज्ञान से शून्य होता है। ज्ञान के विषय में यह आवश्यक परामर्श है कि वह हितानुबन्धी होना चाहिए; यदि कोई व्यक्ति दीपक से पदार्थ-दर्शन के स्थान पर प्रमाद से अपने वस्त्र जला ले तो यह उसका दुरुपयोग ही होगा। इस प्रकार प्राणी यदि चाहे तो अपने अनादिकालीन अशुभोपयोग को त्यागकर शुभोपयोग ग्रहण कर सकता है, फिर उसी शुभोपयोग के माध्यम से अमृतमयी शुद्धोपयोग में प्रवेश कर सकता है—

अशुभ भाव को त्याग कर, सदा धरो शुभ भाव।
शुद्ध भाव आदर्श हो, यह आगम का भाव॥

इसमें प्रवेश होने के पश्चात् यह आत्मा परमात्मा बन जाता है अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा सिद्धान्त है। परन्तु मानव अपनी विपरीत धारणा को बदलने में कायरता का अनुभव करता है, इसी को आचार्यों ने अज्ञान कहा है, यदि यह बात मानव गले उतार ले कि मैं ज्ञानमय हूँ और पर वस्तुएँ मेरे से भिन्न हैं तो फिर दुःख किस बातका।

धर्म एव सदा त्राता, जीवानां दुःखसंकटात्।
तस्मात्कुरुत भो यत्नं, तत्रानन्तसुखप्रदे ॥७२॥

अर्थ :— संसार में जीवों की दुःख तथा संकटों से सदा रक्षा करने

वाला मात्र धर्म ही है, इसलिए अनन्त सुख के देने वाले उस धर्म को धारण करने में हे भाई ! तू पुरुषार्थ कर ।

विशेषार्थ :- जो व्यक्ति धर्मात्मा होते हैं उनके परिणामों में सदा संतोष रहता है, इसलिए दुःखों के आने पर वे आकुलित नहीं होते; असाता का उदय आने पर भी अपने भेद-ज्ञान के बल से वे धीर बने रहते हैं। धर्म के प्रताप से पिछले बाँधे हुए पापकर्मों को पुण्य में पलटा जा सकता है; पाप का बल घटाया जा सकता है। नवीन पुण्य का जो बन्ध होता है वह इस जन्म में भी फल देना प्रारम्भ कर सकता है, इस कारण धर्मात्माओं पर आने वाले दुःख-संकट टल जाते हैं या कम हो जाते हैं। अतः भव-भव के दुःखों से बचाने वाले व अनन्त सुख के देने वाले इस आत्मा के स्वाभाविक धर्म पर दृढ़ श्रद्धा लाकर उस धर्म का साधन प्रमाद छोड़कर बड़े उत्साह से करना चाहिए।

आज संसार में विपत्ति और संकट के जो काले बादल छा रहे हैं तथा हाहाकार का जो नग्न नर्तन दिखाई दे रहा है, उसका यथार्थ कारण यही है कि लोगों में प्रायः "आत्मवत्सर्वभूतेषु" की भावना लुप्त सी हो गई है और उसके स्थान पर स्वार्थसाधन की जघन्य एव संकीर्ण दृष्टि जाग्रत हो उठती है। मेरे विचार से तो यह विषम अवस्था इसलिए पैदा हो गई है कि मानव ने दौलत-संग्रह की भावना में धर्म को तिलांजलि दे दी है; अर्थात् अपनी आत्मा को भुला दिया है और शरीर की पुष्टि हेतु मद्य, मांस जैसी निंदनीय वस्तुओं को भी भक्षण करना शुरु कर दिया है। यह सब आत्मविस्मृतिका ही दुष्परिणाम है, जिससे स्वार्थ साधना के कारण मनुष्य अपने जीवन का भी मूल्यांकन नहीं कर पाता है तथा अधर्मकार्यों में निरन्तर लगा रहता है। वास्तव में जिन्हें अपनी आत्मा पर विश्वास होता है उन्हें हर समय संसार से विरक्ति रहती है तथा उनके परिणामों में संतोष एवं शान्ति रहती है, जिसके कारण उनके पूर्वपापोदय में भी सहनशीलता रहती है तथा पुण्योदय में वे आपे के बाहर होकर हर्षित नहीं होते वे इस, बात को भली प्रकार जानते हैं

कि ये सब पर हैं या संयोग-वियोग रूप हैं इनसे मुझे कोई मतलब नहीं है, मैं तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख तथा अनन्तशक्ति वाला चैतन्य आत्मा हूँ।

यत्त्वया न कृतो धर्मः, सदा मोक्षसुखावहः।
प्रसन्नमनसा येन, तेन दुःखी भवानिह ॥७३॥

अर्थ :- हे आत्मन्! क्योंकि तूने मोक्ष के सुख देने वाले धर्म को प्रसन्न मन के साथ सदा नहीं पाला है, इसी कारण से इस लोक में तू दुःखों का पात्र बन रहा है।

विशेषार्थ :- संसार में दुःखों का कारण पापों का उदय है। पापों का बन्ध आर्त्तध्यान व रौद्रध्यान से या अशुभ योग से होता है। जो प्राणी धर्म की क्रिया को भी अनादर भाव से करते हैं, उनको अपने परिणामों के अनुसार पाप का बन्ध होता है; इसलिए धार्मिक क्रियाओं को बड़े आनन्द तथा आदर भाव से व श्रद्धापूर्वक करना उचित है; जिससे अतिशयकारी पुण्य का बन्ध होवे। धर्म का साधन किसी लौकिक इच्छा से न करके केवल कर्मबन्धन से छूटने के लिए करना चाहिए तथा अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्ति के लिए करना चाहिए; वास्तव में धर्म वही है जो प्राणियों को अतीन्द्रिय सुख प्रदान करे। वह धर्म स्वात्मानुभव है, जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान तथा निश्चय सम्यक्चारित्र की एकता है अथवा ऐसे शुद्ध भाव की तरफ प्रेम बढ़ाने वाला शुभोपयोग भी धर्म है, जो सदा शुद्धोपयोग का कारण है। अतः जो प्राणी प्रसन्न मन से धर्म को धारण करेगा उसको कभी दुःख नहीं होगा।

संसार में विवेकी मानव अपने आदर्श की रक्षा के लिए आपत्ति की भी परवाह नहीं करता और न विपत्तियों से डरता है, वह तो अपने आत्मबल पर विश्वास रखता है तथा अन्याय और अत्याचारों से हर समय अपने को बचाता है। ईमानदारी और न्यायपूर्वक कमाई गई लूखीरोटी को अपनी झोंपड़ी में बैठकर खाना पसंद करता है; वह

जानता है कि अन्यायोपार्जित धन ज्यादा टिकता नहीं और न परलोक में साथ जाता है, वास्तव में, सदाचारी मानव की आत्मा में आनन्द का निर्झर बहता रहता है; उसके स्वप्न में भी असदाचार का अंश नहीं होता है। इस प्रकार विवेकी प्राणी जानता है कि बाह्य पदार्थों के अभाव में तनिक भी कष्ट नहीं है, यदि मानव के पास सद्विचार, लोकोपकार और पवित्रता की अमूल्य सम्पत्ति मौजूद है तो वह अद्वितीय सुख का स्वामी है। अतः आत्महितैषियों का कर्त्तव्य है कि वे दुर्गति ले जाने वाले आर्त्त-रौद्र ध्यान से बचें और धर्मध्यान के साथ शुक्लध्यान को प्राप्त करके अतिशयकारी अद्भुत मोक्षसुख को प्राप्त करें।

यत्त्वया क्रियते कर्म, विषयान्धेन दारुणम् ।
उदये तस्य सम्प्राप्ते, कस्ते त्राता भविष्यति ॥७४॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! विषयों में अन्धा होकर जो तेरे द्वारा भयानक तीव्र कर्म बाँधे जाते हैं, उन कर्मों के उदय आने पर तेरी रक्षा कौन करेगा ?

विशेषार्थ :– संसार के प्राणियों को अपने तीव्र कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है, कर्मों के उदय से शारीरिक व मानसिक अवस्था बिगड़ती है; उसको कोई बँटा नहीं सकता है। वास्तव में उस समय जो वेदना होती है उसको स्वयं अकेले ही भोगनी पड़ती है, तीव्र कर्मों का बन्ध अन्याय-अत्याचार, अभक्ष्य भक्षण से तथा मिथ्यात्व के कारण हो जाता है; विषयों में अन्धा प्राणी धर्म और न्याय का तिरस्कार करके जब तीव्र राग-द्वेष व मोह करता है वही तब कर्मों को बाँधता है।

संसार में वैभव, विद्या, प्रभाव आदि के अभिमान में मस्त होकर यह प्राणी अपने को अजर-अमर मानकर अपने जीवन की बीतती हुई घड़ियों की महत्तापर बहुत कम ध्यान देता है तथा यह सोचता है कि मेरे जीवन की आनन्द गंगा अविच्छिन्नरूप से बहती ही रहेगी; परन्तु भ्रान्त प्राणी ऐसा नहीं सोचता है कि परिवर्तन के प्रचंड प्रहार से बचना किसी के भी वश की बात नहीं है। खेद है कि संसार में मोह

तथा अज्ञान के कारण कोई-कोई जीव इतना अन्धा और पंगु बन जाता है कि वह अपने को ज्ञानज्योति वाला आत्मा न मानकर दीन-हीन तथा जड़ तत्त्व सदृश समझता है तथा शरीर में आत्मबुद्धि करके शरीर के नाश में अपना नाश और शरीर के विकास में आत्मविकास की कल्पना करता है। इस तरह अपने स्वरूप को भूलने वाला 'बहिरात्मा' 'मिथ्या-दृष्टि' अथवा 'अनात्मज्ञ' संज्ञा से पुकारा जाता है।

वास्तव में, अनात्मीय पदार्थों में आत्मबुद्धि धारण करने से ही आत्मा संसार परिभ्रमण किया करता है। निर्वाण का सच्चा साधक आत्मा तिल-तुष मात्र परिग्रह से भी पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद करके राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियों को पूर्णतया त्यागकर शरीरादि की बाधाओं की ओर तनिक भी दृष्टिपात न करके उपेक्षा वृत्ति को अपनाकर आत्मविश्वास को सुदृढ़ करते हुए सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में अपने अचिन्त्य तेजोमय आत्मस्वरूप की प्राप्ति निमित्त प्रगति करता है। लेकिन अज्ञानी और मोही प्राणी कभी नहीं सोचता कि मैं विषयों में अन्धा होकर निरन्तर कर्म तो बाँध रहा हूँ परन्तु उदय आने पर इन कर्मों से मेरी रक्षा कौन करेगा ? यदि इस प्राणी को इतनासा भान हो जावे कि ये कर्म अपना फल दिये बिना छोड़ने वाले नहीं तथा इन कर्मों के उदय में कोई भी उन दुःखों को नहीं बँटा सकता, तो यह प्राणी नये कर्मों को बाँधने में कम से कम जरूर भय खाएगा। लेकिन मोहान्धप्राणी अनेक प्रकार के दुःखों को रातदिन भोगते हुए भी थोड़ा सा विषयसुख मिलने पर परवाह नहीं करता है; इसके लिए एक हृदयग्राही उदाहरण निम्न प्रकार है—

देखो ! संसार के विषय-लोलुपी प्राणी ठीक उसी तरह मोह के वश अपना हिताहित नहीं सोचते हैं जैसे वह पथिक जो किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा पर टंगा हुआ है, उस शाखा को दो चूहे काट रहे हैं, नीचे पेड़ के तने को एक मस्त हाथी अपनी सूँड से उखाड़ने की तैयारी में है। पथिक के नीचे अगाध जल से पूर्ण तथा सर्पादि भयंकर जन्तुओं से भरा एक कुआ है; पथिक के मुख से कुछ ऊपर मधु-मक्खियों का

छाता है। उसके शरीर पर डंक मार-मार कर मधु-मक्खियाँ भारी वेदना पहुंचा रही हैं। किन्तु उस छाते से कभी-कभी एकाध मधु-बिन्दु टपककर पथिक को क्षणिक आनन्द प्रदान करती है। इस मधुर-रस से मुग्ध होकर पथिक न तो यह सोचता है कि शाखा के टूटने पर मेरा क्या हाल होगा और वह यह भी नहीं सोचता है कि गिरने पर उस कूप में उन भयंकर जन्तुओं का ग्रास बन जाएगा तथा उसके विषयान्ध हृदय में यह भी विचार पैदा नहीं होता कि यदि हाथी ने वृक्ष को गिरा दिया तो वह किस तरह सुरक्षित रहेगा! इस प्रकार अनेक विपत्तियों के होते हुए भी वह मधु की एक बूंद के रसपान की लोलुपतावश सारे दुःखों को भूला हुआ है। इतने में कोई विमानवासी दिव्यात्मा उस पथिक के संकटपूर्ण भविष्य के कारण अनुकम्पायुक्त होकर उसे समझाता है और अपने साथ निरापद स्थान को ले जाने के लिए सच्ची तत्परता प्रदर्शित करता है। परन्तु वह उसकी बात पर तनिक भी ध्यान नहीं देता है और कहता है कि मुझे कुछ थोड़ासा मधु-रस और ले लेने दो! फिर मैं आपके साथ चलूँगा; किन्तु उस विषयान्ध पथिक को ऐसा विचार भी नहीं होता है कि वह विमान में बैठ जाए; इतने में शाखा के टूटने से और वृक्ष के उखड़ने से उसका पतन हो जाता है तथा वह अवर्णनीय यातनाओं के साथ मौत का ग्रास बन जाता है। इस तरह से संसारी प्राणी का सजीव चित्र अंकित किया गया है। वास्तव में, पथिक और कोई नहीं किन्तु यह संसारी जीव ही है जिसकी जीवन शाखा को शुक्ल और कृष्ण पक्ष रूपी चूहे क्षण-क्षणमें क्षीण कर रहे हैं, हाथी मृत्यु का प्रतीक है और भयंकर जन्तुओं से युक्त कूप नरकादि गतियों का निदर्शक है, मधुरस सांसारिक क्षणिक सुख का सूचक है। विमानवासी पवित्रात्मा सत्पुरुषों का प्रतिनिधित्व करती है और वे मधु-मक्खियां कुटुम्ब तथा परिवारजनों की प्रतीक हैं। किन्तु वह विषयान्ध तनिक भी नहीं सुनता। वास्तव में जगत् का प्राणी मधु-बिन्दु तुल्य अत्यन्त अल्प सुखाभास से अपनी अनन्त लालसाओं को परितृप्त करना चाहता है, किन्तु खेद है कि आशा की तृप्ति होने के पूर्व

ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। देखो ! संसारी प्राणियों का अज्ञान कितना विचारणीय है ! मानव यह कभी नहीं सोचता है कि आखिर मुझे भी मरना है तथा मैं मरकर कहाँ जाऊँगा और मरने के पश्चात् ये बन्धुजन क्या मेरे साथ जाएँगे ? अन्याय-अत्याचार द्वारा जो मैं यह धन इकट्ठा कर रहा हूँ क्या यह साथ जाएगा ? मेरे शरीर का मरने के बाद क्या हाल होगा ? ये सारी बातें सामने होते हुए भी तनिक विषयवासनाओं के लोभ में मानव उस पथिक की तरह ही नहीं सोचता। यह अज्ञान जब तक न मिटेगा तब तक मानव को संसार समुद्र में निरन्तर गोते खाने ही होंगे। ऐसा समझकर विवेकियों को जल्दी से जल्दी अपने कल्याण में लग जाना चाहिए, इसमें किसी प्रकार की तकलीफ नहीं है। सचमुच में प्राणियों को मौत के मुंह से बचाकर अमरजीवन और आनन्दपूर्ण ज्योति को प्रदान करने की शक्ति तथा सामर्थ्य वा उच्चकला धर्म में विद्यमान है। जीवों को दुःख, शोक, भय का बीजस्वरूप दुर्भाग्य आदि जो प्राप्त होता है वह सब अधर्म से उत्पन्न होता है, ऐसा महान् पुरुषों ने बताया है।

६. इन्द्रिय-भोगों की असारता।

भुक्त्वाप्यनन्तरं भोगान् देवलोके यथेप्सितान्।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्तः, स किं प्राप्स्यति सम्प्रति ॥७५॥

अर्थ :– देखो ! स्वर्गलोक में इच्छानुसार भोगों को निरन्तर भोग-कर भी जो कोई तृप्त नहीं हुआ, वह भला वर्त्तमान के तुच्छ भोगों से किस तरह तृप्ति प्राप्त कर सकेगा ?

विशेषार्थ :–भोगों से कभी तृप्ति नहीं हो सकती; भोगों को जितना भोगा जाता है, उतनी ही तृष्णा बढती जाती है। जैसे खाज को जितना भी खुजाया जावे वह उतनी ही बढ़ती जाती है। देवों को विक्रिया

करने की शक्ति है। वे नाना प्रकार के भोग देवियों के साथ निरन्तर इच्छानुसार भोगते रहते हैं, तो भी उनका मन नहीं भरता है, तो भला मनुष्यलोक के अत्यल्प भोगों से तृप्ति होनी असंभव ही है। इसलिए धर्म का जो अपूर्व साधन मनुष्य-जन्म में हो सकता है, उसको इन अतृप्तिकारी भोगों में फँसकर न करना मूर्खता ही है।

यह जीव जब तक निजानन्द, निराकुल और शान्त स्वरूप को नहीं पहचानता है, तबतक ही अस्थि, मांस और मल-मूत्र से भरे हुए अपावन घृणित स्त्री आदि के शरीर से अनुराग करता है तथा पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है, परिग्रह आदि से अपने को सुखी मानता है। किन्तु जब इसके दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है तो इसके चित्त में विवेक की जागृति हो जाती है तथा यह जीव संसार से भयभीत होकर आत्मकल्याण हेतु संयम तथा व्रत ग्रहण करता हुआ, ज्ञायक स्वरूप होकर निजानन्दमय सुधारस का पान करने लग जाता है।

वास्तव में, प्राणी जब संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होता है तभी उसे मोक्षमार्ग में रुचि होती है; यह विचारधारा तब ही संभव है जब मानव अनन्तानुबन्धी कषाय को छोड़े और सम्यग्दर्शन प्राप्त करे। इसलिए आचार्यों ने सम्यक्त्व की इतनी प्रशंसा की है। कहा भी है कि—

सम्यक्त्वरत्नान्नपरं हि रत्नं, सम्यक्त्वमित्रान्न परं हि मित्रम्।
सम्यक्त्वबन्धोर्न परो हि बन्धुः, सम्यक्त्वलाभान्न परो हि लाभः॥

संसार में सम्यक्त्व के बराबर कोई रत्न नहीं है और न कोई उसके बराबर मित्र है, सम्यक्त्व के बराबर कोई बन्धु भी नहीं है और न कोई उसके समान लाभ है। इसलिए प्राणियों को मन, वचन, काय से मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए और इन्द्रियों के विषयभोगों से तथा विषय-वासनाओं से विरक्ति लेनी चाहिए।

वरं हालाहलं भुक्तं, विषं तद्भवनाशनम्।
न तु भोगविषं भुक्त-मनन्तभवदुःखदम्॥७६॥

अर्थ :- संसार में एक जन्म को नाश करने वाले हालाहल विष को खा लेना अच्छा है परन्तु अनन्त जन्मों में दुःख देने वाले भोगरूपी विष को भोगना ठीक नहीं है।

विशेषार्थ :- जो मूर्ख प्राणी इन्द्रियों के विषयों के सुख में आसक्त होकर न्याय-अन्याय वा धर्म-अधर्म का विचार नहीं करते हैं, निरर्गल होकर भोगों में लिप्त हो जाते हैं तथा धर्म कार्यों से विमुख रहते हैं, वे मिथ्यात्वादि कर्मों का ऐसा तीव्र बन्ध करते हैं, जिसके उदय में आने पर अनन्त जन्मों में एकेन्द्रियादि पर्यायों के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसलिए यहाँ कहा गया है कि कदाचित् विष खाकर मरजाना अच्छा है उससे इसी जन्म में शरीर का नाश होगा, परन्तु विषयभोगों में लिप्त होना अच्छा नहीं, क्योंकि ये भोग भविष्य में अनेक जन्मों में महान् दुःखदायी हैं।

प्राणियों को स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन आदि से ममत्व तभी तक रहता है, जब तक वे अपने स्वभाव को जानकर विरक्त नहीं होते। अज्ञानी प्राणी ही इन नश्वर पदार्थों को अपना समझकर इनसे राग-भाव करता है तथा इनके अभाव और सद्भाव में शोक और हर्ष करता है। यद्यपि प्राणी गृहस्थावस्था में सर्वथा ममत्व नहीं छोड़ सकता तो भी वह अपने पद के अनुसार षट्कर्मों को करते हुए तथा भेद-ज्ञान के प्रभाव से कर्म-बन्धनों को तोड़ते हुए आगे बढ़ सकता है। वास्तव में, प्रभुभक्ति आदि शुभकर्म सराग होते हुए भी कर्मबन्धन तोड़ने में सहायक हैं और ऐसा करने से परम्परा से जीव को इस प्रकार की योग्यता प्राप्त हो जाती है, जिससे वह कर्म-कालिमा को सहज में ही दूर कर सकता है। इसीलिए आचार्यों ने सभी लौकिक कार्यों के प्रारम्भ में भी भगवान का स्मरण, पूजा, अर्चा और गुणानुवाद करना श्रेष्ठ बताया है, ऐसा करने से लौकिक कार्य भी निर्विघ्न हो जाते हैं, धर्म का सेवन तो सदैव ही करना चाहिए। गृहस्थावस्था में दया, दान, पूजा, सेवा, परोपकार और भक्ति आदि करना हितकारी है; इनके किए बिना मानव मानवता का

पालन नहीं कर सकता है। इन धार्मिक क्रियाओं से मानव के परिणाम शुभ रहते हैं, कहा भी है कि—

धर्मप्रभावात् सकला समृद्धिः, धर्मप्रभावाद् भुवने प्रसिद्धिः।
धर्मप्रभावादणिमादिसिद्धिः, धर्मप्रभावात् निजवंशवृद्धिः॥

अर्थात्—धर्म ही सुख का कारण है तथा धर्म के प्रभाव से ही तीन भुवन में प्रसिद्धि होती है और धर्म के ही प्रभाव से सब तरह की अणिमादि ऋद्धियां प्राप्त होती हैं और धर्म के ही प्रभाव से वंश की वृद्धि होती है।

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं, सुखाभासं न तत्सुखम्।
तच्च कर्मविबन्धाय, दुःखदानैकपण्डितम्॥७७॥

अर्थ :— इन्द्रियों के भोगों से होने वाला सुख सुखसा दिखता है, परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है, वह तो कर्मों का विशेष बन्ध कराने वाला है तथा दुःखों को देने में एक चतुर पण्डित है अर्थात् महान् दुःखदायक है।

विशेषार्थ :— यहाँ सच्चे सुख की तरफ आचार्य लक्ष्य कराते हुए कहते हैं कि सच्चा आनन्द वह है जो हर एक आत्मा का स्वभाव है और जिसे हरेक आत्मा अपनी आत्मा के अनुभव से प्राप्त कर सकती है। इस सुख के भोगने में कभी कष्ट नहीं होता है, न वर्त्तमान में होता है और न भविष्य में होता है; क्योंकि इस सुख के भोगने से कर्मों की निर्जरा हो जाती है; मुक्तात्माओं का सुख स्वाधीन और आत्मोत्थ है, जबकि इन्द्रियों के भोगों से जो सुख पैदा होता है वह वास्तव में सुख सरीखा दिखता है, लेकिन वह वास्तविक सुख नहीं है; अपने राग-भाव की पीड़ा न सह सकने के कारण यह प्राणी इन्द्रिय-भोग करता है, उससे वर्त्तमान की पीड़ा कुछ क्षण के लिए शमन हो जाती है।

इन्द्रियों का भोग चित्त के ताप को बढ़ाने वाला ही है। तीव्र राग से अशुभ कर्मों का बन्ध हो जाता है, जिससे भावी काल में भी दुःख प्राप्त

होता है; अतः ज्ञानी जीवों को इन्द्रियसुख को असार व दुःखरूप व संसारवर्द्धक जानकर इससे अपनी श्रद्धा हटा लेनी चाहिए। केवल अतीन्द्रिय आत्मिक सुख की प्राप्ति की ही कामना करनी चाहिए। देखो ! संसार में रहते हुए सम्यग्दृष्टि भी भोग भोगता है और मिथ्यादृष्टि भी भोगता है, परन्तु दोनों के अन्तरंग अभिप्राय प्रकाश और तम के समान सर्वथा भिन्न हैं। बाह्य में देखा जाय तो दोनों की क्रिया समान है परन्तु मिथ्यादृष्टि राग में मस्त होकर झूमता है; जबकि सम्यग्दृष्टि उसी राग को हेय जानता है। इस विषय में देखो—

पंडित मूरख दो जनें, भोगत भोग समान।
पंडित समवृत्ति ममत बिन, मूरख हर्ष अमान ।।

वास्तव में, यही कारण है कि मिथ्यादृष्टि के भोग बन्धन के कारण हैं और सम्यग्दृष्टि के निर्जरा के लिए। इस विषय में जिनागम का एक सुन्दर चित्रण आदरणीय है—

सम्यक्त्वी के भोग निर्जरा हेत हैं। मिथ्यात्वी के वही बंध फल देत हैं ।।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि सम्यक्त्वी के भोग भोगते हुए बंध क्यों नहीं होते ? इसका उत्तर कहते हैं कि वैसे तो बन्ध दशम गुणस्थान तक बतलाया है। परन्तु मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय जो सम्यक्त्व के प्रतिपक्षी हैं उनका अभाव होने से अनंत संसार की अपेक्षा से वह अबन्ध ही है।

अक्षाश्वान्निश्चलं धत्स्व विषयोत्पथगामिनः।
वैराग्यप्रग्रहाकृष्टान्, सन्मार्गे विनियोजयेत् ।।७८।।

अर्थ :– विषयों के कुमार्ग में ले जाने वाले इन्द्रियरूपी घोड़ों को पकड़ो और वैराग्यरूपी लगाम से खींचकर उन्हें सच्चे मार्ग में लगाओ अथवा चलाओ।

विशेषार्थ :–जैसे घोड़ों की लगाम हाथ में न हो तो वे घोड़े इच्छानुकूल कुमार्ग में घुड़सवार को ले जाकर पटक देते हैं, परन्तु यदि उनकी लगाम हाथ में हो तो घुड़सवार उन घोड़ों को ठीक मार्ग में चला

सकेगा, उसी तरह विवेकी मानवों का कर्त्तव्य है कि वे इन्द्रियरूपी पांचों अश्वों को अपने वश में रखें। वैराग्यरूपी लगाम के द्वारा उनको जिनेन्द्र कथित धर्म में जोड़ देवें; वैराग्य के बिना इन्द्रिय-सुख की चाह कभी नहीं मिट सकती है, वैराग्य के प्रभाव से ही आत्मा अपने स्वरूप में आ सकती है।

इन्द्रियों को वशीभूत करने में वैराग्य समर्थ है, वैराग्य-प्राप्ति हेतु प्राणियों को बारह भावना भानी चाहिए। ये बारह भावनायें ही वैराग्य की जननी हैं—

"वैराग्य उपावन माई, चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई।"

–दौलतराम

प्रायः लोग इन बारह भावनाओं का गुणगान तो करते हैं, परन्तु वह गुणगान तब ही सार्थक है जब मानव उन भावनाओं को अपने हृदय में उतार ले अन्यथा सब, तोता पक्षी के राम-राम बोलने सदृश है। मैं सोचता हूँ कि मानव इस पंचमकाल में आयु दीर्घ न होने के कारण यदि सर्व बारह भावनाओं का चिंतवन न कर सकता हो, तो कोई बात नहीं; यदि वह इनमें से एक ही भावना को गले उतार ले तो वह संसार से विरक्त हो सकता है। यदि कोई महानुभाव सर्व बारह भावनाओं को हृदयंगम कर ले तो वह महापुरुष इस दुःखमयी संसार में एक क्षण भी रहना पसन्द नहीं करेगा। जैसे किसी भव्य प्राणी ने मानलो एक भावना अर्थात् अनित्य भावना को गले उतार लिया अर्थात् अपने हृदय में उसका पदार्पण करा दिया तो उसके सामने संसार के सर्व पदार्थ अनित्य भासने लग जाएँगे। फिर तो वह हर समय यही चिंतन करेगा कि अरे! संसार में सभी चेतन-अचेतन पदार्थ जो मुझे दिख रहे हैं नाशवान हैं। ऐसी हालत में यदि कर्मयोग से उसके परिवार के किसी सदस्य का वियोग (मरण) भी हो जाएगा तो वह सोचेगा कि भाई! मैं तो पहले से ही जानता हूँ कि जो जन्मता है वह अवश्य मरता है अर्थात् संयोग के पीछे वियोग निश्चित है, तो भला मैं अपनी आत्मा को क्यों रो-रो कर पतन की ओर ले जाऊँ। इस प्रकार वह ज्ञानी आत्मा दुःख और

संताप से बच जाता है जब कि उस हालत में अज्ञानी अपना सिर धुन-धुन कर रोता है। आचार्यों ने बताया है कि—

सुख-दुःख रेखा कर्म की, टाल सके नहीं कोय।
ज्ञानी काटे ज्ञान से, मूरख काटे रोय ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणियों को बारह भावनाओं का हर समय चिंतन करना चाहिए जिससे यह चंचल मन वैराग्य की ओर झुक जावे। फिर वैराग्य के बल से पांचों इन्द्रियों को तथा मन को वश में करना चाहिए।

अक्षाण्येव स्वकीयानि, शत्रवो दुःखहेतवः।
विषयेषु प्रवृत्तानि, कषायवशवर्तिनः ॥७६॥

अर्थ :— कषायों के वश में रहने वाली इन्द्रियां ही विषयों में रत होती हुई दुःखों की कारण हैं और आत्मा की शत्रु हैं।

विशेषार्थ :— आत्मा के मूल शत्रु क्रोधादि चार कषाय हैं, इनमें लोभ बहुत बलवान है। लोभी प्राणी की स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने भोग्य विषयों में निरर्गल रीति से प्रवृत्ति करने लगती है, जिससे यहाँ विषय वांछारूप आकुलता बढ़ जाती है; इच्छित विषयों के न मिलने से कष्ट होता है तथा मिलकर उनका जब वियोग होता है तब अधिक कष्ट होता है; फिर तीव्र राग-द्वेष से तीव्र कर्मों का बन्ध होता है; जिससे प्राणियों को भव-भव में दुर्गति के जन्म पाकर बहुत असहनीय क्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिए ये इन्द्रियां ही वास्तव में इस आत्मा के लिए शत्रुवत् व्यवहार करती हैं; जो व्यक्ति इनको जीतकर इन्हें अपने आधीन रखता है वही सच्चा वीर है।

संसार में प्राणी अधिकतर लोभ कषाय के वश होकर नरक के दुःख भोगते हैं, जबकि संतोषी प्राणी हर समय सुख का अनुभव करता है, इस विषय में एक दृष्टान्त बड़ा मार्मिक है जिस पर विचार करने से वैराग्य हो सकता है—

एक सेठजी लोभरूपी रोग से ग्रसित थे। जब अपना लेखा-जोखा मिलाया तो उन्हें मालूम हुआ कि मेरे पास निजी पूंजी ६० लाख रुपया है। उन्होंने विचार किया यदि दस लाख रुपया और होते तो मैं करोड़-पति हो जाता, इस विचार से वे जंगल में जाकर बांस के एक बीड़े में प्रतिज्ञा करके बैठ गये कि भगवान मुझे दस लाख रुपया और देंगे तो मैं अन्न-जल ग्रहण करूंगा तथा उठूंगा वरना मरजाना मंजूर है, परन्तु अन्न-जल आदि न लूंगा। सेठजी को लगभग दस दिन हो गये। उनके शरीर का हाल बिगड़ गया, मानो मरने वाले हैं ऐसे हो गये, तब कोई देव वहाँ आया और कहने लगा सेठजी! क्या बात है, इस प्रकार क्यों मर रहे हो? तब सेठ ने कहा भाई! मेरे घर पर ६० लाख रुपया है, उनको करोड़ रुपया बनाने हेतु मैंने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की है कि दस लाख रुपया मिलेगा तो अन्न-जल ग्रहण करना, वरना मर ही जाना। यह हाल देख-कर उस देव ने कहा कि मैं आपको दस लाख रुपया दे दूंगा परन्तु एक शर्त पर दूंगा। वह शर्त यह है कि मेरे ऊंट पर दो बोरी गेहूं लदे हुए हैं। इस ऊंट को ले जाओ और सामने वाले अमुक गांव में अमुक नाम का जो ब्राह्मण रहता है उसे बिना पैसे ही खाने के लिए ये दोनों बोरी गेहूं दे आओ। सेठ ऊंट को लेकर गया, उस गांव में पहुंचकर उस ब्राह्मण के घर पर जाकर उसे बोला हे भाई! आपके लिए किसी व्यक्ति ने ये दो बोरी गेहूं भेजे हैं सो जल्दी से उतरवा लो; यह सुनकर ब्राह्मण बोला, भाई! मुझे तो जरूरत है नहीं, मैं दो बोरी गेहूं का क्या करूं, तब सेठजी ने काफी समझाया कि भाई बिना पैसे के हैं और बढ़िया गेहूं हैं; लेकिन ब्राह्मण ने साफ जबाब दे दिया कि मुझे आवश्यकता ही नहीं तो क्या करूँ। जब सेठजी ज्यादा कहने लगे तो वह ब्राह्मण घर में अपनी ब्राह्मणी के पास गया, सेठजी भी साथ ही चले गये। ब्राह्मण ने अपनी स्त्री से कहा कि ये सेठजी दो बोरी गेहूं लाये हैं, तब स्त्री ने कहा, अपन क्या करें, अपने तो आवश्यकता है नहीं। परन्तु सेठजी बहुत कहने लगे, माताजी! मेरी लाज रखो और गेहूं ले लो, तब वह स्त्री रसोई में जाकर वापिस आई और बोली सेठजी मेरी हंडिया में आधा

सेर आटा पड़ा हुआ है जो हम दोनों प्राणियों के लिए आज शाम को खाने के लिए बहुत है। इसलिए आप अपने गेहूं ले जाइये हमें कल के लिए जरूरत नहीं; कहा भी है कि—

"आड़ी पड़ी रात, कल की कौन करे बात"

यह हाल देखकर सेठजी के मन में विचार आया— अहो देखो! जिनके पास आधा सेर आटा है, वे कल की फिकर नहीं करते हैं परन्तु मैं मूर्ख ९० लाख रुपया घर पर होते हुए भी मरने को तैयार हो गया, धिक्कार है मुझे, ऐसा विचार करके सेठजी संसार से विरक्त हो गये और वन में जाकर गुरु के पास मुनिव्रत धारण कर लिया। देखो! संसार में लोभ के वश प्राणी किस तरह मर रहे हैं और संतोष के कारण कैसे सुखी रह सकते हैं। ऐसा विचार करके लोभ का त्याग करके संतोष-पूर्वक रहना चाहिए।

इन्द्रियाणां यदा छंदे, वर्तते मोहसंगतः।
तदात्मैव तव शत्रु-रात्मनो दुःखबन्धनः॥८०॥

अर्थ :— जब यह प्राणी मोह की संगति से इन्द्रियों के आधीन आचरण करता है तब यह आत्मा ही अपने लिए दुःखों का कारण होता हुआ अपना शत्रु हो जाता है।

विशेषार्थ :— यदि भले प्रकार विचार किया जावे तो यही सिद्ध होगा कि यह आत्मा आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है। जब यह मोह की मदिरा पीकर आत्महित को भूल जाता है, तब यह पांचों इन्द्रियों की चाह के वश होकर मनमाने काम करता है, जिनसे पापकर्मों को बाँध लेता है; फिर उन पापों के उदय से जगत् में कष्ट पाता है। उस समय यह अपने लिए आप ही शत्रु बन जाता है, वास्तव में, इस जीव को कभी दुःख नहीं हो सकता है जब तक कि इसके पापकर्मों का उदय न होवे; 'अपनी करणी, अपनी भरणी' यह लोकोक्ति यथार्थ है।

सारांश यह है कि संसार में प्राणी अपनी भूल से कर्मों के उदयकाल में रागादि भाव करते हैं; जिससे कर्मों के बन्ध का बीज-वृक्ष की सन्तति के समान अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है; जब तक कर्म-सन्तति को तोड़ने का यह जीव प्रयत्न न करेगा तब तक यह सम्बन्ध चलता ही रहेगा क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से अज्ञानी प्राणियों के राग-द्वेष, मोह आदि विकार उत्पन्न होते हैं, इनमें लगन होने से नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है। परन्तु जो विवेकी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा विकारों के उत्पन्न होने पर आसक्त नहीं होते हैं अथवा विकारों को उत्पन्न ही नहीं होने देते तथा विकारों को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय में आने के पहले ही संयम तथा तप करके उनका नाश कर देते हैं, वे संसार से अवश्य छूट जाते हैं। परन्तु जो पुरुषार्थ नहीं करते हैं, वे कर्मों के फंदे में पड़कर उसके फल को भोगते रहते हैं।

कर्मों के उदयकाल में विकारों का उत्पन्न होना कोई बड़ी बात नहीं है; परन्तु पुरुषार्थी व्यक्ति उन विकारों के वश में नहीं होते; उन्हें अपना विभावरूप परिणमन समझकर शान्त रहते हैं। वे पूर्वोपार्जित कर्मों के उदयकाल में न हर्ष करते हैं, न विषाद करते हैं, अपितु साम्य-भाव धारण करते हैं; इसमें एक मात्र कारण यह है कि वे भेद-विज्ञान से अपनी आत्मा को और कर्मों को पृथक् २ मानते हैं परन्तु अज्ञानी प्राणी इस ओर लक्ष्य नहीं देते हैं वे कर्मजनित सुख-दुःख की अवस्था में भारी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। अतः प्राणियों को आत्मस्वभाव पर विचार करते रहना चाहिए जिससे आत्महित का मार्ग मिल जावे।

इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि, विषयेषु निरन्तरम् ।
सज्ज्ञानभावनाशक्त्या, वारयन्ति हिते रताः ॥८१॥

अर्थ :– इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में निरन्तर प्रवृत्ति किया करती हैं, आत्महित में लगे हुए साधक सम्यग्ज्ञान की भावनारूप शक्ति से इनको विषयों में प्रवृत्त होने से रोकते हैं।

विशेषार्थ :- इन्द्रियों का स्वभाव चंचल है। ये निरन्तर अपने-अपने इष्ट भोगों की कामनाएँ किया करती हैं और पदार्थों को प्राप्त करके उनको भोगा करती हैं। ज्ञानीजीव सम्यग्ज्ञान के बल से इनके अयोग्य स्वभाव का विचार करता है कि यदि मैं इनके वशमें हो जाऊंगा तो आत्मकल्याण नहीं हो सकेगा। अतः इनको रोककर अपने आधीन रखना ही श्रेयस्कर है; इनको वश में रखने से इनसे वे ही काम लिए जा सकते हैं जिनसे अपनी उन्नति में सहायता मिले। संसार में बुद्धिमान् लोग वे ही हैं जो इनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोक करके आत्म कल्याण में लगते हैं। सच तो यह है कि प्राणी मोह के वश होकर इन इन्द्रियों के विषयों में फंसता है, यदि मोह (राग) न रहे तो संसार के पदार्थ उस प्राणी को अरुचिकर हो जाते हैं, इसके विषय में, कविवर दौलतरामजी ने कितने सुन्दर ढंग से समझाया है कि राग के कारण ही संसार के भोग-विलास सुन्दर प्रतीत होते हैं, परन्तु जब प्राणी रागरहित होता है तो उसे वे भोगविलास भयंकर विषैले सर्प के समान प्रतीत होने लगते हैं—

राग उदै भोग-भाव लागत सुहावने से,
बिना राग ऐसे लागैं जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहें तन में सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं।
राग सौं जगत रीति झूठी सब सांच जाने,
राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिन रागी के विचार में बड़ो ही भेद,
जैसे भटा पथ्य काहु, काहु को बयारे हैं।

अर्थात्-मोह के उदय से यह जीव भोग-विलास में प्रेम करता है, उसे भोग-विलास अच्छे लगते हैं। राग-रहित जीव को ये भोग-विलास काले साँप के समान भयंकर भासते हैं। देखो, राग के कारण यह जीव शरीर को ही सब कुछ समझता है, परन्तु राग के नष्ट होने पर शरीर से ग्लानि हो जाती है; फिर अन्याय-अत्याचार आदि पाप कामों से विमुख हो जाता है। राग के कारण ही मानव दुनिया के

झूठे नाते, रिश्ते और रीति-रिवाजों को सत्य मानता है, परन्तु राग के दूर होने से दुनिया का खेल प्रत्यक्ष झूठा दिखने लगता है। रागी (मोही) वैरागी (निर्मोही) के विचार में बड़ा भारी अन्तर रहता है। रागी प्राणी संसार में चक्कर काटता ही रहता है, जबकि वैरागी संसार से वैराग्य धारण करके अनुपम मोक्षसुख को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जानकर प्राणियों को राग भाव छोड़कर आत्महित में आरुढ़ हो जाना चाहिए, क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इन्द्रियेच्छारुजामज्ञः, कुरुते यो हि उपक्रमम् ।
तमेव मन्यते सौख्यं, किं तु कष्टमतः परम् ॥८२॥

अर्थ :– जो अज्ञानी जीव इन्द्रियों के इच्छारूपी रोगों का ही उपाय करता रहता है और उसी को सुख मानता है, इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है !

विशेषार्थ – वास्तव में इन्द्रियों की इच्छाएँ रोग हैं, उन रोगों की शान्ति का उपाय आत्मानन्द का भोग तथा वैराग्य है; तथापि अज्ञान से या पूर्व संस्कार से उन इच्छाओं के मिटाने के लिए यह प्राणी इन्द्रियों के विषयों को भोगने में प्रवृत्त होता है और उसीमें सुख मान लेता है, यही इसकी भूल है। जैसे—रोग हितकारी नहीं होते वैसे रोग को बढ़ाने वाली दवा भी हितकारी नहीं हो सकती है; विषय-भोग से इच्छा-रोग बढ़ता जाता है, ज्ञानी गृहस्थ भी आवश्यकतानुसार आकुलित होकर न्यायपूर्वक विषय-भोग करता है; परन्तु इन्द्रियों के उन भोगों को और उनके सुख को त्यागने योग्य तथा आगामी दुःखों का कारण जानता है। इससे जितना-जितना उसके वैराग्य बढ़ता जाता है उतनी-उतनी विषयेच्छाएँ भी घटती जाती हैं।

वास्तव में, सच्चा सुख आत्मा का स्वभाव है, ऐसी श्रद्धा होने से ज्ञानी प्राणी के न्यायपूर्वक किए गये भोग अहितकारी नहीं होते हैं अर्थात् उसके तीव्र बन्ध नहीं होता है। जबकि अज्ञानी को विषय भोगों

की ही श्रद्धा होती है, वह तो विषय-भोगों में ही सुख मानता है। इसलिए विषय-भोगों की ही रातदिन चाह रखता है और उनका सेवन करता है, उनके पीछे ऐसा उन्मत्त हो जाता है कि धर्माचरण नहीं करता है तथा तीव्र पाप के फल से दुर्गतियों में जाकर घोर कष्ट पाता है।

देखो ! संसार में ज्यादातर तो अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय सुखों में ही प्रयत्न करते रहते हैं। वे खाते, पीते, पहनते, बच्चों को पालते तथा धन संग्रह करते-करते मर जाते हैं। उन्होंने मनुष्य जन्म का क्या सार निकाला ? वास्तव में, ये काम तो पशु भी करते हैं। अपना उदरपोषण तथा अपने बच्चों का पालन तो शूकर-कूकर भी करते हैं। यदि मानव जन्म पाकर के भी कोई अपना सम्पूर्ण जीवन पेट भरने में ही पूरा करता है तो फिर शूकर-कूकर सदृश ही जीवन जानना चाहिए। आचार्यों ने बताया है कि इस मानव-पर्याय में संयम तथा तप धारण करके आत्म-हित करो। कहा भी है कि—

यह तन पाय महातप कीजे यामें सार यही है।

इसलिए मानवों को अपनी विषय-वासनाएँ कम करके धर्म-ध्यान में समय लगाना चाहिए, जिससे दुःखमय संसार से निकलकर अनन्त सुख की प्राप्ति हो जावे।

आत्माभिलाषरोगाणां, यः शमः क्रियते बुधैः।
तदेव परमं तत्त्व-मित्यूचुर्ब्रह्मवेदिनः ॥८३॥

अर्थ :– बुद्धिमान लोग अपने इच्छारूपी रोगों का शमन करते हैं तथा उनसे अपने मन को हटाकर अपनी श्रद्धा को आत्मस्वरूप की ओर लगाते हैं वही परमतत्त्व है, यह बात ब्रह्मज्ञानी संतों ने कही है।

विशेषार्थ :– आत्मज्ञानी साधुओं ने भले प्रकार अनुभव करके यह बात जानी है कि इन्द्रियों की इच्छाएँ भोगों से नहीं मिटती हैं प्रत्युत बढ़ती है परन्तु आत्मध्यान द्वारा स्वात्मानन्द के भोग से मिटती है,

ज्ञान, वैराग्यसहित आत्मचिंतन ही विषय-रोगों की दवा है। इसलिए वे ही मानव विवेकी हैं जो अतृप्तिकारी इन्द्रियों के भोगों में नहीं फँसते हैं; किन्तु उनसे विरक्त होकर परम शान्ति के समुद्ररूप निज, आत्मिक स्वभाव में निमग्न रहते हैं और उसी चर्चा में लगे रहते हैं। वास्तव में, धर्म का परम सार आत्मानुभव ही है, यही इच्छारूपी रोगों की अचूक दवा है। सच तो यह है कि प्राणी का आत्मा के अतिरिक्त कोई नहीं है, यह अशुद्ध अवस्था में शरीर में इस प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि, दही में घी, तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध, इतने पर भी यह शरीर से बिल्कुल भिन्न है, जिस प्रकार वृक्ष पर बैठने वाला पक्षी वृक्ष से भिन्न है, जैसे शरीर पर धारण किया हुआ वस्त्र शरीर से भिन्न है। दूध और पानी मिल जाने से जैसे एक द्रव्य प्रतीत होता है, इसी प्रकार कर्मों के संयोग से बद्ध आत्मा भी शरीररूप मालूम पड़ता है। वास्तविक विचार करने पर यह आत्मा शरीर से भिन्न ही प्रतीत होगा। देखो! शरीर के स्वरूप-गुण आदि आत्मा के स्वरूप-गुण की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न हैं, आत्मा चेतन है, शरीर अचेतन है; आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है। अतः शरीर से सर्वत्र आत्मा को भिन्न समझकर आत्मा का क्रमिक विकास करना चाहिए। शरीर और आत्मा के विषय में कवि का उद्गार इस प्रकार है—

" देहोऽहमिति या बुद्धि-रविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति, बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥"

अर्थात्—मैं शरीर हूँ इस प्रकार शरीर में एकत्व बुद्धि अविद्या कही गई है। परन्तु मैं शरीर नहीं हूँ, चैतन्यमय आत्मा हूँ, यह बुद्धि विद्या है। संसार में जिन प्राणियों के पास भेद-विज्ञान रूपी प्रज्ञा है, वे सर्वोपरि विद्वान् हैं, वे इस भेद-विज्ञान से अपनी आत्मा को और शरीर को भिन्न-भिन्न देखते हैं तथा पर वस्तुओं को अपनी न मानते हुए आत्मस्वभाव में मग्न रहते हैं।

इन्द्रियाणां शमे लाभं, राग-द्वेषजयेन च।
आत्मानं योजयेत् सम्यक्, संसृतिच्छेदकारणम्॥८४॥

अर्थ :– इन्द्रियों की इच्छाओं की शान्ति होने पर तथा रागद्वेष को जीत लेने से आत्मा का कल्याण है, इसलिए संसार का विनाश करने वाले संयम, तप और समाधिरूप कारणों में अपने को भले प्रकार लगाना चाहिए।

विशेषार्थ :– देखो ! भवसागर अथाह है, दुःखों का घर है, इसमें गोते खाने का कारण तीव्र पापों का बन्ध है। इन्द्रियों को जो प्राणी अपने वश में नहीं रख सकता है, जो राग-द्वेष के पाश में फँसा रहता है, अर्थात् विषय-भोगों को जो उपकारी जानकर उनमें बड़ा राग करता है और जो धर्माचरण हितकारी हैं उनमें द्वेष या उदासीनभाव रखता है, वह तीव्रकर्म बांधने के कारण संसार से पार नहीं हो सकता है। जो प्राणी इस संसार को असार जानकर इससे निकलना चाहता है, उसका परम कर्त्तव्य है कि वह इन्द्रियों की इच्छाओं का निरोध करे, सादा जीवन बितावे, प्राप्त वस्तुओं में संतोष रखे, यथाशक्ति मन, वचन और काय को संवर में रखकर महाव्रतों या अणुव्रतों का पालन करे और अन्तरंग में आत्मिक रस का स्वाद लेवे, तो नवीन कर्मों का बन्ध रुकेगा, अत्यल्प बंध होगा और पुरातन संचित कर्मों की प्रचुर निर्जरा होगी। फिर वीतरागता का अभ्यास उसी क्षण आत्मसुख का अनुभव कराएगा और संसार को छेद करता चला जाएगा। वास्तव में, इस शरीर में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप शक्ति आत्मा की है। अतः मानवों को आत्मिक शक्ति का यथार्थ परिज्ञान करके बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धि का त्याग करना चाहिए। इस विषय में एक कवि ने कहा है कि—

आतम-हित जो करत है, सो तन को अपकार।
जो तन का हित करत है, सो जिय का अपकार॥

अर्थात्—जो तप, ध्यान, त्याग, पूजन आदि के द्वारा आत्मा का कल्याण किया जाता है, वह शरीर का अपकार है क्योंकि विषय निवृत्ति से शरीर को कष्ट होगा; धनादि की वाञ्छा का परित्याग करने से मोही प्राणी कष्ट का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि तप, ध्यान, वैराग्य

से आत्म-कल्याण किया जाता है, इनसे शरीर का हित नहीं होता, अतः शरीर को परवस्तु समझकर रहने वाले को धन-धान्य की वांछा नहीं करनी चाहिए। धन-धान्यादि परिग्रह तथा विषय-वासनाओं के द्वारा शरीर का हित होता है, परन्तु ये सब आत्मा का अपकार करने वाले हैं; अतः आत्मा के हितकारी कार्यों को ही करना मानवता है।

इन्द्रियाणि वशे यस्य, यस्य दुष्टं न मानसम् ।
आत्मा धर्मरतो यस्य, सफलं तस्य जीवितम् ॥८५॥

अर्थ :– जिन प्राणियों के वश में अपनी पांचों इन्द्रियां हैं, जिनका मन दुष्ट या दोषी नहीं है तथा जो धर्म में रत हैं, उनका ही जीवन सफल है।

विशेषार्थ :– मानव जीवन की सफलता तभी है जब आत्मा कर्मोदयजन्य साता परिणति में संतोष रखता है तथा प्रतिकूल सामग्री के मिलने पर भी असन्तुष्ट नहीं होता है; अपितु वास्तविक सुख शान्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है तथा फिर धर्माचरण करते हुए अपनी इच्छाओं को रोकता है। इच्छाओं को रोकना ही तप है। "इच्छा-निरोधः तपः" लेकिन जब प्राणी अपनी इच्छाओं को रोकने में असमर्थ हो जाता है, तो वह इन्द्रिय-विषयों के जाल में फंस जाता है और संसार वृद्धि के कार्यों में तन्मय हो जाता है तभी दुःख का पात्र बनता है। अतः जो व्यक्ति पांचों इन्द्रियों और मन को स्वाधीन रखता है, उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोक देता है तथा अपने समय को धर्मकार्यों में लगाता है, मुनि या श्रावक का चारित्र बड़े उत्साह से सम्यग्दर्शन सहित पालता है उसी महात्मा का नर-जन्म पाना सार्थक है।

मनुष्यजन्म का पाना तब ही सार्थक है, जब मानव गृहस्थावस्था में भी अपना कुछ नियत समय धार्मिक क्रियाओं में बिताता हो तथा हर समय ऐसी भावना करता हो कि हे भगवन्! कब मेरे पुण्य का योग आएगा कि मैं सर्व द्वन्द्वों, परिग्रहों को छोड़कर महाव्रत ग्रहण करूंगा। इस

तरह भावना रखने वाला प्राणी एक न एक दिन आत्म-हित में लग सकता है; बिना धर्म भावना के नरजन्म पाने की कोई सार्थकता नहीं; जैसे कवि ने अपने चित्रण में बताया है, जो मनन करने लायक हैं—

अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं, न्यायेन राज्यम् लवणेन भोज्यम् ।
धर्मेण हीनं बत ! जीवितव्यं, न राजते चन्द्रमसा निशीथम् ।।

अर्थात् जिस प्रकार अन्न के बिना शरीर की शोभा नहीं, आँखों के बिना मुख की शोभा नहीं तथा न्याय के बिना राज्य की शोभा नहीं और लवण के बिना भोजन की शोभा नहीं होती है, उसी प्रकार धर्म के बिना जीवन की कोई शोभा नहीं तथा चन्द्रमा के बिना रात्रि की शोभा नहीं होती है। ठीक इसी तरह मानव जन्म पाकर यदि कोई अज्ञानी धर्मधारण नहीं करता है तो उस मनुष्य जन्म से क्या ? आचार्यों ने तो धर्मरहित मानव को पशुतुल्य कहा है जैसे- "धर्म पन्थ साधे बिना नर तिर्यंच समान" अर्थात् धर्म के बिना मनुष्य-जीवन निरर्थक है। मानव जीवन का सार कर्म बन्धनों से छूटना ही है।

परनिन्दासु ये मूकाः, निजश्लाघापराङ्मुखाः ।
ईदृशैर्यैं गुणैर्युक्तास्ते पूज्याः सर्वविष्टपे ।।८६।।

अर्थ :– जो व्यक्ति दूसरों की निन्दा करने में मौन रखते हैं तथा अपनी प्रशंसा से उदासीन रहते हैं कभी अपनी बड़ाई नहीं करते हैं अर्थात् जो इस प्रकार के गुणों से युक्त हैं, वे सर्वलोक में पूजनीय हैं।

विशेषार्थ :– संसार में वे ही ज्ञानी हैं जो दूसरों के दोषों के ग्रहण में व उनके वर्णन में मौन हैं तथा अपने भीतर गुण होते हुए भी अपना गुणगान नहीं करते हैं। वे यह समझते हैं कि जब तक मुझ में अज्ञान का राग-द्वेष का किंचित् भी अंश मौजूद है, तबतक हम अपनी प्रशंसा क्या करें ? अर्थात् अपवित्र अवस्था में आत्मश्लाघा जरा भी शोभा नहीं देती। इसलिए जबतक हम पूर्ण पवित्र न हों तब तक हम प्रशंसनीय नहीं कहला सकते हैं। जो प्राणी दोष कर लेते हैं वे आत्मबल की कमी से

कषायों के उदय के आधीन हो जाते हैं, वे कषायों को रोकते नहीं, इसलिए वे दया के पात्र हैं निन्दा के पात्र नहीं, उनकी निन्दा तो तब की जावे जब स्वयं उन दोषों से रहित हो।

देखो! अनादिकालीन संसार में यह प्राणी बराबर अनेक दोषों को कर चुका है अतएव दूसरों की निन्दा करना अज्ञान है। इसलिए संत पुरुष परनिन्दा व आत्मप्रशंसा न करके जिस उपाय से अपने गुण बढ़े तथा दोष छूटें और दूसरों के गुण बढ़े तथा दोष छूटें उसे अपना कर्त्तव्य जानकर करते हैं वृथा बकवाद नहीं करते हैं, ऐसे सज्जन ही लोक में सम्मान के पात्र होते हैं। अतः प्राणियों को पराई निन्दा जैसे घृणित कार्य को नहीं करना चाहिए तथा अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिए। लेकिन पापकर्म के उदय से बहुत से प्राणियों का तो यह मुख्य काम रहता है कि दूसरों के औगुन ही ग्रहण करना और गुणों को छोड़ देना, इसके लिए आचार्यों ने कितना अच्छा कहा है—

दोषमेव समाधत्ते, न गुणं विगुणो जनः।
जलोकाः स्तनसंपृक्तं, रक्तं पिबति नामृतम्॥

अर्थात्—दुष्टजन दोषों को ही देखते हैं गुणों को ग्रहण नहीं करते हैं, जैसे जौंक गाय के स्तनों पर रहती है परन्तु दूधरूपी अमृत को ग्रहण न करके गन्दे खून को ही पीती है। ठीक उसी प्रकार दुष्टजनों की प्रकृति होती है। और भी कहा है—

दोषान् गृह्णन्ति यत्नेन, गुणांस्त्यजन्ति दूरतः।
दोषग्राही गुणत्यागी, चालणीरिव दुर्जनः॥

अर्थात्—दुष्टजन दूसरों के दोषों को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करते हैं और गुणों को दूर से ही छोड़ देते हैं, वे दोष ग्रहण करते हैं तथा गुणों को छोड़ देते हैं जैसे चालणी बुरी वस्तु को अपने पास रखती है और सार वस्तु को छोड़ देती है।

प्राणान्तिकेऽपि सम्प्राप्ते, वर्जनीयानि साधुना।
परलोकविरुद्धानि, येनात्मा सुखमश्नुते॥८७॥

अर्थ :– प्राणों के अन्त होने पर भी साधु को परलोक से विरुद्ध कार्यों को त्याग देना चाहिए इसी उपाय से यह आत्मा सुखी होता है।

विशेषार्थः–मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, अविरतिभाव, प्रमाद, कषाय, मन, वचन, काय के अन्यथा वर्तन तथा अकरणीय कार्यों के करने से ऐसा पाप का बन्ध होता है, जिसके उदय से यह प्राणी एकेन्द्रियादि अशुभ पर्यायों में पहुंचकर घोर कष्ट सहता है। इसलिए संसार में वही साधु है जो इन सब कार्यों को मन, वचन और काय से छोड़कर संयम और तप सहित अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन या अनुभव करता है और यही वह उपाय है जिससे वर्त्तमान में भी सुख होगा तथा भविष्य में भी सुख की प्राप्ति होगी।

सच तो यह है कि मानव की शोभा मानवता से होती है, वह मानवता प्रत्येक मानव प्राप्त कर सकता है क्योंकि वह उसका निजी धन है। उस मानवता के लिए कोई धन की आवश्यकता नहीं तथा समय की प्रतीक्षा नहीं, वह तो हर प्राणी का कर्त्तव्य है। हाँ, संसार में कई ऐसे भी लोग मिलेंगे जो धार्मिकजनों का भी अपवाद करते हैं इसके लिए कवि का विचार कितना सुन्दर है जो ग्रहण करने लायक है—

दुःख सहो दारिद्रय सहो, सहो लोक-अपवाद।
पर निन्द्य काम तुम मत करो, करोड़ ग्रन्थ का सार॥

अर्थात्—दुःख आजावे तो सहन करलो, दरिद्रता आजावे तो सहन करलो तथा यदि कोई दुष्ट लोग निन्दा करते हों तो घबराओ मत, परन्तु एक बात का जरूर ध्यान रखो कि किसी प्रकार का निन्द्य कार्य मत करो। यह वास्तव में, जिनवाणी का सार (निचोड़) है। इसलिए मानवों को हर समय बुरे कामों से बचना चाहिए और आत्महित में लगना चाहिए। संसार में अज्ञान तथा तीव्र राग-द्वेष के आधीन होकर अपने धर्म की रक्षा न करना कर्त्तव्य-च्युत होना है। जीव अपनी सत् प्रवृत्ति के कारण पुण्य का अर्जन करता है तथा असत् प्रवृत्ति के कारण पाप का। पुण्योत्पादक कर्मों के उदय आने पर इस जीव को सांसारिक

सुख तथा अच्छे निमित्त मिलने से मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती है, जबकि पापोत्पादक कर्मों के उदय आने पर इस जीव को शारीरिक तथा मानसिक दुःख प्राप्त होते हैं तथा खोटे निमित्तों के मिलने से अनन्त संसार में भ्रमण करना पड़ता है, ऐसा जानकर मानवों को पाप कार्यों से परहेज रखना चाहिए और धार्मिक कार्यों में अग्रसर रहना चाहिए। लेकिन धार्मिक कामों में रत रहते हुए भी अपनी दृष्टि शुद्ध अर्थात् पाप-पुण्य-रहित रखनी चाहिए।

स मानयति भूतानि, यः सदा विनयान्वितः ।
स प्रियः सर्वलोकेऽस्मिन्नापमानं समश्नुते ॥८८॥

अर्थ :– जो विनयवान है वह प्राणीमात्र का सम्मान करता है। वह इस लोक में प्रिय माना जाता है तथा अपमान नहीं भोगता है।

विशेषार्थ :– जगत् में धर्मात्मा वही है जो वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप समझे तथा जिनको कर्मों के अच्छे बुरे फल का ज्ञान हो ऐसे ज्ञानी जीव को विनयवान होना चाहिए। वह किसी को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता है; अज्ञानी, दुःखी, दरिद्री, रोगी को देखकर उन पर करुणा व मैत्रीभाव लाता है; वह सोचता है कि दूसरों के दुःख किस तरह दूर करूँ ? वह बड़ों की भक्ति करके विनय करता है, छोटों को प्रिय वचन कहकर व उनके कष्ट निवारण करके उनकी विनय करता है। वह किसी का अपमान नहीं करता है, ऐसा विवेकी विनयवान जीव जगत् के प्राणीमात्र का यथोचित सम्मान करता हुआ संसार का प्यारा बना रहता है, सभी उसको प्यार करते हैं तथा वह कभी किसीके द्वारा निरादर नहीं पाता है। संसार में जो विनयवान है यथार्थ में वही मानव है, किसी का तिरस्कार करना मानवता नहीं है। संसार में पापी, दुष्ट भी विनय सहित किए गए व्यवहार से लज्जित होकर अपना सुधार कर लेता है; मैत्रीयुक्त मन तथा मैत्रीयुक्त वचन सर्वहितकारी होते हैं।

देखो ! आज संसार से विनय गुण प्रायः निकल सा गया है तभी

तो लोगों का इस विनय पर उचित ध्यान नहीं है, आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि विनयविहीन व्यक्ति की सम्पूर्ण क्रियायें निरर्थक हैं, शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सर्वकल्याण है। इस विषय में कवि का हृदयग्राही कथन कितना सुन्दर है—

विद्या ददाति विनयं, विनयात् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति, धनात् धर्मं ततः सुखम् ॥

अर्थात्– विद्या से विनय गुण की प्राप्ति होती है और विनय से प्राणियों में पात्रता आती है तथा पात्रता से धन आदि प्राप्त होते हैं फिर धन से दान धर्म होता है तथा आगे से आगे सुख प्राप्त होता है। देखो! आचार्यों ने बारह तपों का वर्णन करते हुए विनय को अन्तरंग तप में माना है अर्थात् धर्म का मूल विनय है। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि अब संसार में से विनय गुण प्रायः लुप्त सा हो गया है, जिसके कारण मानव अपनी मानवता से हाथ धो बैठे हैं। ज्यादा कहाँ तक लिखें आज संसार में जो त्राहि-त्राहि मच रही है, उसका कारण विनय गुण का अभाव है। इसलिए प्राणियों को उचित है कि वे इस उत्तम विनय गुण को धारण करें।

किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं, कदाचिदपि धीमता ।
विषयास्तु न भोक्तव्या, यद्यपि स्युः सुपेशलाः ॥८९॥

अर्थ :– कदाचित् किम्पाक फल को खा लेना तो ठीक है, परन्तु बुद्धिमानों को इन्द्रियों के भोग-योग्य पदार्थ यद्यपि वे बड़े सुन्दर होते हैं तथापि नहीं भोगने चाहिए।

विशेषार्थ :– इन्द्रायण आदि के ऐसे फल होते हैं जो देखने में अच्छे व खाने में मीठे होते हैं, परन्तु उनका विपाक रोगकारक व प्राणघातक होता है, उन फलों को नहीं खाना चाहिए; परन्तु कदाचित् ऐसे फल खा भी लिये जावें तो उनसे केवल वर्त्तमान शरीर का ही नाश होगा। परन्तु इन्द्रियों के विषयभोग तो इनसे भी बहुत बुरे हैं; सुन्दर विषय-

भोगों की सामग्री प्राप्त होती हो तो भी बुद्धिमानों को उनसे बचना चाहिए; क्योंकि वे भोग तृष्णा का ऐसा विष चढ़ा देते हैं जिससे जन्म-जन्म में दुःख प्राप्त होता है अथवा तृष्णा बढ़ जाती है और तीव्र पापों का बन्ध होता है। आत्मशान्ति का नाश होता है; इसलिए ज्ञानी को भोगों से बचना चाहिए; अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर धर्मसाधन के उपकारी कार्यों में मन को लगाए रखना चाहिए। ये भोग किम्पाक फल से भी अत्यन्त अनिष्टकारक हैं, भोगने में अच्छे लगते हैं किन्तु भविष्य में आत्मा के लिए दुःखदायक हैं।

आचार्यों ने भोगों को विषवत् इसलिए कहा है कि जैसे विष-भक्षण से प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार पंच इन्द्रियों के भोग भोगने से प्राणी अपनी आत्मशक्ति को भूलकर दुर्गति चला जाता है। देखो! संसार के अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए अपने धर्म-कार्यों को छोड़कर सम्पूर्ण रातदिन भोगसामग्रियों के जुटाने में पूरा कर देते हैं; परन्तु वे कभी यह नहीं सोचते हैं कि इन संग्रहीत वस्तुओं को, मैं एक नहीं सैंकड़ों जन्मों में भी नहीं भोग सकूंगा; फिर क्यों नहीं संग्रह-बुद्धि को छोड़ूं। इस विषय में एक दृष्टान्त गले उतारने लायक है—

एक दुकानदार अपनी अनाज की दुकान को दिन छिपने पर बन्द करके चला गया; रात्रि में एक चूहा उस दुकान में घुस गया और उसने अपना व्यापार चालू किया, अनाज की एक बोरी को काटकर एक-एक दाना करके उस चूहे ने अनाज का रात भर में ढेर कर लिया। जब सबेरा हुआ और दुकानदार ने अपनी दुकान के किवाड़ खोले तो वह चूहा रात-भर संग्रह किए हुए अनाज को वहीं पर छोड़कर भाग गया। ठीक उसी प्रकार संसार के अज्ञानी प्राणी जिन्दगीभर परिग्रहों का संचय करते हैं, जब कालरूपी यम आता है तब वे सारा संग्रह किया हुआ परिग्रह, धन आदि छोड़कर परलोक चले जाते हैं। खेद है कि प्राणी मोह के कारण कभी नहीं सोचते कि इन संग्रहीत वस्तुओं को मैं कब तक भोगूंगा और इनके संग्रह में जिन पाप कर्मों को बाँध रहा हूँ, उनके उदय से जन्म-

जन्म में दुःख उठाऊंगा। अतः प्राणियों को विषतुल्य इन भोगों को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

७. कामवासना की असारता।

स्त्रीसम्पर्कसमं सौख्यं, वर्णयन्त्यबुधा जनाः।
विचार्यमाणमेतद्धि, दुःखानां वीजमुत्तमम् ॥९०॥

अर्थ :– अविवेकी मानव स्त्री के संसर्ग को सुख कहते हैं, किन्तु विचार किया जावे तो यही दुःखों का बड़ा भारी बीज है।

विशेषार्थ :– संसार में जिनको दीर्घ विचार नहीं है, जो क्षणिक सुख में लुब्ध हैं वे यही कहते हैं कि स्त्री-भोग के समान सुख नहीं हैं, वे अन्धे होकर स्त्री-भोग किया करते हैं। यदि भली प्रकार विचार किया जावे तो उनका यह मानना ठीक नहीं है; स्त्रीभोग के सुख को सुख मानना वास्तव में किम्पाकफल का खाना है। काम-विकार से पीड़ित होकर यह प्राणी जब दुःखित होता है तब उस पीड़ा को शान्त करने हेतु स्त्री-संभोग करता है, स्त्री उसके वीर्यरूपी रत्न का हरणकर उसे तुर्त निर्वल कर देती है तथा पुनः पुनः भोग करने की दाह उत्पन्न कर देती है। उस दाह से पीड़ित होकर यह पुनः स्त्रीभोग करता है और निर्वल होता जाता है; निर्वल को अनेक रोग सताते हैं, वह रोगी हो जाता है, तब खाना पीना भी नहीं रुचता तथा यह मानव-जीवन बिगड़ जाता है, धर्म का साधन न कर सकने के कारण और स्त्री-भोग की तृष्णा वनी रहने के कारण वह कुगति में जाकर दुःख उठाता है।

अन्यायपूर्वक स्त्रीभोग तो महान् अनर्थकारी है ही, शरीर की शक्ति, धन, आत्मवल, धर्म, यश सव का सर्वनाश करने वाला है। परन्तु जो न्यायपूर्वक अपनी स्त्री का ही भोग अतिकामी होकर करते हैं, वे भी निर्वल, रोगी होकर दुःख पाते हैं, धर्मरहित जीवन विताते हैं अतः

स्त्रीसंभोग सुख नहीं है, काम-बाधा का क्षणिक उपाय है, इसका सर्वथा त्याग ही श्रेष्ठ सुख का कारण है। जो कदाचित् आत्मबल की कमी से ऐसा न हो सके तो गृहस्थ में स्वस्त्री-संतोष रखकरके केवल संतान लाभ के हेतु बहुत अल्प स्त्रीसंभोग करें; जिससे धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ न बिगड़ें तथा शरीर स्वास्थ्ययुक्त रहे और वीरतापूर्ण जीवन बीते। संसार में वीर्यरक्षा और ब्रह्मचर्य के समान कोई बड़ा सुख नहीं है। वास्तव में, ब्रह्मचर्याणुव्रत का परिपालन करने वाला श्रावक काम-वासना को बुरा समझता है, वह तो अपनी स्त्री में संतोष करता है तथा ज्यादा आसक्ति न करते हुए अपने विचारों को विशुद्ध रखता है। आचार्यों ने सरलभाषा में इसको स्थूलब्रह्मचर्य, परस्त्रीत्याग अथवा स्वस्त्री-संतोष व्रत कहा है। देखो ! इस व्रत के अभाव में रावण जैसे पराक्रमी राजा ने अपने कुलका तथा राज-सम्पदा आदि वैभव का सर्वनाश कर लिया।

स्मराग्निना प्रदग्धानि, शरीराणि शरीरिणाम् ।
शमाम्भसा हि सिक्तानि, निर्वृत्तिं नैव भेजिरे ॥६१॥

अर्थ :— शरीरधारी प्राणियों के शरीर कामकी अग्नि से जला करते हैं, वे शीतल जल से भी सींचे जावें तो भी शांत नहीं होते हैं अर्थात् उनको आराम नहीं मिल सकता।

विशेषार्थ :— जब प्राणी के काम का उद्वेग चढ़ता है या किसी स्त्री के स्नेह के कारण काम की अग्नि मन में जलती है, तब मन के साथ शरीर भी जलने लगता है, दीर्घ उष्ण श्वास निकलने लगते हैं, किसी भी तरह चैन नहीं पड़ती है; उस कामी मानव को कितने भी शीतल जल से स्नान कराया जाय तो भी काम की जलन नहीं मिटती है। काम की दाह के मिटाने का उपाय काम-भोग भी नहीं हैं, मात्र ज्ञान-वैराग्य सहित आत्मानन्द का भोग है, अतः ज्ञान-वैराग्य के साथ इच्छाशक्ति का दमन करना आवश्यक है, उससे इन्द्रिय-सुखों से अरुचि हो जाती है तथा

उसी समय विवेक जाग्रत होता है और आत्मा की ओर दृष्टि जाती है।
अर्थात्- जब अतीन्द्रिय आनन्द का गहरा स्वाद आने लगता है तब काम-भाव का सहज ही शमन हो जाता है। सच तो यह है कि प्राणी अपने मन पर अंकुश न लगाने के कारण काम-वासनाओं में संलग्न रहते हैं; मन के आधीन होने से इन्द्रियां स्वच्छन्द हो जाती हैं, यदि कोई महाभाग मन को अपने आधीन कर लेता है, तो इन्द्रियां उसके आधीन रहती हैं। श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' में मन के रोकने पर विशेष जोर देते हुए कहा है कि—

एक एव मनोरोधः, सर्वाभ्युदयसाधकः ।
यमेवालम्ब्य संप्राप्ताः, योगिनस्तत्त्वनिश्चयम् ॥
मनः शुद्ध्यैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः ।
वृथा तद्व्यतिरेकेण, कायस्यैव कदर्थनम् ॥
ध्यानशुद्धिः मनः शुद्धिः, करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्यपि निःशङ्कं, कर्मजालानि देहिनाम् ॥

अर्थात्- एक मन का रोकना ही समस्त अभ्युदयों को सिद्ध करने वाला है; क्योंकि मनोरोध का आलम्बन करके ही योगीश्वर तत्त्वनिश्चयता को प्राप्त होते हैं। स्वात्मानुभूति से मन की चंचलता रोकी जा सकती है। जो मन को शुद्ध कर लेते हैं, वे सर्व प्रकार से अपनी शुद्धि कर लेते हैं। मन की शुद्धि के बिना शरीर को कष्ट देना या तपश्चर्या द्वारा कृश करना व्यर्थ है। मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धता को ही नहीं करती है, परन्तु जीवों के कर्म-जाल को भी काटती है। वास्तव में जिसका मन स्थिर होकर आत्मा में लीन हो जाता है, वह व्यक्ति परम पद को अवश्य प्राप्त हो जाता है। मन को स्थिर करने के लिए ध्यान भी साधन है। अतः प्राणियों का अपने मन पर काबू पाना अति आवश्यक है।

अग्निना तु प्रदग्धानां, शमोस्तीति यतोऽत्र वै ।
स्मरवह्निप्रदग्धानां, शमो नास्ति भवेष्वपि ॥६२॥

अर्थ :- इस लोक में आग से जलने वालों की तो शान्ति हो सकती

है परन्तु जो प्राणी कामवासना की आग से जलते रहते हैं, उनकी शान्ति भव-भव में भी नहीं होती।

विशेषार्थ :—संसार में आग को शान्त करने के उपाय जलादि हैं। यदि कोई मानव आग से जल रहा हो किन्तु उसका उत्तम औषधियों द्वारा उपचार किया जावे तो वह तुर्त शीतल व शान्त हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु जिनके मन में काम की ज्वाला धधकती है, वह अनेक जन्मों में भी शान्त नहीं होती, चाहे कामभोग किया जावे या न किया जावे, क्योंकि काम-भोग करने से और भी काम की तृष्णा बढ़ जाती है। इसलिए इस भयंकर आग को शान्त करने का उपाय सम्यग्ज्ञान और वैराग्य का रुचिपूर्वक सेवन है, अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिस प्रकार विष के भक्षण से प्राणों को संताप उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विषयों के उपभोग से भी प्राणी को संताप उत्पन्न होता है। अतएव ये विषय भी विष के समान हैं। अज्ञानी प्राणी उन्हें सुख के कारणभूत एवं स्थायी मानकर उनको प्राप्त करने के लिए अयोग्य आचरण करते हैं तथा अपनी प्रतिष्ठा को भी नष्ट कर डालते हैं। उसका कारण यह है कि जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त पुरुष की जीभ का स्वाद विपरीत हो जाता है जिससे कि उसे मधुर दूध भी कड़वा प्रतिभासित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार मनसे प्रेरित होकर विषयों में अनुरक्त हुई इन्द्रियों के दास बने हुए इन संसारी प्राणियों को भी मोहवश उन विषतुल्य विषयों के भोगने में आनन्द का अनुभव होता है तथा विषय-निवृत्तिरूप जो निराकुल सुख है वह उन्हें कड़वा प्रतीत होता है। इसीसे आचार्यों ने भोगाभिलाषा को लवण समुद्र के खारे पानी सदृश बताया है, जिसके पीने से पिपासा शान्त नहीं होती है। ठीक उसी प्रकार भोगों से इच्छा शान्त नहीं होती है अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसी तृष्णा के कारण प्राणी आत्म-परिणति से च्युत होकर संसार में भारी दुःखों का सामना करता है।

देखो! तृष्णा रूपी बगीचे में इच्छारूपी अंकुर उगते हैं, जिनमें

भोगों की अभिलाषा जाग्रत होती है तथा मूर्च्छा उसी अंकुर की बढ़ती हुई डाली है जिसमें भौतिक पदार्थों के तीव्रतम संग्रह की कोंपल उत्पन्न होती है। कांक्षा उसी अंकुर के पुष्प हैं जिनमें सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने के लिए आशा के फल लगते हैं। अतः इन विषय-भोगों को छोड़ो और सुखी हो जाओ।

मदनोऽस्ति महाव्याधि-दुश्चिकित्स्यः सदा बुधैः।
संसारवर्धनेऽत्यर्थं, दुःखोत्पादनतत्परः ॥६३॥

अर्थ :– कामवेदना बड़ा भारी रोग है। इसका इलाज सदाही कठिन है, संसार को बढ़ाने में अतिशयरूप है तथा सांसारिक दुःखों को उत्पन्न करता ही रहता है, ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

विशेषार्थ :– जगत् में और सब रोगों का तो इलाज है वे उत्तम पथ्य और औषधि के सेवन से मिट जाते हैं, लेकिन कामरोग ऐसा भयंकर लाइलाज रोग है, कि उसको दूर करने के लिए किसी बाहरी पदार्थ का सेवन कार्यकारी नहीं होता, स्त्रीसेवन से भी नहीं मिटता है परन्तु बढ़ता ही जाता है तथा इसकी तृष्णा के कारण अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का बन्ध होता है, जिससे संसारवास बढ़ता जाता है। काम की तृष्णा अन्याय करने के भाव भी जाग्रत कर देती है; जैसे रावण का मन राम की प्यारी स्त्री सीता पर आसक्त हो गया था। तब तो प्राणी को नरक गति का बन्ध पड़ जाता है, फिर दुर्गतियों में जाकर उसे महान् कष्ट प्राप्त होता है, पूर्व संस्कारवश काम की ज्वाला न मिटने से परम्परया दुःखों की प्राप्ति होती ही जाती है।

ये इन्द्रिय-विषय सर्प के समान भयंकर हैं–जिस प्रकार सर्प के काटने से प्राणी को संताप एवं मरण आदि का दुःख प्राप्त होता है, उसी प्रकार उन विषय-भोगों के कारण विषयीजनों को भी संताप एवं मरण आदि का दुःख सहना पड़ता है। फिर भी अज्ञानीजन उन विषयों के भोगने की इच्छा करते हैं, उन्हें न तो अपने मरण का भय रहता है और न दूसरे

प्राणियों का घात करने में दया ही उत्पन्न होती है। वे उन विषयों को प्राप्त करने के लिये स्वयं मरकर भी दूसरों को मारने में उद्यत हो जाते हैं अथवा वे उन विषयों में पड़कर स्वयं तो मरते ही हैं—अपना सर्वनाश करते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी उन विषयों में प्रवृत्त करके उनका भी घात करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कामीजनों की बुद्धि ऐसी भ्रष्ट हो जाती है कि वे असदाचरण में प्रवृत्त हो जाते हैं, जिनकी साधुजन सदा निन्दा करते हैं। सचमुच में काम और क्रोधादि कषाय दुष्ट पिशाच के समान हैं, उनसे पीड़ित होकर प्राणी हेयोपादेय का विचार न करके जिस किसी भी कार्य को करता है। हे आत्मन् ! इस विकराल कामवासना से बचने के लिये एक मात्र आत्मज्ञान और संयम ही समर्थ है। इसलिए संयम धारण करो, विषय-विष खाकर व्यर्थ में मानव-पर्याय का नाश करना योग्य नहीं है, ये विषय-भोग, जीवों को सन्मार्ग से च्युत करके दुर्गति में ले जाते हैं।

यावदस्य हि कामाग्निः, हृदये प्रज्वलत्यलम् ।
आस्रवन्ति हि कर्माणि, तावदस्य निरन्तरम् ॥९४॥

अर्थ :— जब तक इस जीव के मन में काम की ज्वाला तीव्रता से जलती रहती है तब तक इस जीव के निरन्तर आस्रव होता ही रहता है अर्थात् कर्म आते ही रहते हैं।

विशेषार्थ :— काम की ज्वाला बड़ी दुःखदायक है; इसके कारण परिणाम कभी रागी, कभी द्वेषी और कभी मोही हो जाते हैं, जिनसे निरन्तर कर्मों का आस्रव हुआ ही करता है। विषयों की तीव्र अभिलाषा, विषयलम्पटता अशुभोपयोग है; इससे पापकर्मों का तथा असातावेदनीयादि का और मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषायादि का तीव्र बन्ध होता है, जिससे भव-भव में कष्ट होता है। देखो ! संसार में पागल या शराबी मनुष्य हिताहित के विवेक से रहित होकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है तथा उसे अपने मरण का भी भय नहीं रहता है, ठीक उसी प्रकार

विपयोन्मत्त प्राणी भी अपने भले-बुरे का ध्यान न रखकर जो हिंसादि कार्य आत्मा के अहित करने वाले हैं उनमें तो प्रवृत्त होता है और जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदारसंतोष या पूर्णतया ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि कार्य जो आत्मा का हित करने वाले हैं उनसे विमुख रहता है। ऐसा करते हुए उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि अब मैं मरने के सम्मुख हूँ, मुझे किसी भी समय मृत्यु अपना ग्रास बना सकती है, उसके पहले क्यों न मैं आत्महित करलूं। इसीसे प्राणी विषयतृष्णा के साथ मरण को प्राप्त होकर पुनः संसार का भाजन बनता है और बार-बार इस दुःख-मय संसार में परिभ्रमण करता रहता है। उदाहरणार्थ–जैसे कोई दुर्बल बैल ग्रीष्मकालीन सूर्य के संताप से पीड़ित होकर तृष्णा (प्यास) से युक्त होता हुआ किसी जलाशय के पास जाता है और वहाँ पानी के समीप स्थित भारी कीचड़ में फंसकर दुःसह दुःख सहता है, उसी प्रकार यह अज्ञानी प्राणी भी ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान संतापजनक इन्द्रियों से पीड़ित होकर तृष्णा (विपयवांछा) से युक्त होता हुआ उन विषयों को प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम करता है और इसके लिए वह धर्म-अधर्म का भी विचार नहीं करता है। परन्तु वैसा पुण्य शेष न रहने से जब वे विषयभोग उसे प्राप्त नहीं होते हैं, तब उसकी गति भी उक्त बैल के ही समान होती है अर्थात् वह इच्छित भोगों को न पाकर उस बढ़ी हुई तृष्णा से निरन्तर संक्लिष्ट रहता है। अतः प्राणियों को अपनी काम-वासनाओं का शमन करने के लिये ब्रह्मचर्यव्रत का आश्रय लेना चाहिए।

कामाहिदृढदष्टस्य, तीव्रा भवति वेदना।
यया सुमोहितो जन्तुः, संसारे परिवर्तते ॥९५॥

अर्थ :– जिस किसी प्राणी को कामरूपी नाग डस लेता है, उसको घोर वेदना होती है, जिससे मूर्च्छित होता हुआ यह जीव इस संसार में एक गति से दूसरी गति में चक्कर लगाया करता है।

विशेषार्थ :– यथार्थ में काले नाग के डसने से जो विष चढ़ता है,

उससे तो वर्तमान शरीर का ही क्षय होता है, परन्तु जिसको कामरूपी सर्प डस लेता है, उसको तीव्र रागरूपी ऐसा विष चढ़ जाता है कि वह भव-भव में शान्त नहीं होता है। विषयों की लम्पटता के कारण यह जीव तीव्र कर्म बांध लेता है और उनके विपाक से जन्म-जन्म में भ्रमण कर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट भोगा करता है। कभी लब्ध्यपर्याप्तिक होकर एक श्वास में अठारहबार जन्मता व मरता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पांच परिवर्तनों में अनन्तबार जन्म-मरण कराने वाला तीव्र विषयानुराग ही है।

देखो ! संसार में जैसे तालाब बाहर से रमणीय दिखते हैं वैसे ही स्त्रियां भी सुन्दर दिखती हैं, तालाब जैसे चंचल तरंगों से युक्त स्वच्छ जल एवं कमलों से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार ये स्त्रियां भी तरंगों के समान चंचल अस्थिर सुख को उत्पन्न करने वाले हास्ययुक्त मनोहर वचनोंरूप जल से तथा मुखरूप कमलों से रमणीय होती हैं। जिस तरह बहुत से बुद्धिहीन प्राणी प्यास से पीड़ित होकर सरोवर पर जाते हैं और किनारे पर ही भयानक हिंसक जलजन्तुओं के ग्रास बन जाते हैं अथवा मरण को प्राप्त होते हुए फिर वापिस नहीं निकल पाते हैं, ठीक उसी प्रकार बहुत से अज्ञानी प्राणी भी विषय-तृष्णा से व्याकुल होकर उन स्त्रियों के पास पहुंचते हैं और हिंसक जल-जन्तुओं के समान अतिशय भयानक विषयों से ग्रस्त होकर उनमें आसक्त होकर फिर नहीं निकलते हैं, अर्थात्– नरकादि चतुर्गतियों (पंच परिवर्तनों) में पड़कर फिर उत्तम मनुष्यपर्याय आदि को नहीं पाते हैं।

आचार्यों ने बताया है कि देखो ! संसार में कई योद्धा लोग लोहे की सांकल को तो अपने शरीर के बल से तोड़ सकते हैं परन्तु कामरूपी फाँस (सांकल) को शरीर के बल से नहीं तोड़ सकते हैं; हाँ, यदि वे चाहें तो वैराग्य या ज्ञानरूपी बल से सदा-सदा के लिए उस कामरूपी सांकल को तोड़कर बन्धन-मुक्त हो सकते हैं, कहने का अभिप्राय यह है कि विवेकीजनों को उचित है कि वे कामवेदना को शान्त करने के लिए संसार की असारता व शरीर की अशुचिता पर पुनः पुनः विचार

करें और वैराग्यभावों सहित संयम ग्रहण करते हुए अपने मनुष्य जन्म को सार्थक करें।

दुःखानामाकरो यस्तु, संसारस्य च वर्धनम् ।
स एव मदनो नाम, नराणां स्मृतिसूदनः ॥६६॥

अर्थ :– जगत् में जो दुःखों की खान है तथा जिससे संसार की वृद्धि होती है, वह कामदेव नामका शत्रु है। वह मानवों की स्मरण शक्ति का नाश करने वाला है।

विशेषार्थ :– काम-विकार को मदन कहते हैं। यह अनन्त दुःखों की खान है। इसके कारण इस लोक में भी जीव दुःखी होता है व परलोक में भी दुःखी होता है। कामवासना के कारण धर्म की भावना अपना दृढ़ प्रभाव नहीं जमा पाती है, इससे संसार में भ्रमण बढ़ता ही जाता है। काम की ज्वाला से शरीर का रुधिर सूखता है, शक्ति कम होती है, इसी से स्मरण शक्ति पर भी बुरा असर पड़ता है। यह काम-भाव शरीर, मन, बुद्धि आदि का नाश करने वाला मदन नाम का महान् शत्रु है।

अहो देखो ! संसार के प्राणी अज्ञान के वश होकर जिस स्त्री का पाना दुर्लभ मानते हैं वह स्त्री ही बेड़ी के समान मानवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने से रोकती है, आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! तू किसलिए स्त्री पर अनुरक्त हो रहा है ? स्त्री का शरीर तेरे पुण्य (सुख) को भस्मीभूत करने के लिए अग्नि की ज्वालाओं के समान होकर नरक के दुःखों को प्राप्त कराने के लिए खुले हुए महा भयानक द्वार के समान है तथा जो स्त्री तू ने बार-बार जन्म लेकर प्राप्त की थी क्या उसने प्रति-कूल आचरण करके तेरा अपकार नहीं किया है ? अर्थात् अवश्य किया है। ऐसी कृतघ्न स्त्री में तू क्यों अनुराग करता है ? सच तो यह है कि जो व्यक्ति स्त्रियों को भोगकर अपने काम की शान्ति होना मानते हैं वे सचमुच में धोखा खा रहे हैं; देखो ! जिस प्रकार अग्नि में ईंधन डालने

से वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही है-कम नहीं होती—उसी प्रकार काम-सेवन से यह कामाग्नि भी उत्तरोत्तर बढ़ती ही है कम नहीं होती। संसार में अग्नि ईंधन को पाकर अधिक भड़क उठती है तब मूर्ख से मूर्ख प्राणी भी उसे शान्त नहीं मानता है; परन्तु आश्चर्य है कि स्त्रीभोग रूपी ईंधन को पाकर उस कामाग्नि के भड़क उठने पर भी यह प्राणी उसे और उसमें जलते हुए अपने को शान्त मानता है, यह उसकी बड़ी भूल है अतः कामरूपी शत्रु को पराजित करने के लिए संयमरूपी किले का आश्रय लेना उचित है।

संकल्पाच्च समुद्भूतः, कामसर्पोऽतिदारुणः।
रागद्वेषद्विजिह्वोऽसौ, वशीकर्तुं न शक्यते ॥९७॥

अर्थ :— कामरूपी साँप अत्यन्त भयानक है; अन्तरंग विचार से ही उत्पन्न होता है, इसके राग-द्वेष रूपी दो जीभें हैं इनको वश करना अति कठिन है।

विशेषार्थ :— तीव्र वेद के उदय से अन्तरंग में जब काम का वेग उदित होता है, तब जीवात्मा अपने स्वरूप से विचलित हो जाता है, उस समय अज्ञान और अविवेक उसकी सहायता करते हैं। यह भयानक इसलिए है कि यह धर्म और अर्थ पुरुषार्थ का नाश कर देता है, बुद्धि को विकारी बना देता है; तब इष्ट-स्त्री आदि पदार्थों में राग बढ़ जाता है। काम भाव की तृप्ति में जो पदार्थ बाधक होते हैं उनमें द्वेष बढ़ जाता है तब जिसका आत्मबल निर्बल है वह मार्ग से गिर जाता है। इसको आधीन रखने के लिए बहुत बड़े पुरुषार्थ की जरूरत है, उसके बिना यह पराजित नहीं हो सकता।

संसार में जिस प्रकार सघन अन्धकार से परिपूर्ण एवं सर्पादिकों से व्याप्त गहरे गड्ढे में यदि कोई प्राणी असावधानी से गिर जाता है तो उसका वहाँ से निकलना अशक्य सा हो जाता है—सर्पादिकों के काटने से वहाँ उसका मरण हो जाता है। ठीक उसी प्रकार कामभाव से युक्त यह

प्राणी स्त्रीरूपी गड्ढे में जहाँ पर ममत्वरूपी सर्पादि जन्तुओं का वास होता है तथा जहाँ पर मायाचार रूप सघन अन्धकार रहता है. वहाँ गिर कर अपने ज्ञानरूपी प्राणों का नाश कर लेता है, फिर जन्म-जन्म में दुःखी होता है। जगत् में प्रायः लोग कहते हैं कि संसार असार है कामसेवन में सुख नहीं है तथा दुःख है, परन्तु इस विषय पर विचार किया जाए कि संसार में दुःख है तो फिर प्राणी इसे छोड़ने में क्यों आनाकानी करते हैं? क्यों नहीं इस दुःखमय कामशक्ति से विरक्ति ले लेते हैं? मालूम होता है कि लोगों की कथनी और करणी में अन्तर है। अतः कल्याणार्थियों को अपनी कामवेदना शान्त करने के लिए वैराग्यमय भावना भानी चाहिए। परन्तु खेद है कि कई कविजन स्त्रियों की शोभा करते हैं और संसारी प्राणियों को उनकी ओर आसक्त करते हैं। कहा भी है कि —

मुखं श्लेष्मागारं, तदपि च शशाङ्केन तुलितं-
स्तनौ मांसग्रन्थी, कनककलशावुपमितौ ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्न, करिवरशिरःस्पर्द्धिजघनं-
मुहुर्निन्द्यं रूपं, कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥

अर्थात्- स्त्री का मुख यद्यपि कफ का घर है, तो भी चन्द्रमा के साथ इसकी तुलना करते हैं, स्तन मांस की गाँठ हैं तो भी इन्हें स्वर्णकलश की उपमा दी जाती है, जघन भाग झरते हुए मूत्र से गीला है फिर भी उसे गजराज के गण्डस्थल के साथ स्पर्द्धा करने वाला कहा जाता है और रूप वास्तव में निन्दनीय है फिर भी कवि लोग उसे बढ़ावा देते हैं। कहने का सारांश यह है कि मोह से अन्धे होकर लोग अपवित्र शरीर वाली स्त्रियों की शोभा करते हैं।

दुष्टा येयमनङ्गेच्छा, सेयं संसारवर्धिनी ।
दुःखस्योत्पादने शक्ता, शक्ता वित्तस्य नाशने ॥९८॥

अर्थ :- जो यह कामभाव की इच्छा है वह दुष्टा हैं, संसार बढ़ाने वाली है, दुःखों को पैदा करने में समर्थ है और धन के विनाश करने में भी सक्षम है।

विशेषार्थ :– कामभाव की तीव्रता दुष्ट के समान व्यवहार करती है। संसार में दुष्ट का जितना आदर किया जाए वह उतना ही बुरा करता है। इसी तरह कामभाव के अनुसार जितना अधिक वर्तन किया जाता है काम की उतनी ही पीड़ा बढ़ती जाती है। जो मानव इसके आधीन हो जाता है उसको इष्टवियोग के व शरीर के रोगी होने के दुःख ही दुःख होते हैं। कषाय की अतिवृद्धि से संसार में भ्रमण कराने वाले कर्मों का बन्ध इतना बढ़ जाता है कि संसार का पार करना उसके लिए कठिन हो जाता है।

बड़े खेद की बात है कि संसार में जो अपने को पण्डित समझते हैं उनको भी यह अतिशय क्रोधी कामदेव (विषयवांछा) असमय में ही इष्ट स्त्रियों के द्वारा खण्डित करता है। फिर भी देखो ! यह आश्चर्य की बात है कि वे उसे (कामकृत खण्डन को) भी धीरतापूर्वक सहन करते हैं, परन्तु तपरूपी अग्नि के द्वारा उस काम को जलाने के लिए उद्यम नहीं करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कामीजन विषयान्ध होकर इच्छा-पूर्ति के लिए कामसेवन करते हैं; जिसका परिपाक दुःखपूर्ण है, वे उन स्त्रियों में इतने आसक्त हो जाते हैं कि उनको अपने हिताहित का विवेक ही नहीं रहता।

आचार्य सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि देखो ! इस मोही प्राणी ने आज तक अनन्त जन्मों में स्त्री-संभोग किया, परन्तु इसको अभी तक तृप्ति नहीं हुई। देवपर्याय में एक नहीं अनेक देवांगनाओं के साथ भोग भोगे तो भी इसे तृप्ति नहीं हुई, तो भला अब मनुष्य पर्याय की अल्प आयु और अल्पवीर्य में कैसे तृप्ति आ जाएगी परन्तु यह सब मोह का माहात्म्य है जो कि प्राणियों की बुद्धि पर पर्दा डाले हुए है। उदाहरणार्थ–एक हाथी समुद्र के जल से भी तृप्त न हुआ तो क्या तुच्छ ओस की बूंद को चाटने से तृप्त हो जाएगा ? अर्थात् नहीं। वास्तव में कामीजनों के हृदय में हेयो-पादेय का विचार नहीं रहता है, यह कामरूपी हाथी निरंकुश होकर संयमरूपी वृक्ष को उखाड़ देता है तथा यह कामवासना नरक नगर में प्रवेश कराने के लिए प्रतोली (प्रवेशद्वार) है। अतः मानवों को भले

प्रकार जानना चाहिए कि विषयेच्छाएँ भोगों से तृप्त नहीं हो सकती हैं; जैसे–अग्नि की ज्वाला ईंधन से शान्त नहीं हो सकती है। भोगों की इच्छा को शान्त करने का उपाय भोगों का "त्याग" ही है। अतः त्याग-धर्म अपनाकर आत्महित में लग जाओ।

अहो ते धिषणाहीना, ये स्मरस्य वशं गताः।
कृत्वा कल्मषमात्मानं, पातयन्ति भवार्णवे ॥६६॥

अर्थ :– अहो! बड़े खेद की बात है कि जो कोई इस काम के वश में हो जाते हैं, वे बुद्धिहीन हैं वे अपने को पापी बनाकर संसार सागर में गिरा देते हैं।

विशेषार्थ :– मानव जीवन की सफलता अपनी आत्मा की उन्नति से है, जिससे यह आत्मा अशुद्धता से बचकर शुद्धता को प्राप्त करले तो फिर संसार के जन्म-मरण में न पड़ना पड़े। यह कार्य तभी हो सकता है जब प्राणी काम-भाव को जीतकर बाहर में ब्रह्मचर्य पालता हुआ अन्तरंग में भी ब्रह्मचर्य पाले, अपनी ब्रह्मस्वरूप आत्मा में लीन होकर आत्मानन्द का भोग करें, परन्तु जो अविवेकीजन कामभोग के आधीन होकर निरन्तर विषयवांछा से और कषायभाव से आकुलित रहते हैं, वे पापकर्मों का संचय करते हैं, फिर अपनी आत्मा का पतन करते हुए नरकादि दुर्गति के दुःखों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार फिर आत्मोन्नति के लिए मनुष्य-जन्म का उत्तम अवसर पाना उनके लिए दुर्लभ हो जाता है, अतः जो विषयलम्पटी होते हुए अपनी आत्मा की सुध नहीं लेते हैं वे वास्तव में मूर्ख ही हैं।

देखो! संसार में कामीजन अपने कामरूपी रोग को मिटाने के लिए स्त्रीरूपी औषधि का सेवन करते हैं, परन्तु इन स्त्रियों के स्वभाव का कोई भरोसा नहीं। आचार्यों ने इन्हें मायाचार की खान बताया है जैसे—

आलिङ्गत्यन्यमन्यं, रमयति वचसा, वीक्षते चान्यमन्यं–

रोदित्यन्यस्य हेतोः, कथयति शपथै-रन्यमन्यं वृणीते ।
शेते चान्येन सार्धं, शयनमुपगता, चिन्तयत्यन्यमन्यं-
स्त्री वामेयं प्रसिद्धा, जगति बहुमता, केन धृष्टेन सृष्टा ।।

अर्थात् देखो ! यह स्त्री, किसी अन्य पुरुष का आलिङ्गन करती है, वचन से किसी अन्य से रमण करती है- बहलाती है, किसी अन्य को देखती है, किसी अन्य के कारण रोती है, किसी अन्य को शपथों द्वारा अभिप्राय प्रकट करती है, किसी को वरती है, किसी अन्य के साथ शयन करती है तो भी किसी अन्य का चिन्तन करती है, यह वामा नाम से प्रसिद्ध है तथा जगत् में बहुत प्रिय है, न जाने यह स्त्री किस धृष्ट के द्वारा बनाई गई है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्रियों में मायाचार का बाहुल्य रहता है। कहा भी है कि संसार में ग्रह का चरित्र, देवका चरित्र, तारा का चरित्र और राहु का चरित्र इस प्रकार सबके चरित्र को लोग जानते हैं परन्तु स्त्री के चरित्र को नहीं जानते हैं। सारांश यह है कि मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त करने में स्त्री दृढ़ अर्गला है।

स्मरेणातीवरौद्रेण, नरकावर्तपातिना ।
अहो खलीकृतो लोको, धर्मामृतपराङ्मुखः ।।१००।।

अर्थ :– अहो ! बड़े खेद की बात है कि नरकरूपी गड्ढे में पटकने वाले अत्यन्त भयानक काम ने मानवों को दुष्ट बना दिया है तथा धर्म-रूपी अमृत के पान से विमुख कर दिया है।

विशेषार्थ :– संसार में यह काम बड़ा ही भयानक वैरी है, जो जन इसके अधीन हो जाते हैं, वे अन्याय में प्रवृत्तिकर नरक में गिर जाते हैं, उनके परिणाम धर्म की ओर से बिल्कुल दूर हो जाते हैं। उनको इस मानवजन्म में कभी धर्मामृत पीने का अवसर ही नहीं मिलता है उनकी चेष्टा एक दुष्ट के समान हो जाती है। वे रात-दिन स्वार्थ के अधीन होकर पराया बुरा करने में भी ग्लानि नहीं मानते हैं।

वास्तव में, संसार में कामरूपी सुभट को जीतना दुर्लभ है, इसके

पराक्रम का कोई पार नहीं है। इस विषय में एक दृष्टांत है कि एक गांव में एक पंडितजी शास्त्र-प्रवचन करते थे। अनेक लोग सुनने आते थे। वहीं पर एक ब्रह्मचारी बाबा भी सुनने आते थे, जो नगर के बाहर एक कुटिया में रहते थे। एक दिन शास्त्र में कथन आया कि कामदेव में बड़ी ताकत होती है, हाथी से भी बढ़कर कामदेव में ताकत होती है, यह सुनकर ब्रह्मचारी बोला कि गलत बात है, मैं नहीं मानता, इस प्रकार विवाद छिड़ गया जिसमें पंडितजी की पराजय हुई। शास्त्र पढ़ने के बाद पंडितजी मानभंग होने के कारण बड़े दुःखी हुए और अपने घर आ गये। पिताजी को इस प्रकार उदास देखकर पंडितजी की एक युवती लड़की बोली- पिताजी ! क्या बात है ? आज आप इतने परेशान क्यों हो रहे हैं ? तब पंडितजी ने सारी बात सुनादी। यह सुनकर वह लड़की बोली वाह ! आप चिन्ता न करें मैं इसका उपाय करती हूँ। ऐसा कहकर वह लड़की शाम को सज-धजकर शृंगारादि करके गई जहाँ पर ब्रह्मचारीजी की कुटिया थी। सूर्य अस्त हो रहा था। लड़की ने जाकर पूछा—बाबाजी अमुक गांव का रास्ता किधर है, तब उस ब्रह्मचारी ने कहा, बेटी उधर होकर चली जाओ, सामने ही मार्ग है, लड़की फिर-फिराकर वापिस आ गई और बोली महाराज मुझे तो रास्ता नहीं मिला। उसने बार-बार बताया कि उधर से चली जाओ, इस प्रकार जब दो-तीन घंटा रात बीत गई तो लड़की बोली बाबाजी ! मुझे तो डर लगता है, अब तो मैं सुबह ही जाऊंगी, आप तो कोई जगह बता दो सो मैं सो जाऊं, तब ब्रह्मचारी बोला बेटी ! यहाँ स्थान नहीं है, आखिर बाबाजी ने अपनी एक कोठरी बतादी। लड़की जाकर सोगई और अन्दर की चटकनी लगाली, इस तरह जब आधी रात हो गई तो लड़की ने अँगड़ाइयाँ आदि लेना शुरू किया तथा शृङ्गारपूर्ण गीत गाये तो बाबाजी के काम उत्पन्न हो गया। बाबाजी उठे और आवाज लगाई किवाड़ खोलो। लड़की बोली- मैं नहीं खोलती। काम जाग्रत हो जाने के कारण बाबाजी ने दरवाजा खोलने की कोशिश की, परन्तु कामयाब न हुए। तब बाबाजी कुटिया की छत पर चढ़े। छत पर जो पट्टियां पड़ी थीं उनमें से एक को ऊंचा

उठाया और नीचे उतरने लगे कि वह पट्टी खिसक गई और बाबाजी बीच में ही लटक गये, पांवों के नीचे जमीन न होने से वश नहीं चला, उधर लड़की किंवाड़ खोलकर अपने घर चली गई। बाबाजी बीच में ही लटक रहे थे, सुबह हुई। भक्त लोग आये, चारों ओर देखा– आवाज लगाई, बाबाजी नहीं मिले, तब बाबाजी ऊपर से बोले भाई! मुझे निकालो, लोगों ने निकाला तो बाबाजी बोले मैं तो जरा अपनी ताकत आजमा रहा था कि एकाएक पट्टी खिसक गई और मैं फ़ंस गया। उधर लड़की अपने घर जाकर पिताजी से बोली कि आज शास्त्र-सभा में कल वाली बात फिर दुहराना, समय पर पंडितजी ने शास्त्र चालू किया, प्रकरण वही उठाया कि कामदेव में हाथी जितना बल होता है, तो ब्रह्मचारीजी बोले–नहीं, हजार हाथियों जितना बल होता है। कहने का सारांश यह है कि इस कामदेव में बहुत बल होता है इसको तो ज्ञानी जन वैराग्य, संयम और त्याग से ही वश में करते हैं।

स्मरेण स्मरणादेव, वैरं दैवनियोगतः।
हृदये निहितं शल्यं, प्राणिनां तापकारकम् ॥१०१॥

अर्थ :–कर्मों के उदयकाल में कामदेव के द्वारा (उस काम के) स्मरण मात्र से ही, प्राणियों के हृदय में बैठी हुई शल्य, संताप को उत्पन्न करनेवाली होती है और शत्रुता एवं दूसरों का अत्यन्त बुरा करने वाली होती है।

विशेषार्थ :– कामभाव का वेग जब वेद नोकषाय के तीव्र उदय से परिणामों में बैठ जाता है तब जब कभी उसका विशेष स्मरण आता है, तब काम का कांटा सा चुभने लगता है, जिससे घोर दुःख होता है। इष्ट विषय की ओर परिणाम बड़े आकुलित हो जाते हैं; घबड़ा-घबड़ा कर वह महान् कष्ट पाता है। कामना की यही शल्य तीव्र पाप बांधकर अपनी आत्मा का अत्यन्त बुरा करने वाली है।

संसार के ज्यादातर प्राणी कामभावना में लिप्त होकर स्त्री को

खुश रखने के लिए आत्महित को भूलकर येन-केन प्रकार से धन आदि का संग्रह करते हैं। उनमें एक लत (आदत) सी पड़ जाती है जब तक काम करने की शक्ति रहती है, उस समय तक वे थक कर नहीं बैठते, मात्र धन-संचय की धुन में रहते हैं, न्याय-अन्याय कुछ नही समझते हैं। आज के युग में भौतिकता इतनी अधिक बढ़ गई है कि सबेरे से लेकर रात तक श्रम करने के उपरान्त लोग आत्मकल्याण की ओर दृष्टिपात भी नहीं कर पाते उनका लक्ष्य तो मात्र भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही रहता है। अतः पापोदय के रहने पर जीव पाप का ही बन्ध करते रहते हैं और मिथ्यात्व के कारण इधर-उधर भटकते रहते हैं इस प्रकार पापानुबन्धी पाप से उनका उद्धार नहीं हो सकता है। आचार्यों ने कहा है कि—

"अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्"

अर्थात् ऐसे व्यक्तियों का जन्म बकरी के गले में लटकते हुए स्तन के समान व्यर्थ ही जाता है।

यथार्थ में अज्ञान से तीव्र राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो व्यक्ति दयामय धर्म की विराधना करता है, वह महान् अज्ञानी है; उसका यह कार्य इस प्रकार निन्द्य है, जैसे कोई व्यक्ति एक बार ही फल–प्राप्ति के उद्देश्य से फले हुए वृक्ष को जड़ से काट लेता हो, उससे वह सदा मिलने वाले फलों से वञ्चित ही रहेगा। अतः प्राणियों को आध्यात्मिक विकास करने के लिए सर्वदा दृढ़ संकल्पी बनना चाहिए तथा कामभाव-रूपी रोग के उदय में वैराग्य तथा संयम, त्याग रूपी औषधियों को ग्रहण करना चाहिए ताकि यह कामवेदना का रोग हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो जाए। ऐसा करने से ही मानवजन्म की सार्थकता हो सकती है।

तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं, जिनमार्गरताः सदा।
येन सत्खंडितां याति, स्मरशल्यं सदुर्धरम् ॥१०२॥

अर्थ :— इसलिए जैनमार्गरत रहते हुए निरन्तर उस सम्यक्चारित्र

को पालन करो जिस सम्यक्चारित्र के द्वारा अत्यन्त कठिन कामरूपी शल्य के सैंकड़ों टुकड़े हो जाते हैं।

विशेषार्थ :– जब कामभाव का कांटा दिन रात चुभा करता है, तब इस कांटे को निकालकर फेंक देना ही उचित है। यद्यपि इसका निकलना बड़ा कठिन है, तथापि यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र को पाला जावे तथा व्यवहार में व्रताचरण करते हुए निज आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया जावे तो ब्रह्मभाव का प्रभाव परिणामों में जमता जाएगा और कामवासना की शल्य खंडित होती चली जाएगी, इसी अभ्यास के बल से काम-शल्य बिलकुल निकल जाएगी। अतएव जिनधर्म की आराधना श्रद्धापूर्वक करनी जरूरी है।

कामवासनाओं से बचने के लिए प्राणियों को सदाचार का आश्रय लेना चाहिए तथा वैराग्यभावों को उज्ज्वल करते हुए संयम का अवलम्बन लेना चाहिए। देखो ! अनादिकाल से यह जीव इन वासनाओं के जाल में फंसा रहा और जन्म-मरण के दुःख उठाता रहा। अब पुण्योदय से उत्तम मनुष्यपर्याय की प्राप्ति हुई है। यदि इस दुर्लभ पर्याय में भी दुःख की दाता इन कामवासनाओं को नहीं छोड़ा तो फिर जीवन सामान्य ही रहा। अतः मोक्षमार्ग को पहचान करके संयमरूपी वाहन में सवार होना अत्यावश्यक है।

संयम के लिए धन-दौलत, नौकर-चाकर, स्त्री, पुत्र, आदि प्रतीक्ष्य नहीं हैं। संयम तो आत्मा का स्वभाव है, इसके लिए पर पदार्थों की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि कामवेग के वशीभूत होकर परस्त्री की लालसा से रावण जैसे पराक्रमी एवं विद्वान् राजा ने भी अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया था तो सामान्य जनों का तो यहाँ क्या अस्तित्व है ? अतः परस्त्री-सेवन आदि कुकर्मों की ओर दृष्टि मत डालो क्योंकि जगत्-जाल में मन्द बुद्धि वालों का फंसना कोई बड़ी बात नहीं है। जहाँ तक हो सके अपने को इनसे बचाओ अन्यथा सिवाय पछताने के और रहेगा ही क्या ? यथार्थ में मानव के हृदय में जब काम-

रूपी कांटा चुभता है तब उसे न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म का भान नहीं रहता। यह एक प्रकार की शल्य होती है सो खटकती ही रहती है, अतः मानवों का कर्त्तव्य है कि वे इस कांटे को संयम के माध्यम से निकाल फेंके। वरना यह कांटा अन्दर का अन्दर पक जाएगा तो दुःखी होना होगा।

चित्तसंदूषणः कामस्तथा सद्गतिनाशनः।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ, कामोऽनर्थपरम्परा ॥१०३॥

अर्थ :– जगत् के प्राणियों के चित्त को यह कामभाव मलिन करने वाला है तथा शुभ गति का नाशक है; सम्यक्चारित्र को भ्रष्ट करने वाला है; यह काम अनर्थों की परम्परा को चलाने वाला है।

विशेषार्थ :– यह कामभाव आत्मा का महान् वैरी है, मन को ऐसा क्षुब्ध और मलिन कर देता है कि जिससे शुभगति का बन्ध न होकर दुर्गति का बन्ध हो जाता है। यदि कोई यथार्थ चारित्र को पालता है, परन्तु कामभाव जाग्रत करने वाले निमित्तों से नहीं बचता है तो उसके शुभ परिणाम प्रायः कामभावों के उदय से बिगड़ जाते हैं; जिससे उसका चारित्र भी नहीं ठहरता है। अतएव कामवैरी के वश होना ही अनर्थ-कर है, फिर एक अनर्थ से दूसरे अनर्थ पैदा हो ही जाते हैं।

आज के युग में मानव अपनी इन्द्रियों के पोषण में तथा विषयभोगों में तल्लीन रहते हैं। सांसारिक वैभव पूर्वोपार्जित पुण्य के बिना नहीं मिलता, किसी के देने-लेने से सम्पत्ति आदि प्राप्त नहीं होती है, कोई किसी को कितना ही धन आदि क्यों न देवे परन्तु पुण्योदय के बिना वह लक्ष्मी स्थिर नहीं रह सकती। देखो ! जब प्राणियों के पाप का उदय आता है, तो उनकी चिर अर्जित सम्पत्ति भी देखते-देखते विलीन (नष्ट) हो जाती है; लेकिन पुण्योदय में एक दरिद्री भी तत्काल थोड़े ही श्रम से धनी बन जाता है। भाग्य की गति विचित्र है जब मानव का अच्छा समय आता है, तो शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, जंगल में भी मंगल होने लगता है; कुटुम्बी, रिश्तेदार स्नेह करने लगते हैं; परन्तु अशुभोदय के

आने पर सभी लोग अलग हो जाते हैं; मित्र घृणा करने लग जाते हैं और धन-दौलत न जाने किस रास्ते से निकल जाती है। सारांश यह है कि प्राणियों को पाप और पुण्य के उदयकाल में हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए। आचार्यों ने बताया है कि मानवों को भलीभाँति जानना चाहिए कि संसार के ये भौतिक सुख क्षणविध्वंसी हैं, इनमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करने से ही प्राणी दुःखी होते हैं। देखो! चिरकाल से अर्जित कर्म ही मनुष्यों को अपने उदयकाल में सुख या दुःख दे सकते हैं। अन्य किसी की ताकत नहीं जो किसी को सुख या दुःख दे सके। अतः जगत् के प्राणियों को चाहिए कि वे अपने हृदय में रागादि भाव तथा कामवासना को स्थान न देवें क्योंकि ये कामादि भाव ही सदाचार से च्युत करने वाले हैं अर्थात् ये अनर्थों की जड़ हैं तथा संसार का बीज हैं; इनसे बचना ही समझदारी है।

दोषाणामाकरः कामो, गुणानां च विनाशकृत्।
पापस्य च निजो बन्धुः, परापदां चैव संगमः ॥१०४॥

अर्थ :– यह काम–भावना दोषों की खान है गुणों का नाश करने वाली है, पाप की (निज)बन्धु है और यही आपत्तियों का संगम कराने वाली है तथा दुःखदायी है।

विशेषार्थ :– आत्मा का स्वभाव–ज्ञान, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, संतोष आदि जो गुण हैं, वह कामभाव के कारण नष्ट हो जाता है तथा इनके विरोधी अनेक दोष आकर जमा हो जाते हैं। वास्तव में, जहां कामभाव है, वहां सदा पापों का बन्ध होता है। कामी जीव का आचरण ऐसा आपत्तिजनक हो जाता है जिससे उसको बड़े-बड़े संकट आकर घेर लेते हैं। वह राजदंड व पंचदंड पाता है, जगत् में अपयश का पात्र बन जाता है, अर्थात् यह काम आत्मा का महान् शत्रु है। इसी काम के वश होकर प्राणी अपना सर्वस्व खो देता है, काम के वेग में हेयोपादेय का ज्ञान नहीं रहता है इसीलिए आचार्यों ने कहा है कि स्त्री-

संग से मानव अपनी मानवता से हाथ धो बैठता है। महापुरुषों ने कितना सुन्दर सम्बोधन किया है कि—

सत्यं शौचं श्रुतं वित्तं, सौख्यं लोकेषु पूजितम्।
नश्यन्त्येतानि सर्वाणि, पुंसां स्त्रीणां प्रसङ्गत:॥

अर्थात्– सत्य, शुद्धता, शास्त्रज्ञान, धन, सुख और लोकप्रतिष्ठा मनुष्यों की ये सब वस्तुएँ स्त्री-प्रसङ्ग से नष्ट हो जाती हैं। परस्त्री या वेश्या-सेवन में आसक्त मनुष्यों की धार्मिक प्रवृत्ति होना दुर्लभ है। इस विषय में तत्त्वज्ञानियों ने समझाते हुए कहा है कि—

सत्यं शौचं शमं शीलं, संयमं नियमं तथा।
प्रविशन्ति बहिर्मुक्त्वा, विटा: पण्याङ्गनागृहे॥
तपो व्रतं यशो विद्या, कुलीनत्वं दमो दया।
छिद्यन्ते वेश्यया सद्यः, कुठारेण यथा लता॥

अर्थात्– विटमनुष्य सत्य, शौच, शम, शील, संयम और नियम को बाहर छोड़कर वेश्या के घर में प्रवेश करते हैं। वेश्या के द्वारा तप, व्रत, विद्या, कुलीनता, दम और दया का शीघ्र नाश हो जाता है जैसे कुठार के द्वारा लता छिद जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में प्राणियों की सुख-शान्ति का नाश करने में वेश्या तथा परस्त्री नागिन सदृश हैं, ये इस लोक और परलोक दोनों को ही दुःखमय करती हैं इस कामभावना के कारण आगे अनेक जीवों का दुर्भाग्यपूर्ण जीवन बना था और इसके फ़ंदे में आने वाले प्राणी कभी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसा आचार्यों का अभिमत है।

पिशाचेनैव कामेन, छिद्रितं सकलं जगत्।
बंभ्रमेति परायत्तं, भवाब्धौ स निरन्तरम्॥१०५॥

अर्थ :– वास्तव में, भूत-पिशाच के समान कामभाव ने सर्व जगत् के प्राणियों को दोषी बना दिया है, वे जीव काम के आधीन होकर संसाररूपी सागर में सदा भ्रमण किया करते हैं।

विशेषार्थ :— देखो ! जगत् में बड़े-बड़े वीर, राजा, महाराजा, योद्धा काम के वशीभूत होकर अनेक दोषों के पात्र बन जाते हैं, उनकी चेष्टा दीन-हीन बन जाती है। वे घोर अन्याय करने लग जाते हैं, परस्त्रीगामी बन जाते हैं। इस काम-भाव के आधीन जो प्राणी हो जाते हैं, वे यहाँ पर भी बड़ी आकुलता से अपना जीवन बिताते हैं, आत्मिक सुख-शान्ति से पराङ्मुख हो जाते हैं तथा पापकर्मों का ऐसा तीव्र बन्ध कर लेते हैं कि परभव में भी उनको दीर्घकाल तक नरक आदि कुगतियों में अनेक जन्म धर-धरकर संसार में भ्रमण करना पड़ता है, सच तो यह है कि यह कामभाव दुःखों का घर है।

इस कामभाव के कारण मनुष्य, स्त्री वर्ग से अति प्रेम करता है, फिर उसके लिए रातदिन धन आदि संचय करता है, लेकिन मानवों को जरा विचारना चाहिए कि जिन धन आदि पदार्थों को उन्होंने बड़े यत्न और कष्ट से संचित किया है, वे सब यहीं रहने वाले हैं। मरने पर ये एक कदम भी हमारे साथ जाने वाले नहीं हैं। यह लक्ष्मी, यौवन, स्त्री, पुत्र, पुरजन, परिजन, सभी क्षणभंगुर हैं; विनाशीक हैं; मरने पर तो साथ में पुण्य-पाप के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं जाती है, ये सभी भौतिक पदार्थ यहीं रह जाएँगे, ऐसा सोचना आत्मिक ज्ञानप्राप्ति में सहायक है।

संसारी प्राणी क्षणिक ऐश्वर्य प्राप्त करके अभिमान में आकर दूसरों की अवहेलना करते हैं तथा अपमान करते हैं अथवा अपने को ही सर्वगुणसम्पन्न समझते हैं, परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि एक दिन उनका अभिमान चूर-चूर हो जाएगा। वे खाली हाथ आए थे और खाली हाथ ही जाएँगे, अपने साथ तो अन्याय-अत्याचार करके, पापाचरण करके, जो पापकर्म बाँधे हैं वे ले जाएँगे या किसी भाग्यवान् व्यक्ति ने सदाचार पालते हुए पुण्याचरण करके जो पुण्य संचित किए हैं वे साथ जाएँगे। अतएव आत्मकल्याण का हेतु जो रत्नत्रय धर्म है, उसे धारण करना चाहिए। वास्तव में, प्राणियों की बुद्धि में फर्क पूर्वपापोदय ने डाल रखा है, जिससे वे अपने हित की अवहेलना करते हुए, पापकार्यों में मग्न हो

रहे हैं। तभी तो संसार के प्राणी काम आदि भोगों की चाह में फँसकर अनर्गल प्रवृत्ति करते हुए संसाररूपी सागर में डूब रहे हैं।

वैराग्यभावनामंत्रै–स्तन्निवार्य महाबलं ।
स्वच्छन्दवृत्तयो धीराः, सिद्धिसौख्यं प्रपेदिरे ॥१०६॥

अर्थ :– स्वतन्त्र आचरण रखने वाले तथा काम के वश न होने वाले धैर्यवान मानवों ने वैराग्यभावनारूपी मंत्रों से कामके महाबल को दूर करके मोक्ष के आनन्द को प्राप्त किया है।

विशेषार्थ :– जो विषयकषायों के आधीन नहीं हैं किन्तु आत्मा का हित सदा विचारने वाले हैं, उन्हीं को स्वतन्त्र प्राणी कहते हैं। वे बड़े धैर्यवान होते हैं तथा अपने परिणामों में उत्पन्न होने वाले काम के विकारों को जीतने के लिए वैराग्य की भावना भाते हैं। वे यही विचारते हैं कि कामसेवन से कभी काम का रोग शान्त नहीं हो सकता है, अपितु और बढ़ता है; इसलिए इस अतृप्तिकारक क्षणिक सुख की आशा छोड़कर आत्मा के स्वाभाविक आनन्द का लाभ लेना ही हितकर है।

मानव-जन्म की सार्थकता जिस आत्मोन्नति से होती है, उसमें कामभावना तीव्र बाधा उत्पन्न करती है। मानव-जन्म पाना ही अत्यन्त दुर्लभ है, यदि इसको प्राप्त करके भी संयम की आराधना नहीं की, तो फिर ऐसे उत्तम मनुष्य-जन्म का पाना कठिन होगा। कामसेवन भूतकाल में भी अनेक जन्मों में किया है, कई बार राजपद में तथा देवपद में बहुत सुन्दर-सुन्दर स्त्रियों का सेवन किया है, जब उन दिव्यभोगों से भी तृप्ति न हो सकी तो इस वर्तमान पर्याय के तुच्छ स्त्रीसंभोग से कैसे तृप्ति होगी ? यह काम का विषयसुख झूठा है, वमन किए हुए अन्न के समान है। ज्ञानियों को इसे त्याग कर आत्मा के ध्यान में मग्न होकर परम सुख प्राप्त करना चाहिए। देखो ! प्राचीनकाल में चक्रवर्ती, तीर्थंकरादि ने भी इस कामभोग को त्यागकर वैराग्य को धारण किया था।

परन्तु जो स्त्रीभोग में लिप्त रहे वे मरकर नरकादि दुर्गति में पहुंचे, इस प्रकार बार-बार अनित्य, अशरणादि बारह भावनाओं के भाने से काम का विष ठीक उसी तरह उतर जाता है जैसे– सर्प का विष मन्त्रों के उच्चारण करने से उतर जाता है। जो व्यक्ति इस प्रकार इस विष को उतार देते हैं और आत्मानुभव के द्वारा आत्मानन्द का भोग करते हैं, वे एक दिन सिद्ध भगवान बनकर अनन्तकाल के लिए परमानन्द में निमग्न हो जाते हैं और सदा के लिए भव-भ्रमण से छूट जाते हैं। अतः मनुष्यों को चाहिए कि वे इस निरंकुश कामदेव को वैराग्यरूपी सांकल से बाँधकर ज्ञानरूपी बाणों से उसे घायल करदें, यदि प्रमाद किया जाएगा तो यह मदोन्मत्त कामरूपी हाथी दुःख का कारण बन जाएगा।

कामी त्यजति सद्वृत्तं, गुरोर्वाणीं ह्रियं तथा।
गुणानां समुदायं च, चेतः स्वास्थ्यं तथैव च ॥१०७॥

तस्मात् कामः सदा हेयो, मोक्षसौख्यं जिघृक्षुभिः।
संसारं च परित्यक्तुं, वाञ्छद्भिर्यतिसत्तमैः ॥१०८॥

अर्थ :–कामी लोग सम्यक्चारित्र को, गुरुओं की आज्ञारूपी वाणी को, लज्जा को व गुणों के समूह को तथा अपने मन की निराकुलता को छोड़ देते हैं; इसलिए यह काम मुक्ति के इच्छुक और संसार के त्याग के वांछक साधुओं के द्वारा सदा ही छोड़ने योग्य है।

विशेषार्थ :– काम-भाव ब्रह्मचर्य का घातक है, साथ ही और भी अहिंसा, सत्यादि व्रतों का नाश करने वाला है। जो लोग काम के वश हो जाते हैं, वे गुरुओं से ग्रहण की हुई ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा को त्याग बैठते हैं; कामी मानवों के भीतर से लज्जा चली जाती है, वे काम के वेग से घबराकर तथा स्त्रियों की संगति एकान्त में करने से व उनके साथ कामचेष्टा, हास्यादि करने में लज्जा नहीं करते हैं। काम के कलंक से पहले जो क्षमा, संतोष, शान्ति, ब्रह्मज्ञान, आत्मध्यान, वैराग्य आदि गुण प्राप्त किए थे, वे सब कामी के हृदय से खिसकते जाते हैं, उसके चित्त

में समता व निराकुलता कभी नहीं रहती। इष्ट-स्त्री के साथ संसर्ग करने की आकुलता में मन फंसा रहता है। जिन साधु-संतों का यह उद्देश्य है कि वे अपने आत्मा को इस भयानक संसार-समुद्र से पार करके ध्रुव व शान्तिमय मुक्ति के आनन्द में विराजमान कर दें, उनको पूर्ण प्रयत्न करके कामभाव का सदा ही त्याग करना चाहिए तथा काम-भाव के जाग्रत करने वाले निमित्तों से बचना चाहिए अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाएं भानी चाहिए।

(१) स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथा न करें, (२) उनके मनोहर अंगों को रागभाव से न देखें, (३) पूर्व के भोगे हुए भोगों को याद न करें, (४) कामोद्दीपक रस व भोजन न खावें, (५) अपने शरीर का शृंगार न रक्खें। जो साधु इन पांच भावनाओं को भाते हैं और स्त्री, नपुंसक आदि विकारी पात्रों का जहाँ आना-जाना न हो ऐसे एकान्त में शयना-सन करते हैं वे महात्मा कामभाव को जीतने में सफल हो सकते हैं। वास्तव में, साधुजनों के लिए एकान्त स्थान ही ध्यानादि में सहायक होता है। संसार में अनादिकाल से इस आत्मा ने अपनी मिथ्यात्व और रागादि परिणति से एक नहीं अनन्त दुःख उठाए हैं। देखो ! जब यह जीव दुःखी होता है तब रोता है और वैराग्य जैसा भाव करता है, परन्तु जब दुःख कम हो जाता है तब फिर उन्हीं पाप-कामों में प्रवृत्ति करने लग जाता है। इस विषय में थोड़ा प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

देखो ! प्राणियों को दुःख आने पर या किसी बड़े संकट के आने पर या किसी की मृत्यु हो जाने पर संसार से विरक्ति होती है। वह संसार की क्षणभंगुरता, स्वार्थपरता और उसके संघर्षों को देखकर विचलित हो जाता है, इन्हें अपने लिए अहितकर समझता है। क्षणिक विरक्ति के आवेश में भी संसार का खोखलापन सामने आता है कि सुख-भोग असार हैं, अनित्य और नाशवान हैं अर्थात्– ये सर्वदा रहने वाले नहीं; आज जो धन के मद में मस्त, लक्ष्मी का लाल माना जाता है, कल वही दर-दर का भिखारी बन जाता है; आज जो जवान है, अकड़-कर चलता है, शरीर की सुन्दरता पर गर्व करता है, कल वही बुढ़ापे के

कारण लकड़ी टेककर चलता है तथा जो आज सुन्दर स्वस्थ है वही कल रोगी होकर बदसूरत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यौवन, धन, शरीर, प्रभुता, वैभव ये सब अनित्य और चंचल हैं। अतः दुःख के कारण हैं। शरीर में रोग, लाभ में हानि, जीत में हार, भोग में व्याधि, संयोग में वियोग, सुख में दुःख लगा हुआ है। विषय भोगों में भी सुख नहीं, ये केले के पेड़ के समान निस्सार हैं, मनुष्य मोहवश इनमें फँसा रहता है; जब आयु पूरी होती है तो प्राणियों को इन भोगों से पृथक् होना ही पड़ता है।

देखो ! जब तक यह श्मशान-वैराग्य–क्षणिक-वैराग्य रहता है, जीव कल्याण की ओर झुकता है। परन्तु फिर ज्योंही सांसारिक सुख उसे मिले तो मोहवश वह सब कुछ भूल जाता है। इन्द्रियसुखों के प्राप्त होने पर आत्मिक सुख को यह अज्ञानी आत्मा भूल जाता है अतएव सुख के दिनों में संसार और शरीर तथा भोगों से विरक्ति लेनी चाहिए, क्योंकि सुख में वैराग्य स्थिर होता है, साधकजन इस प्रकार के वैराग्य से अपना कल्याण कर सकते हैं, वे पर पदार्थों को अनित्य और नाशवान समझते हैं, उनकी पर को अपना समझने रूप मिथ्या प्रतीति दूर हो जाती है। स्त्री, पुत्र, धन, यौवन, स्वामित्व प्रभृति पदार्थों की अनित्यता उनके सामने आ जाती है। वे सोचते हैं कि हमारी आत्मा स्वतन्त्र अस्तित्व वाली है, हमने मोह के कारण इन पदार्थों से आत्मबुद्धि कर ली थी जिससे संसार-भ्रमण करते रहे। अतः अब इनका प्रसंग छोड़ते हैं; ये कुटुम्बीजन जो मेरे हैं वे कल नहीं रहेंगे तथा दूसरा शरीर धारण करने पर मुझे दूसरे कुटुम्बी मिलेंगे अतः यह रिश्ता झूठा है। संसार स्वार्थ का दास है, स्वार्थ निकल जाने पर कोई किसी को नहीं मानता। इसलिए मुझे अपने स्वरूप में रमण करना चाहिए और आत्मकल्याण में लग जाना चाहिए। सारांश यह है कि प्राणियों को बुद्धिपूर्वक काम-वासनाओं को छोड़ देना योग्य है, क्योंकि कामभाव से रागभाव बढ़ता है जिससे मोहनीय कर्म प्रबल होता है तब संसार दीर्घ बनता जाता है।

इसलिए सुखार्थीजनों का कर्त्तव्य है कि वे समय रहते आत्महित में लग जावें।

कामार्थौवैरिणौ नित्यं, विशुद्धध्यानरोधनौ।
संत्यज्यतां महाक्रूरौ, सुखं संजायते नृणाम् ॥१०६॥

अर्थ :– काम और धन हमेशा निर्मल ध्यान को रोकने वाले हैं, महान् दुष्ट हैं तथा आत्मा के वैरी हैं, इन दोनों को छोड़ देना चाहिए तब मनुष्यों को सुख शान्ति होती है।

विशेषार्थ :– विषयभोगों की लालसा तथा धन की ममता, धन कमाने की, संग्रह करने की व संरक्षण की चिन्ताएँ मानवों के निर्मल शुद्ध आत्मध्यान के होने में विघ्नकारक हैं। जब वे ध्यान करने बैठेंगे तब धन-सम्बन्धी तथा काम-भोगसम्बन्धी विचार आकर उन्हें घेर लेंगे; परन्तु जब इनका संयोग न रहेगा तब उनका स्मरण भी न होगा। अतएव जो मानव आत्मानन्द के वांछक हैं उनका कर्त्तव्य है कि वे धन और कामभोगों का संयोग छोड़कर त्यागी संयमी हो जावें और निराकुल होकर आत्मानुभव करें, तब उनको परम निराकुल आत्मसुख का लाभ होगा।

जब तक प्राणियों को संसार के पदार्थों से विरक्ति नहीं होती है, तब तक उनका त्याग सम्भव नहीं, भावावेश में आकर कोई व्यक्ति क्षणिक त्याग भले ही कर दे परन्तु स्थायी त्याग नहीं हो सकता है। संसार के अज्ञानी प्राणी मनमोहक रूप को देखकर मुग्ध हो जाते हैं, उसके यथार्थ रूप को नहीं समझते। आचार्य कहते हैं कि देखो! यह मनुष्य-पर्याय बड़ी कठिनता से प्राप्त हुई है, इसका उपयोग आत्म-कल्याण के लिए करना आवश्यक है। कविवर बनारसीदासजी ने अपने नाटक समयसार के निम्न पद्य में विषय-भोगों में अपने जीवन को लगाने वाले व्यक्तियों की अज्ञानता का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर साजि मतङ्ग जो ईंधन ढोवै।
कंचन-भाजन धूरि भरै शठ मूढ़ सुधारस सों पग धोवै॥

बे-हित काग उड़ावन कारन डारि उदधि मनि मूरख रोवै।
त्यों नर-देह दुर्लभ्य बनारसि पाय अजान अकारथ खोवै।।

सारांश यह है कि जो व्यक्ति आत्म-कल्याण के लिए समय की प्रतीक्षा करते रहते हैं, उन्हें कभी अवसर नहीं मिलता। उनके सारे मनसूबों को मृत्यु समाप्त कर देती है और वे कलपते हुए संसार से चल बसते हैं। संसारी जीवों का चिन्तन सदा सांसारिक पदार्थों के संचय के लिए हुआ करता है परन्तु यमराज (मृत्यु) उसे बीच में ही दबोच लेता है। अतः संसार से मोह कम करना चाहिए तथा सदा यह चिन्तन करना चाहिए कि यह संसार असार है, ज़िन्दगी मृत्यु के मुख में है, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग हो जाएगा आदि। यह कामवासना और धनादि मेरे आत्मकल्याण में बाधक हैं।

कामदाहो वरं सोढुं, न तु शीलस्य खंडनम्।
शीलखंडनशीलानां, नरके पतनं ध्रुवं ।।११०।।

अर्थ :– काम की चाह की दाह को सह लेना अच्छा है परन्तु शील या ब्रह्मचर्य का खंडन अच्छा नहीं है, जो मानव शीलखंडन की आदत डाल लेते हैं, निश्चय से उनका घोर नरकों में पतन होता है।

विशेषार्थ :– काम की चाह मन में पैदा होती है, उस चाह की जलन को सह लेना ठीक है, इसे सहने में कोई बिगाड़ नहीं होता। जैसे कोई गाली देवे, यदि सुननेवाला प्राणी उसको सह ले तब परस्पर कलह व युद्ध होने का निमित्त नहीं होता। परन्तु यदि सहन न करे और बदले में गाली देवे तो परस्पर कलह बढ़कर मारपीट होने की नौबत आ जाएगी। इसी तरह काम की दाह को सह लेने से सहनशीलता की आदत पड़ जाएगी, फिर धीरे-धीरे काम की दाह मिट जाएगी; परन्तु जो काम की चाह के आधीन होकर अपने शील को खंडित करके स्त्रियों में रति करने लगेगा तो उसकी चाह की दाह अधिक बढ़ जाएगी तथा बार-बार स्त्री-संभोग करेगा, उसके स्वस्त्री, परस्त्री तथा वेश्या का

विवेक जाता रहेगा। फिर उसके परिणाम तीव्र राग भाव से ऐसे लिप्त हो जाएंगे कि वह मानव नरकायु बाँधकर नरक में पतनकर घोर दुःख उठाएगा। देखो! संसार में काम की महिमा बड़ी विचित्र है, वृद्धावस्था में भी कई प्राणी कामसेवन को नहीं छोड़ते हैं यह काम मरे हुए को भी मारता है जैसा कि आचार्यों ने कहा भी है—

कृशः काणः खञ्जः, श्रवणरहितः पुच्छविकलो—
व्रणी पूयोद्गीर्णः, कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामः क्षुण्णः, पिठरककपालार्पितगलः
शुनीमन्वेति श्वा, हतमपि च हन्त्येव मदनः॥

अर्थात्—एक ऐसा कुत्ता जो दुबला है, काणा है, लंगड़ा है, कानों से रहित है, पूंछ से विकल है, घावों से युक्त है, जिसके पीप निकल रही है तथा जिसका शरीर सैंकड़ों कीड़ों से युक्त है, जो भूख से कृश है, पिटा हुआ है और जिसके गले में फूटे घड़े का घाँघर लटक रहा है तो भी कुत्ती के पीछे लग रहा है; अतः काम मरे हुए को भी मार रहा है। कामदेव का प्रभाव भयानक है। कहा भी है—

अपूर्वोऽयं धनुर्वेदी, मन्मथस्य महात्मनः।
शरीरमक्षतं कृत्वा, भिनक्त्यन्तर्गतं मनः॥

भाव यह है कि महात्मा कामदेव का धनुर्वेद अपूर्व ही है, क्योंकि यह शरीर को तो अक्षत-अखण्ड रखता है परन्तु भीतर स्थित मन को भेद देता है।

कामदाहः सदा नैव, स्वल्पकालेन शाम्यति।
सेवनाच्च महापापं, नरकावर्तपातनम् ॥१११॥

अर्थ :– काम की दाह थोड़े समय में मिट जाती है, सदा नहीं रहती है; परन्तु कामसेवन से महान् पाप का बन्ध होता है, जो पाप नरक के गड्ढे में गिरा देता है।

विशेषार्थ :– वेद नोकषाय के तीव्र उदय से काम की जलन पैदा

होती है, वह एक अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक एकसी नहीं रहती है। थोड़े काल में अन्य कार्यों की तरफ उपयोग लग जाने से और वेद का उदय मन्द हो जाने से काम की दाह मिट जाती है। यह ठीक नहीं है कि काम की दाह शान्त करने के लिए स्त्री-संभोग किया जावे। इससे तो काम की दाह और अधिक बढ़ेगी और तीव्र रागभाव से नरक में जाने योग्य पाप का बन्ध होगा, जहाँ बहुत कष्ट भोगना होगा।

यदि मानव चाहे तो अपने काम-भाव को मंद कर सकता है ऐसी बात नहीं है कि प्राणियों के रागादि भाव घटते न हों, रागादि भावों से ही काम-भाव बनता है और रागादि भावों का जनक तो मोह है, जिन्होंने इस मोह से अपना पीछा छुड़ा लिया अर्थात् इसे दुःखदायी समझकर छोड़ दिया संसार में वही धन्य है; कहने से तो ये रागादि भाव छूटने वाले नहीं, इन्हें तो हेय समझकर पुरुषार्थपूर्वक अपने मन-वचन और काय से छोड़ना होगा। वस्तुओं को जानने और देखने से हरजा नहीं, वस्तुएँ किसी को बलात् नहीं अपनाती, परन्तु व्यक्ति जब उन वस्तुओं में रागादि करता है तब वह उनमें फंसकर दुःख का बीज बोता है। कहने का मतलब यह है कि यदि जानने और देखने से दुःख होता तो भला विचार करो सर्वज्ञ भगवान् तो अनन्त पदार्थों को जानते और देखते हैं तो उन्हें क्या दुःख होता है ? अर्थात् नहीं। परन्तु वे उन पदार्थों में रागादिभाव नहीं करते हैं इसलिए वे पूर्ण सुखी हैं।

सारांश यह है कि देखने और जानने की महिमा नहीं है महिमा तो जब है कि देखते-जानते हुए उनमें रागादि न करें। लेकिन संसार के अज्ञानी प्राणी रागादि तो छोड़ते नहीं और सुखी होना चाहते हैं सो भाई ! यह कैसे हो सकता है जैसे मूली खाओ और आम का स्वाद आ जाए; ऐसा हो नहीं सकता। सिद्धान्त भी यही कहता है कि संसार के प्राणी अपनी रागादि परिणति से संसार में भटक रहे हैं और दुःखी हो रहे हैं परन्तु रागादि को छोड़ते नहीं जैसे– किसी मूर्ख व्यक्ति ने अपने हाथ में आग का अंगारा ले रखा है उस अंगारे से उसका हाथ जल रहा है; वह व्यक्ति रोता है, चिल्लाता है, परन्तु उस अंगारे को छोड़ता नहीं है उसे

श्रीगुरु पुकार-पुकार कर कहते हैं भाई ! इस अंगारे को तो छोड़ दे परन्तु छोड़ता नहीं और रोता है। ठीक यही दशा मोही जीवों की हो रही है, दुःखी होते हैं परन्तु रागादि छोड़ते नहीं।

सुतीव्रेणापि कामेन, स्वल्पकालं तु वेदना।
खंडनेन तु शीलस्य, भवकोटिषु वेदना ॥११२॥

अर्थ :– अतितीव्र काम की दाह से भी थोड़े ही कालतक पीड़ा रहती है, परन्तु ब्रह्मचर्य को खंडित कर देने से करोड़ों जन्मों में कष्ट सहने पड़ते हैं।

विशेषार्थ :– संसार में बुद्धिमान प्राणी वही है जो अधिक कष्ट से बचकर थोड़ा कष्ट सह ले। कामसेवन विषफल खाने के समान है, वह विषफल देखने में सुन्दर तथा खाने में मीठा है परन्तु प्राणनाशक है। यदि किसी को उस विषफल के खाने की चाह पैदा हो तो उसे उचित है कि वह उस चाह के कष्ट को सहन कर ले परन्तु विषफल को कदापि न खावे। परन्तु जो कुबुद्धि जिह्वा की लोलुपता से बिना विचारे विष फल खावेगा, वह अपने प्राणों को निश्चित ही गमाएगा। जैसे–खाने की चाह थोड़ी देर पीछे मिट जाती है, वैसे ही काम-सेवन का भाव भी थोड़ी देर बाद मिट जाता है परन्तु जो काम की दाह के शमन के लिए परस्त्री-सेवनादि पाप-कर्मों में प्रवर्तेगा और आत्मधर्म से विमुख हो जाएगा उसको मिथ्यात्व कर्म के उदय से करोड़ों जन्मों में जन्म-मरण रोगशोकादि के कष्ट भोगने पड़ेंगे। अतएव ज्ञानीजनों का कर्त्तव्य है कि काम की वेदना को ज्ञान के द्वारा शमन करे, उसके पीछे पड़कर चारित्र भ्रष्ट न करें।

आचार्यों ने बताया है कि संसार में ज्ञान के समान और सुख नहीं है, देखो ! अज्ञान-जनित दुःख ज्ञान होने से ही मिटता है। लोक में मानवों को चर्मचक्षुओं के साथ-साथ ज्ञान नेत्र भी मिले हैं, जिससे वे वस्तुस्वरूप का निर्णय करने की शक्ति रखते हैं; लेकिन जो लोग ज्ञान-

नेत्रहीन हैं वे कुबुद्धि मानव अपने हित मार्ग को छोड़कर अहित मार्ग में जाते हैं और दुःखी होते हैं। यथार्थ में, सम्यग्ज्ञानरहितों के भाग्य में विपरीतार्थ दर्शन-वृत्ति ही होती है; परन्तु सम्यग्ज्ञानी आत्मा पदार्थों को जानने में संशयरहित होते हैं, आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि प्रशस्त जीवन की कला तथा जीवित रहने का फल, आत्म-परमात्म-परामर्श ग्रहण करने के लायक या छोड़ने के लायक विज्ञान, निराकुलता इत्यादि की सम्प्राप्ति ज्ञान बिना संभव नहीं। अज्ञानी हिताहित ज्ञान से शून्य होते हैं, ज्ञान के विषय में महापुरुषों का यह आवश्यक परामर्श है कि वह हितानुबंधी होना चाहिए; यदि कोई दीपक से पदार्थ-दर्शन के स्थान पर प्रमाद से अपने वस्त्र जला ले तो यह उसका दुरुपयोग होगा। यदि संसार में विज्ञान से विध्वंसक शस्त्रों का निर्माण किया जाता है और संसार के प्राणियों पर आक्रमण किया जाता है तो यह दीपक लेकर कुए में गिरने के समान होगा क्योंकि जिस ज्ञान-विज्ञान से संसार के प्राणियों का नाश किया जाता है वह विज्ञान विनाशकारी ही है; होना तो यह चाहिए कि उस विज्ञान के बल से प्राणियों को निर्भय किया जाय तथा शान्ति स्थापित की जाय। सच तो यह है कि "हेयोपादेय विज्ञान" की प्राप्ति यदि ज्ञान के पश्चात् भी नहीं हुई तो समझ लो वह शास्त्रज्ञान शुकपाठवत् रहा। जो ज्ञान को ऊपर से ओढ-कर चलता है, उसके ऊपरी ज्ञान को कभी कोई भी उतार सकता है; परन्तु जिसने ज्ञान को सर्वसम्मति के रूप में उपार्जित किया है उसे कोई छीन नहीं सकता है। अतः ज्ञानोपार्जन में ज्ञान की पवित्रता के साथ-साथ उसे अपने में अभिन्न प्रतिष्ठित करने की महती आवश्यकता है। इसलिए ज्ञानी और ज्ञान भी आधार-आधेय मात्र न रहकर प्राणसंयुक्त होने चाहिए; ऐसे ज्ञान की उपासना में मानव को शास्त्राग्नि में प्रवेश करके सुवर्ण के समान विशुद्ध होना चाहिए।

ज्ञान की पूर्णता मनुष्य भव में ही हो सकती है अतः इसे प्राप्त करने में आलस्य नहीं करना चाहिए; आचार्यों ने कहा है कि प्रज्ञा–ज्ञान दुर्लभ है और इसे यदि इस मनुष्यजन्म में प्राप्त नहीं किया तो अन्य

जन्म में तो यह अतिदुर्लभ है, क्योंकि आगामी जन्म मनुष्यपर्यायवान हो यह कोई लिखित प्रमाण-पत्र नहीं है। अतः एक जन्म का प्रमाद न जाने कितने इतर जन्मों के अन्तर विशोधनीय हो, यह अनिर्वचनीय है। आगम में कहा है कि प्राणान्त होना ही मृत्यु नहीं है, प्रमाद भी मृत्यु है; देखो ! अप्रमत्त की मृत्यु एक बार आती है, परन्तु प्रमादी प्रतिक्षण मरता रहता है।

यथार्थ में, प्रमाद की जननी मोह है। मोह के उदय से राग-द्वेष होता है, राग-द्वेष को ज्ञानरूपी अग्नि दग्ध कर सकती है; मोह-व्रण की चिकित्सा के लिए ज्ञान-शल्योपचार आवश्यक है। इसी प्रकार अनन्त सुख की प्राप्ति हेतु मोह का निर्मूलन अपेक्षित है, इसलिए प्राणियों को प्रयत्नपूर्वक आत्महित में लग जाना चाहिए।

ज्ञान का वास्तविक लाभ सांसारिक विभूतियां प्राप्त करना ही नहीं है। देखा जाता है कि भौतिक वैभव तो अज्ञानतिमिरान्धों के पास भी प्रचुर है परन्तु यह महत्त्व का सूचक नहीं है। ज्ञानी तो उसे कहना होगा जिसने अपने आत्महित को जान लिया हो; जो शरत्काल में अपने पंखों का परित्याग करने वाले मयूर पक्षी के समान परिग्रहों का स्वतः त्याग कर देवे। संसार में जिनके नेत्र आत्मदृष्टा हैं, जो सर्वज्ञ के ज्ञान भास्कर पुण्याभिधान से लोकविश्रुत हैं; उन्हें चतुर्मुख कहने का यही अभिप्राय है कि उनकी ज्ञानात्मिका दृष्टि यदि सर्वतोदिक् है तो उन्हें मुख फेरकर दिशा विशेष में देखने का प्रयास नहीं करना होता है। अनन्त ज्ञान ही उनके अनन्त नेत्र हैं; देखो ! ज्ञानविहीन के लिए इन्द्रियां भी उपकारक नहीं हो पातीं; परन्तु ज्ञानी नेत्रों की सहायता बिना भी अतीन्द्रिय सुख प्रत्यक्ष करते रहते हैं।

संसार में प्रायः सभी प्राणी अपनी इन्द्रियों के वश होकर बाहरी जगत् की वस्तुओं में आनन्द मानते रहते हैं; उनमें कोई धीर पुरुष ऐसा भी होता है जो अपनी इन्द्रियों की इस बहिर्वृत्ति का निरोध करके उसे

अन्तर्मुख करता है तथा आत्मस्थित होकर अमृतपान करने में समर्थ हो जाता है। ऐसी आत्मलीनावस्था होने से ही मानव अनन्त संसार से निकलकर परमात्म पद को प्राप्त करता है। उन परमात्मा के न तो कोई कार्य है और न इन्द्रियां हैं, उनका अन्तरंग और बहिरंग आत्मा ही है, वे आत्मभिन्न समस्त पौद्गलिक विभावों का परित्याग कर चुके हैं। उन्होंने ही ज्ञान की प्राप्ति करके अपना यथार्थ पद प्राप्त किया है। इसलिए ज्ञान का यथार्थ फल है अनादिकाल के बाँधे हुए कर्मों को काट-कर अपना कल्याण करना। यह ज्ञान रत्नत्रय के मध्य में विराजमान महामणि है, इन्द्रियरूप तस्कर इसे चुराने के लिए हर समय उद्यत हैं; इनसे बचकर जो व्यक्ति सावधान रहता है उसीका ज्ञान पाना सार्थक है।

ज्ञान की पिपासा कभी शान्त नहीं होती, ज्ञान तो प्रतिक्षण नया है, वह कभी पुराना नहीं पड़ता। संसार में जो व्यक्ति निरन्तर ज्ञानार्जन करने में रत रहते हैं उन्हें आचार्य अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी कहते हैं अर्थात् जीवादि पदार्थरूप स्व-तत्त्व विषयक सम्यग्ज्ञान में रातदिन लगे रहना। अभीक्ष्ण का अर्थ है निरन्तर तथा बार-बार और ज्ञानोपयोग से समास-भेद से दो अर्थ हैं; ज्ञान का उपयोग अथवा ज्ञानपूर्वक आत्मा का उपयोग। ज्ञान-चेतना और दर्शन-चेतना जीव का लक्षण है। दर्शन के साथ ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है; दर्शन-ज्ञान के अनुसार उपयोग अर्थात् योग का सामीप्य चारित्र्य-पालन होता है। इस प्रकार ज्ञानोपयोग शब्द सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र का प्रतिपादक है। जैसे मकान की देहली पर रखा हुआ दीपक प्रकोष्ठ के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश करता है वैसे ज्ञानोपयोग शब्द दर्शन और चारित्र का समाहार करता है। फलितार्थ यह हुआ कि दर्शन-ज्ञान चेतनायुक्त जीव (आत्मा) निरन्तर अपने चारित्रात्मक उपयोग में लगा रहे। अतः मानवों को ज्ञान की आराधना करके कामभाव का परित्याग करना चाहिए।

८. कामशमन का उपाय ।

नियमं प्रशमं याति, कामदाहः सुदारुणः ।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्या-द्विषं मंत्रपदैर्यथा ॥११३॥

अर्थ :- जैसे मंत्रों के पदों के प्रभाव से सर्प का विष उतर जाता है वैसे ही अतितीव्र काम की दाह भी अपने आत्मज्ञान के बल से नियम से शान्त हो जाती है।

विशेषार्थ :- काम की दाह कितनी भी तीव्र क्यों न हो उसको मिटाने का नियम से यही उपाय है कि तत्त्वज्ञान के साथ आत्मतत्त्व का अभ्यास किया जावे। मोक्ष का तथा मोक्ष के सुखों का अथवा काम की असारता का बार-बार विचार किया जावे। ज्ञान में बड़ी शक्ति है। ज्ञान से क्षणमात्र में भाव पलट सकते हैं, शास्त्रों का अभ्यास भो काम की दाह को मिटा देता है।

देखो ! संसार में देखा जाता है कि जिनके पास कुछ भी नहीं है उन्हें चोर आदि का कुछ भी भय नहीं रहता; वे रात्रि में निश्चिन्त होकर सो जाते हैं; परन्तु जिनके पास धन-सम्पत्ति आदि होती है वे सदा भयभीत रहते हैं; उन्हें चोर-डाकू आदि से अपनी रक्षा करनी पड़ती है, इसलिए वे रात्रि में सावधान रहते हैं वे निश्चिन्तता से नहीं सोते। इसी प्रकार जो प्राणी विषयों के दास बने हुए हैं उनके पास तो वहुमूल्य सम्पत्ति (सम्यग्दर्शनादि) कुछ भी नहीं है। इसलिए वे चाहे सावधान रहें चाहे असावधान, दोनों ही अवस्थायें उनके लिए समान हैं; परन्तु जिनके पास सम्यग्दर्शनादिरूप अमूल्य संपत्ति है तथा जिसे चुराने के लिए चारों ओर इन्द्रियरूप चोर भी घूम रहे हैं उन्हें तो अपनी रक्षा करने के लिए सदा ही सावधान रहना चाहिए। कारण यह है कि यदि उन्होंने इस विषय में थोड़ी सी भी असावधानी की तो परिश्रम से प्राप्त की गई उनकी यह सम्पत्ति उक्त चोरों के द्वारा अवश्य लूट ली जाएगी। इसलिए यहाँ ऐसे ही साधुजनों को लक्ष्य करके यह

प्रेरणा की गई है कि वे सदा सावधान रहकर अपने रत्नत्रय धर्म की रक्षा करें। अतः प्राणियों को सांसारिक प्रपंचों से बचकर आत्मज्ञान को बढ़ाना चाहिए, इसीसे काम आदि की तीव्रता मिट सकती है। आत्मज्ञान से ही मानव अपने स्वरूप को पहचानते हुए पर पदार्थों से विमुख हो सकते हैं। जिस समय व्यक्ति पर-वस्तुओं से अपनी परिणति हटा लेते हैं उसी क्षण निज आत्म-तत्त्व में प्रतीति होने लगती है। समय रहते अपने विचारों को विशुद्ध बनाने की चेष्टा करनी चाहिए अन्यथा समय निकलने पर पश्चात्ताप ही शेष रहेगा।

असेवनमनंगस्य, शमाय परमं स्मृतम्।
सेवनाच्च परा वृद्धिः, शमस्तु न कदाचन ॥११४॥

अर्थ :– वास्तव में काम का न सेवना कामभाव की शान्ति का उपाय कहा गया है क्योंकि काम-सेवन से कामभाव की लगातार बढ़ती होती जाती है, परन्तु कभी भी उसकी शान्ति नहीं होती है।

विशेषार्थ :– जैसे कहीं पर आग जलती हो, उसमें यदि तेल, घी, लकड़ी आदि इंधन न डाला जाय तो वह आग थोड़ी देर में बुझ जाएगी; परन्तु यदि कोई आग को बुझाने के लिए उसमें इंधन आदि डालेगा तो वह आग और अधिक प्रज्वलित हो जाएगी। इसी तरह कर्मोदय से उठी काम की दाह अपने आप थोड़ी देर में बुझ जाएगी; परन्तु काम के सेवन करने से तो लगातार बढ़ती ही जाएगी, कभी शान्त नहीं हो सकेगी। अतएव कामकी वेदना को ज्ञान-वैराग्य की भावना से मिटाना योग्य है, परन्तु स्त्रीसेवनादि उपाय करना और अधिक कामरोग को बढ़ा लेना है।

संसारावस्था में अशुद्ध परिणमन होने के कारण प्रायः जीवों की अशुभरूप ही प्रवृत्ति होती है। जो प्राणी भेद-ज्ञान के बल से विवेक उत्पन्न कर लेते हैं उनकी दृष्टि समीचीन बन जाती है, वे संसार के पदार्थों को क्षणविध्वंसी देखते हैं क्योंकि उन्हें आत्मा, शरीर तथा कुटुम्बियों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाता है; संसार के भौतिक

पदार्थों का प्रलोभन उन्हें अपनी ओर नहीं खींचने पाता है। इस विषय में आचार्यों ने कितना सुन्दर सम्बोधन करते हुए कहा है—

अर्था: पादरजः समा गिरिनदी, वेगोपमं यौवनम् ।
मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं, फेनोपमं जीवितम् ॥
भोगा: स्वप्नसमास्तृणाग्नि सदृशं, पुत्रेष्टभार्यादिकं ।
सर्वञ्च क्षणिकं न शाश्वतमहो, त्यक्तञ्च तस्मान्मया ॥

अर्थात्– धन, पैर की धूलि के समान; यौवन, पर्वत से गिरने वाली नदी के वेग के समान; मनुष्यता, जल की बूंद के समान चंचल और जीवन फेन के समान अस्थिर है। भोग स्वप्न के समान निस्सार और पुत्र एवं प्रिय स्त्री आदि तृणाग्नि के समान क्षण नश्वर हैं। अतः इनका यथाशक्ति त्याग करके आत्मकल्याण करने की ओर प्रवृत्ति करना चाहिए। वास्तव में, पाँचों इन्द्रियों के विषयभोगों को तथा कामवासना की शान्ति के लिए सांसारिक वस्तुओं को पर समझकर छोड़ना चाहिए। जब तक इन पर-वस्तुओं में ममत्व बुद्धि रहेगी तब तक आत्मस्वरूप का भान होना मुश्किल ही है।

उपवासोऽवमौदर्यं, रसानां त्यजनं तथा ।
अस्नानसेवनं चैव, ताम्बूलस्य च वर्जनम् ॥११५॥

असेवेच्छानिरोधस्तु, निरनुस्मरणं तथा ।
एते हि निर्जरोपाया, मदनस्य महारिपोः ॥११६॥

अर्थ :– खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकार का आहार छोड़कर उपवास करना; भरपेट न खाकर कम खाना; दूध, दही, घी, मीठा, तेल, नमक इन छह रसों का या इनमें से कुछ रसों का त्याग करना और स्वाद की कामना रहित भोजन करना तथा स्नान विलेपनादि नहीं करना, पान आदि का नहीं खाना, काम-भावपूर्वक स्त्रियों की सेवा नहीं करना, अपनी बढ़ती हुई इच्छाओं को रोकना और कामसेवन को बार-बार याद न करना। इन्हीं उपायों से कामभावना का शमन होता है। ये ही काम के शत्रु हैं और निर्जरा के उपाय हैं।

विशेषार्थ :– कामभाव के जाग्रत होने के लिए बाह्य और अन्तरंग दोनों कारण हैं, बाह्य कारण ही अधिकतर अन्तरंग कारण को जाग्रत कर देते हैं। कामवेद कषाय की उदीरणा से होता है। काम की तीव्रता तब ही होती है, जब बाह्य निमित्त मिलाया जाए और शरीर को ऐसा भोजन-पान कराया जाए जिससे काम की वासना प्रबल हो जावे। अतएव इस कामभावना को आत्मा का भयंकर शत्रु समझकर इसके जीतने के लिए नीचे लिखे उपाय किए जाने चाहिए—

(१) उपवास– एक माह में कम से कम चार उपवास करना तथा धर्मध्यान में समय लगाना, उपवास से इन्द्रियमद मिट जाता है, शरीर का विकार शान्त हो जाता है; समय-समय पर और भी उपवास करते रहना चाहिए तब यह कामदेव स्वयं शान्त हो जाएगा। (२) ऊनोदर– पेटभर नहीं खाना किन्तु भूख से कुछ कम खाना; अल्प भोजन से भी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। (३) रसपरित्याग—रसों को छोड़ते रहना व जबान के चटोरेपन को जीतना, मिष्ट व कामोद्दीपक भोजन व रस न खाना। (४) तेल, उबटन, चंदन, सुगंधादि लगाकर व मल-मलकर स्नान न करना। स्नान तथा शरीर के सजाने से भी काम का राग बढ़ता है। (५) ताम्बूल कामभाव को जगाने वाला है, इसलिए पान आदि न खाना। (६) स्त्री-संभोग का निमित्त बचाकर स्त्री-सेवन न करना (७) अपनी इच्छाओं को उनके मनन से रोकना (८) पिछले भोगों को याद नहीं करना, इत्यादि और भी बाहरी साधनों से बचना, जैसे– एकान्त में स्त्री के साथ नहीं बैठना, उठना, हास्य वार्त्तालाप आदि नहीं करना, सादगी से अपने शरीर को रखना तथा समय का विभाग करके किसी न किसी उपयोगी काम में लगे रहना, इत्यादि उपायों से काम का वेग जीत लिया जाता है।

कामभावना मन का विकार है। मन के विकार पर काबू पाने के लिए आचार्यों ने उपर्युक्त साधन बताये हैं परन्तु आज विषयभोगों में रत रहने वाले भाई कहते हैं कि यह सब व्यवहार है; निश्चय में तो आत्मा शुद्ध है इसलिए शुद्ध आत्मा का ध्यान करो, इन प्रपंचों में क्या

रखा है तथा सब बातों को छोड़कर मात्र आत्मज्ञान करो, सो ठीक है, परन्तु उन्हें सोचना चाहिए कि ज्ञान के गुण गाते हुए उन्होंने कितना वैराग्य प्राप्त किया और कितना निश्चयचारित्र धारण किया। वे भाई भूल कर रहे हैं, आचार्यों ने ज्ञान का फल वैराग्य बताया है अन्यथा ज्ञान ज्ञान नहीं ज्ञानाभास है; सच तो यह है कि ज्ञान प्राप्त होने पर क्या मानव पर-वस्तुओं को अपना सकता है? अर्थात् नहीं। जिनके सम्यग्ज्ञान प्रकट हो चुका है वे सम्यक् चारित्र में नियम से विश्वास करते हैं, परन्तु कोरे ज्ञान की आड़ में लोग सप्त-व्यसन तक सेवन करते देखे जाते हैं, निरन्तर परिग्रह की वांछा में अन्याय-अत्याचाररूप प्रवृत्ति करते हैं, यह सब आत्मवञ्चना है।

ज्ञानवान प्राणी तो अनादिकाल से अपने बांधे हुए कर्मों को काटने के लिए उद्यम करता है, न कि अपने को शुद्ध मानकर विषय-भोगों में रत रहता है। ज्ञानी आत्मा हर समय संसार, शरीर और भोगों से उदास रहता है; वह संसार बन्धन से निकलने के लिए वैराग्य सहित संयम धारता हुआ आत्मस्वरूप में मग्न रहता है। ज्ञानीजनों की ज्ञान-पिपासा कभी शान्त नहीं होती, ज्ञान तो प्रतिक्षण नूतन है, वह कभी जीर्ण या पुराना नहीं पड़ता। स्वाध्याय, चिन्तन, तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपायों से ज्ञान-निधि को प्राप्त किया जाता है; जो व्यक्ति चिन्तन करते रहते हैं, स्वाध्याय की सुधा का निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं, संयम पर सुमेरु के समान अचल-स्थिर रहते हैं, वे ही सचमुच में ज्ञान-प्रसाद के अधिकारी होते हैं। ज्ञानवान जिस विषय का स्पर्श करता है, वह उसे अपनी गाथा स्वयं गाकर सुना देता है। जैसे– दर्पण में विम्ब दिखता है वैसे उसकी आत्मा में सब कुछ झलकने लगता है। ज्ञान के पथिकों का मार्गदर्शन स्वयं भगवती सरस्वती करती है। इसके विषय में कहाँ तक कहें! यथार्थ में ज्ञानी आत्मा हर समय पाप कामों से वचता है और पुण्याचरण में तत्पर रहता है, परन्तु पुण्याचरण में विश्वास न करने वाले अपने को ज्ञानी वताकर हँसी के पात्र वनते हैं। अतः आत्महित के लिए अन्तरंग और वहिरंग परिग्रहों को छोड़ने की

भावना करनी चाहिए। बिना बहिरंग परिग्रह छोड़े भला अन्तरंग परिग्रह कैसे छूट सकता है ? अभिप्राय यह है कि वस्तु-तत्त्व को भली प्रकार समझो और तदनुसार करो; एकान्त बात पकड़ने से कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए अपनी शक्ति को न छिपाते हुए प्राणियों को आत्महित में प्रयत्न करना आवश्यक है।

काममिच्छानिरोधेन, क्रोधं च क्षमया भृशं।
जयेन्मानं मृदुत्वेन, मोहं संज्ञानसेवया ॥११७॥

अर्थ :– प्राणियों को अपनी इच्छाओं को रोककर कामभाव को जीतना चाहिए। क्षमा भाव से क्रोध को, मार्दव भाव से मान को तथा सम्यग्ज्ञान की सेवा से मोह को जीतना चाहिए।

विशेषार्थ :– जब कामभाव की तथा कामसेवन की भावना पैदा हो तो उस समय मानवों को अपनी इच्छाओं को उसी तरह रोकना चाहिए जैसे खिड़की को बंद करके पवन के वेग को रोकते हैं। उस समय विचार करें कि यह काम आत्मा का शत्रु है, यदि इसके वश हो जाऊँगा तो सर्वस्व गँवा बैठूंगा। जब कभी क्रोध आजावे या आने का निमित्त बने, तब सहनशीलतापूर्वक क्षमाभाव से उसे जीते। जब कोई अपना बुरा करता है प्राय: तब ही क्रोध आता है, उस समय सोचो कि अपना बुरा या तो वह करेगा जिसको हमने पहले कुछ हानि पहुंचाई है, अथवा कोई मूर्ख करेगा, यथार्थ में दोनों ही क्षमा के पात्र हैं; पहली दशा में हम हमारे कृत्य का फल भोग रहे हैं तथा दूसरी दशा में अज्ञानी पर ज्ञानियों को क्षमा करनी ही चाहिए। जब धन, अधिकार, विद्या आदि का मानभाव आवे तब इन सबको क्षणभंगुर जानकर मान नहीं करना चाहिए तथा विनयगुण को पालते हुए सबके साथ कोमलता से बर्ताव करना चाहिए। संसारी पदार्थों से ज्यादा ममत्व न करके शास्त्रों के द्वारा तत्त्वों पर विचार करना चाहिए। संसार के अनित्य स्वभाव का व मुक्ति के नित्य स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए। इन उपायों

से कामभाव, क्रोधभाव मानभाव तथा मोह को उद्यम करके अच्छी तरह जीतना चाहिए; संसार में जो प्राणी इन पर विजय प्राप्त करते हैं उन्हीं का जीवन धन्य है।

संसार में मोह के वश होकर कामीजन विषयान्ध होकर इच्छापूर्ति के लिए स्त्री आदि की खोज करते हैं और उन्हें प्राप्त करके वे उनमें इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर उनको अपने हिताहित का विवेक ही नहीं रहता। इस प्रकार वे अपने दोनों ही लोकों का नाश करते हैं। अतः मोक्षार्थीजनों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी इच्छा को रोककर कामभावों पर रोक लगावें, क्षमाभाव जो अपना निजी भाव है उसे अपनाते हुए क्रोध पर विजय प्राप्त करें, सरलता को धारण करके मानकषाय को पराजित करें तथा मोहरूपी महान् योद्धा को मारने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तलवार से वार करें। यह सम्यग्ज्ञान बड़ा उद्भट शस्त्र है, जिसके आगे कोई भी कर्मशत्रु नहीं ठहर सकता; समय रहते प्रमाद छोड़कर आत्महित में जुट जाओ वरना संसार अनन्त है।

तस्मिन्नुपशमे प्राप्ते, युक्तं सद्वृत्तधारणं।
तृष्णां सुदूरतस्त्यक्त्वा, विषान्नमिव भोजनं ॥११८॥

अर्थ :– कामभाव के शान्त हो जाने पर सम्यक्चारित्र धारण करना चाहिए जैसे– विष से मिले भोजन को छोड़ दिया जाता है, वैसे तृष्णा को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

विशेषार्थ :– जब तक कामसेवन की इच्छा शान्त न हो तब तक गृहस्थ में स्वस्त्री सहित रहकर एकदेश ब्रह्मचर्य पालना चाहिए। जब अभ्यास व ज्ञान के बल से काम की इच्छा शान्त हो जावे तब पूर्ण ब्रह्मचर्य अर्थात् साधु का चारित्र धारण करना चाहिए। फिर उस समय इन्द्रियों के विषयों की चाह को उसी तरह ग्लानिसहित त्याग दे जिस तरह विष से मिश्रित भोजन को प्राणघातक समझकर त्याग दिया जाता है। ज्ञानी संत पुरुष विषयों की तृष्णा को विष से भी अधिक भयंकर

समझते हैं तथा उन पर भली प्रकार विजय प्राप्त करते हैं। आत्मरस में तृष्णा के शमन करने की शक्ति है।

संसार में प्राणियों के सम्यक्श्रद्धा होने से वस्तुस्वरूप का भान होता है। मनोविज्ञान भी बतलाता है कि मानव की अनन्त शक्तियों में श्रद्धा या संकल्प की शक्ति प्रधान है। जब तक किसी कार्य का विश्वास या संकल्प नहीं होता तब तक उसमें सफलता नहीं मिल सकती है। वास्तव में, कोई भी लौकिक या पारलौकिक कार्य श्रद्धा या विश्वास के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता है; आत्मकल्याण के लिए सहायक सम्यक्-श्रद्धा या सम्यक् विश्वास है। आचार्यों ने इसी का नाम सम्यग्दर्शन बताया है। यह आत्मा स्वभाव से ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्दमय एवं अनन्त शक्तियों से युक्त है, इसका इसीरूप में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है, इसके विपरीत आत्मा के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास न करके अतत्त्वरूप श्रद्धा करना मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन के प्रभाव से जीव को स्व-पर विवेक नहीं रहता है, तभी तो यह जीव जड़ शरीर को अपना मान लेता है तथा स्त्री, पुत्र, धन, धान्य में मोह के कारण लिप्त हो जाता है, फिर उन्हें अपना मानकर उनके सद्भाव और अभाव में हर्ष-विषाद करता है। इसी मिथ्यादर्शन के निमित्त से वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होना मिथ्याज्ञान है। कषाय और असंयम के कारण संसार में भ्रमण कराने वाला आचरण करना मिथ्याचारित्र है। अतः आचार्यों ने बताया है कि भाई! तुझे इस मनुष्य-पर्याय में जो निज और पर का भेदज्ञान हुआ है तथा कामभाव शमन हुआ है तो तेरा कर्त्तव्य है कि समीचीन श्रद्धा तथा ज्ञान के बल से सम्यक्चारित्र धारण कर ले अन्यथा यह मनुष्य-पर्याय पूरी होने पर ज्ञान का ऐसा क्षयोपशम होना कठिन है।

कर्मणां शोधनं श्रेष्ठं, ब्रह्मचर्यं सुरक्षितं।
सारभूतं चरित्रस्य, देवैरपि सुपूजितम् ॥११६॥

अर्थः— कर्मों का क्षय करने वाले साधुओं के चारित्र का सार तथा

देवों से भी आदरणीय ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्यव्रत की भले प्रकार रक्षा करनी चाहिए।

विशेषार्थ :– ब्रह्मचर्यव्रत निश्चय से ब्रह्मस्वरूप अपनी आत्मा में चर्या करना है अर्थात् निज आत्मा का अनुभव है। इसी के निमित्त कारण कामभाव को त्यागकर बाहरी वीर्य की रक्षारूप ही ब्रह्मचर्य है। उसी के कारण देवगण भी साधुओं के चरणों को नमस्कार करते हैं। इसी ब्रह्मचर्य से वीतरागता के प्रभाव से कर्मों की निर्जरा होती है, ऐसा जानकर बाहरी तथा भीतरी दोनों ही प्रकार के ब्रह्मचर्य को भले प्रकार पालना चाहिए।

तत्त्वज्ञपुरुषों ने संसार के मोही प्राणियों को सम्बोधते हुए कहा है कि हे भव्यजीवो ! लोक में देखा जाता है कि प्राणी प्रगाढ़ निद्रा में भी यदि सो रहा है तो भी वह मधुमक्खियों के काट लेने से या निकटवर्ती अग्नि की ज्वालाओं से अथवा मृतक के आगे बजने वाले गम्भीर बाजों के शब्दों से अवश्य जाग उठता है परन्तु खेद है कि यह अज्ञानी प्राणी उन मधुमक्खियों के समान कष्टदायक, पाप कर्मों से ग्रसित, अग्नि के समान सन्ताप देनेवाले अनेक प्रकार के दुःखों से व्याप्त तथा बाजों के साथ ले जाते हुए मृतक को देखकर शरीर की अनित्यता को जानता हुआ भी दुःखदायक अज्ञानरूपी निद्रा को नहीं छोड़ता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मोहनिद्रा प्राकृत निद्रा से भी प्रबल है। यही कारण है कि स्वाभाविक निद्रा तो प्राणी की थकावट को दूर करके उसे कुछ शान्ति भी प्रदान करती है परन्तु यह मोहनिद्रा उसे विषयतृष्णावश उत्तरोत्तर किए जाने वाले परिश्रम से पीड़ित ही करती है।

आचार्य फिर कहते हैं कि हे आत्मन् ! इस जन्म-मरणरूप संसार में तेरा शरीर के साथ तादात्म्य है अर्थात् तू उत्तरोत्तर धारण किए जाने वाले शरीरों के भीतर स्थित होकर सदा उनके आधीन रहता है, तू निरन्तर पापकर्म के फलस्वरूप दुःखों का अनुभव करता है, प्रत्येक समय में जो तेरा ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों से स्वयं बन्धन (सम्बन्ध) होता है वही तेरा व्यापार है, निद्रा जो है वही तेरा विश्राम है; तथा

मरण से तुझे सदा भय रहता है परन्तु वह निश्चय से आता अवश्य है। फिर आश्चर्य यही है कि ऐसी दुःखमय अवस्था के होने पर भी तू उसी संसार में पुनः पुनः रहना चाहता है। अतः हे भाई! अब तुझे पर-वस्तुओं से ममत्व हटाकर आत्महित में रुचि रखनी चाहिए। इस मनुष्य पर्याय में आकर भी यदि धर्म के मर्म को नहीं समझा तो दुःखी ही होगा।

९. स्त्रियों का स्वरूप

या चैषा प्रमदा भाति, लावण्यजलवाहिनी।
सैषा वैतरणी घोरा, दुःखोर्मिशतसंकुला ॥१२०॥

अर्थ :– जो यह जवान स्त्री सुन्दरतारूपी जल से भरी हुई नदी के समान मालूम होती है, यही वह स्त्री हजारों दुःखरूपी तरंगों से भरी हुई भयानक नरक की वैतरणी नदी के समान है।

विशेषार्थ :– शरीर से सुन्दर और अत्यन्त रूपवती स्त्री को देख-कर रागी प्राणियों का मन मोहित हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि वह स्त्री नहीं है परन्तु नरक की घोर भयंकर वैतरणी नदी है। यह उपमा पुरुष की अपेक्षा से दी है, अपनी अपेक्षा से स्त्री व पुरुष का रूप अपने-अपने बाँधे हुए नामकर्म के उदय से सुन्दर वा असुन्दर होता है; परन्तु मोही प्राणी जब सुन्दर स्त्री में मोहित हो जाता है तब जैसे वैतरणी नदी में नहाने से दाह मिटने की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है, वैसे स्त्री के मोह में फंसने से कामदाह बढ़ जाती है। जब व्यक्ति स्त्री-संभोग करता है तो और अधिक कामदाह को बढ़ा लेता है। जितना-जितना वैतरणी नदी तुल्य स्त्रीसुख में डूबता जाता है उतना-उतना कामदाह अधिक होता जाता है और यह प्राणी इस स्त्री के मोह के कारण मोक्षमार्ग नहीं साध पाता है।

आचार्यों ने स्त्री-स्वभाव का वर्णन करते हुए बताया है कि स्त्रियाँ

सर्प से भी बढ़कर भयानक होती हैं। इसका हेतु यह दिया है कि सर्प तो क्रुद्ध होकर किसी विशेष समय में ही काटता है तथा विष की विनाशक औषधियाँ भी बहुत पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त उसके काट लेने पर एकमात्र इसी जन्म में कष्ट होता है परन्तु स्त्रियाँ क्रोध और प्रसन्नता दोनों ही अवस्था में काटती हैं, प्राणियों को संतप्त करती हैं तथा उनके विष की विनाशक कोई औषधि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके काटने पर इस लोक और परलोक दोनों में ही प्राणियों को संताप होता है। इस प्रकार स्त्रियों को सर्प के समान बतला कर उन्हें स्वभावत: कुटिल, कटाक्षरूप विषाग्नि की ज्वाला से संयुक्त और विलासरूप फण को धारण करने वाली कहा है। साथ में यह भी बतलाया है कि सर्प के द्वारा काटे गये प्राणी की औषधियों के द्वारा चिकित्सा भी की जा सकती है परन्तु चतुर स्त्रीरूप सर्प के काटे गए प्राणी को असाध्य समझकर मान्त्रिक जन भी छोड़ देते हैं। इसलिए आत्महितैषियों को उक्त स्त्रीरूप सर्प से दूर रहना चाहिए क्योंकि आत्महित करने वालों के लिए स्त्रियाँ भयानक सर्प तुल्य हैं; बिना स्त्री-प्रसंग छोड़े मोक्ष तक पहुंचना अति कठिन है।

संसारस्य च बीजानि दुःखानां राशयः पराः।
पापस्य च निधानानि, निर्मिता केन योषितः ॥१२१॥

अर्थ :–संसार को बढ़ाने के लिए बीज के समान, दुःखों से भरी हुई गंभीर खान के समान तथा पापरूपी मैल के निधान, भंडार के समान इन स्त्रियों को किसने बनाया है ?

विशेषार्थ :– यहाँ भी स्त्रियों का स्वरूप मोही पुरुष की अपेक्षा से बताया गया है। जो प्राणी स्त्रियों के मोह में फँस जाता है उसका संसार बढ़ जाता है, उसे मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता है। उसे इष्टवियोग और शारीरिक रोग, निर्बलता आदि के बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं तथा उसके राग, मोह और कामभावों से निरन्तर पापों का बन्ध होता है। अतएव ज्ञानी जीवों को स्त्रियों से मोह नहीं करना चाहिए।

शास्त्रकारों ने स्त्रियों को सरोवर के समान निर्दिष्ट करके उन्हें हास्य से निर्मल एवं तरंगों के समान अस्थिर सुख को उत्पन्न करने वाले जल से परिपूर्ण तथा मुखरूप कमलों से बाह्य में रमणीय बतलाया है। साथ में यह भी सूचना कर दी है कि वहाँ पानी पीने की इच्छा करने वाले बहुत से अज्ञानीजन किनारे पर भयानक विषयोंरूप मगरमत्स्यों के ग्रास बनकर नष्ट हो चुके हैं और वहाँ से नहीं निकले हैं। पूज्य श्री गुणभद्राचार्य ने अपने 'आत्मानुशासन' में कहा है—

उन्मीलित्त्रिवलीतरंगनिलया, प्रोत्तुङ्गपीनस्तन-
द्वन्द्वेनोद्गतचक्रवाकयुगला, वक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः, क्रूरात्र नापेक्ष्यते-
संसारार्णवमज्जनं यदि तदा, दूरेण संत्यज्यताम्॥

अर्थात्– स्त्री के आकार को धारण करने वाली यह क्रूर नदी उत्पन्न होने वाली त्रिवलीरूप तरंगों से सहित, स्तनोंरूप चक्रवाक पक्षियुगल से संयुक्त और मुखरूप कमल से शोभायमान है। इसलिए यदि संसाररूप समुद्र में निमग्न होने की इच्छा नहीं है तो उसे दूर से ही छोड़ देना चाहिए। आचार्यों ने इस बात का बड़ा आश्चर्य प्रकट किया है कि मानव इतना विवेकवान होते हुए भी स्त्रीरूपी जाल में क्यों फँस जाता है, जैसे आटे की तनिक गोली के प्रलोभन में आकर मछलियां धीवर के जाल में फंस जाती हैं और अपने प्राण खो बैठती हैं। ठीक उसी प्रकार मानव भी तनिक कामवासना के कारण स्त्रीरूपी धीवर के जाल में फंस जाता है और इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी शारीरिक और मानसिक यातनाओं को भोगता है अर्थात् अपने संसार को अनन्त बना लेता है।

इयं सा मदनज्वाला, वह्नेरिव समुद्गता।
मनुष्यैर्यत्र हूयंते, यौवनानि धनानि च ॥१२२॥

अर्थ :– संसार में जो यह काम का दाह है सो अग्नि के समान बढ़ जाता है, इस काम की आग में मानवों का यौवन और धन होमे जाते हैं अर्थात् जला दिये जाते हैं।

विशेषार्थ :– स्त्रियों के मोह में अन्धा हुआ प्राणी काम की ऐसी अग्नि जला लेता है जिसकी पीड़ा से आकुलित होकर वह वेश्या और परस्त्री में आसक्त होकर अपने शरीर का यौवन नष्ट करके वृद्ध के समान अत्यन्त निर्बल हो जाता है और धन का नाश करके निर्धन हो जाता है। कामी मानव अपना सर्वस्व खोकर दीन-हीन जीवन बिताता हुआ अन्तमें दुर्गति में चला जाता है। कामीजन अपना पतन कर लेते हैं। अहो! कामदेव की महिमा आश्चर्यकारक है। यह काम महान् विद्वानों को भी विडम्बित कर देता है, जैसा कि कहा है—

विकलयति कलाकुशलं, हसति शुचिं, पण्डितं विडम्बयति।
अधरमति धीरपुरुषं, क्षणेन मकरध्वजो देवः॥

देखो! यह कामदेव, कलाकुशल मनुष्य को क्षणभर में विकल कर देता है, पवित्र मनुष्य की हँसी उड़ाता है, विद्वान की विडम्बना करता है और धीर वीर पुरुष को भी नीचा कर देता है। आश्चर्य है कि मानव इस काम के वेग में पागल होकर वेश्यासेवन करने लगता है जिससे अपने धन-वैभव व शरीर आदि की हानि कर लेता है। कैसी है वेश्या? जो मनुष्य पर्यायरूपी नौका को डुबाने वाली है इस विषय में आचार्यों ने अच्छा प्रकाश डालते हुए बतलाया है—

"नटविटभटभुक्तां सत्यशौचादिमुक्तां,
कपटशतनिधानं, शिष्टनिन्दानिदानम्।
परिभवपदमेकं कः पण्यस्त्री भजेत,
धननिधनविधानं सद्गुणानां पिधानम्॥"

अर्थात्—जो नट, विट और भटों के द्वारा भोगी गई है, सत्य, शौच आदि गुणों से रहित है, कपट की भण्डार है, शिष्टजनों की निन्दा का प्रमुख कारण है, अनादर का अद्वितीय स्थान है तथा धन का नाश करने वाली है और सद्गुणों को छिपाने वाली है ऐसी वेश्या का सेवन कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं, और भी समझाते हुए कहा है—

रजकशिलासदृशीभिः, कुक्कुरकर्प्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः॥

अर्थात्–धोबी की शिला के समान अथवा कुत्ते के कर्प्पर के समान चरित-वाली वेश्याओं के साथ यदि संगम है तो संसार में परलोक की वार्त्ता करना व्यर्थ है। अतः मानवों को काम-दाह से बचने का उपाय करना उचित है।

नरकावर्तपातिन्यः, स्वर्गमार्गदृढार्गलाः ।
अनर्थानां विधायिन्यो, योषितः केन निर्मिताः ॥१२३॥

अर्थ :– नरक के गड्ढे में गिराने वाली, स्वर्ग के मार्ग में चलने के लिए रोकने की मजबूत अर्गला, अनेक आपत्तियों को कराने वाली ऐसी स्त्रियों को किसने बनाया है ?

विशेषार्थ :– पुरुषों का स्त्रियों के मोह में पड़ने से क्या बिगड़ता है इसी अपेक्षा से यहाँ कथन है कि स्त्रियों के मोह में अन्धे होकर जो अन्याय करते हैं वे नरक में जाते हैं। उनसे ऐसे शुभ काम भी नहीं बनते जिनसे वे पुण्य बाँधकर स्वर्ग जा सकें तथा और भी अनेक प्रकार के कष्टों को वे स्त्रियों के मोह के कारण भोगते रहते हैं, अतः स्त्रियों का मोह जीवन में कष्ट प्रदान करने वाला है।

आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! जो संसार, स्मरण मात्र से भी संताप उत्पन्न करने वाला है, उसके भीतर नरकादि दुर्गतियों में पड़कर तू ने जिन दुःखों को सहन किया है, वे तो परोक्ष दुःख थे, परन्तु इसी जन्म में जो तूने गर्भवास में तथा बालपने में दुःख सहन किए थे उनको आज तू कैसे भूल गया, भला उनका तो स्मरण कर। अभिप्राय यह है कि संसारी प्राणी अपनी मोहबुद्धि से पागल सा हो रहा है और विषय-भोगों में रुचि करता हुआ अत्यन्त दुःखी हो रहा है; जो प्राणी आत्म-हित को भूलकर सदा विषयभोगों में ही लिप्त रहते हैं उन्हें दोनों ही लोकों में दुःख भोगना पड़ता है। इस लोक में उन्हें इसलिए दुःख भोगना पड़ता है कि वे जिन सुन्दर स्त्रियों के मन्द हास्य एवं कटाक्षपात आदि के द्वारा काम से पीड़ित होने पर उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं, वे

धन आदि की न्यूनता होने से उन्हें प्राप्त नहीं होती है फिर भी वे यों ही संतप्त होकर निरन्तर निष्फल प्रयत्न करते रहते हैं; इसके अतिरिक्त उस विषय-तृष्णा से जो पाप का बन्ध होता है, उसके उदय आने पर नरकादि दुर्गतियों में जाकर परलोक में भी वे दुःसह दुःखों को सहते हैं। आचार्य उन मोही प्राणियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे भाई ! तू मृत्यु के द्वारा फ़ैलाये गए मुख में स्थित है अर्थात् मरणोन्मुख है तथा जरा (बुढ़ापा) का ग्रास बनने वाला है, फिर भी हे अज्ञानी प्राणी ! यह समझ में नहीं आता है कि तू उन्मत्त होकर अपने ही हित का शत्रु (घातक) होता हुआ उन अहितकारक विषयों की अभिलाषा क्यों कर रहा है ? क्या तुझे नरकादि दुर्गतियों का तनिक भी डर नहीं है ? अतः अब तुझे समय रहते इन विषयों से विरक्त होना ही अच्छा है।

कृमिजालशताकीर्णे, दुर्गन्धमलपूरिते ।
त्वङ्मात्र संवृते स्त्रीणां, का काये रमणीयता ॥१२४॥

अर्थ :- हजारों कीड़ों के समूह से भरी हुई दुर्गन्ध और मल से परिपूर्ण मात्र चमड़े से ढकी हुई स्त्रियों के शरीर में क्या सुन्दरता है ?

विशेषार्थ :- अज्ञानी प्राणी स्त्रियों के रूप पर मुग्ध होकर बावला सा हो जाता है इसलिए आचार्य कहते हैं कि स्त्रियों का शरीर ऊपर चमड़ी से ढका हुआ सुन्दर लगता है। परन्तु भीतर में यह शरीर लाखों कीड़ों से तथा मलमूत्र पीप आदि से भरा हुआ है तथा दुर्गन्धमय है जिसको देखने मात्र से घृणा हो जाती है, ऐसे शरीर में न तो कोई सुन्दरता है और न वह सेवने योग्य ही है। अतएव उसमें राग-भाव नहीं करना चाहिए। स्त्री का राग ही उभयलोक में दुःख का कारण है।

आचार्यों ने कामाग्नि को अग्नि से भी बड़ी भयानक बताया है; जिस प्रकार अग्नि प्राणी को संतप्त करती है, उसी प्रकार मोह भी राग-द्वेष उत्पन्न करके प्राणी को संतप्त करता है। इसीलिए मोह को भी अग्नि की उपमा दी जाती है। परन्तु विचार करने पर यह मोहरूप

अग्नि उस स्वाभाविक अग्नि की अपेक्षा भी अतिशय भयानक सिद्ध होती है। कारण यह है कि अग्नि तो जब तक ईंधन मिलता है तब तक प्रदीप्त होकर प्राणी को संतप्त करती है। ईंधन के न होने पर वह स्वयमेव शान्त हो जाती है; परन्तु यह मोहरूपअग्नि ईंधन (विषयभोग) के रहते हुए तो संतप्त करती ही है परन्तु उसके न रहने पर भी संतप्त करती है। अभिप्राय यह है कि जैसे-जैसे अभीष्ट विषय प्राप्त होते जाते हैं वैसे-वैसे ही कामीजनों की यह विषय-तृष्णा उत्तरोत्तर और भी बढ़ती जाती है जिससे कि उन्हें कभी आनन्दजनक संतोष प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत इच्छित विषय-सामग्री के न मिलने पर भी वह दुःखदायक तृष्णा शान्त नहीं हो पाती है। इस तरह यह विषय-तृष्णा उक्त दोनों ही अवस्थाओं में प्राणी को संतप्त किया करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणियों को आत्म-शान्ति पाने के लिए अपवित्र शरीरादि में तथा स्त्रियों के साथ वासना-पूर्ति में तृष्णा मन्द रखनी चाहिए, यदि मानव इन्हें सर्वथा छोड़ने में अपने को असमर्थ पाता है तो कम से कम लालसा मंद रखनी चाहिए। स्त्री-व्यामोह में न फंस-कर आत्मस्वभाव में रति करना श्रेष्ठ है; कामवासनाओं से तृप्ति होनी असम्भव है, हाँ, इनसे विरक्ति होने पर फिर आत्म-तत्त्व में विश्वास होता है।

१०. सुख का साधक— वैराग्य

अहो ते सुखितां प्राप्ता, ये कामानलवर्जिताः।
सद्वृत्तं विधिना पाल्यं, यास्यन्ति पदमुत्तमम् ॥१२५॥

अर्थ :— हे भाई ! जो मानव कामरूपी अग्नि से नहीं जलते हैं वे सुख की दशा को पहुंच गए हैं तथा वे ही विधिपूर्वक सम्यक्चारित्र का पालन करके उत्तम मोक्षपद को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेषार्थ :— संसार में सुख शान्ति तभी मिलती है जब मनुष्य को

संतोष हो व विषयों की इच्छा न हो। वास्तव में, जिन्होंने काम की दाह को शमन कर दिया है तथा ब्रह्मचर्य व्रत को भाव सहित धारण किया है वे ही निराकुल होने से सुखी हैं तथा वे ही मुनि धर्म की क्रिया को शास्त्रानुकूल विधि से पालते हैं। उनके भीतर आत्मानुभव रूप निश्चय चारित्र बढ़ता जाता है अर्थात् वे शीघ्र ही कर्मों का नाश करके मुक्तावस्था को प्राप्त होते हैं।

देखो ! अष्ट कर्मरूपी रज्जू से बाँधी हुई यह आत्मा शरीररूपी कारागृह में पड़कर अनन्त दुःख भोग रही है। इस समय हे आत्मन् ! तुझे अपूर्व साधन प्राप्त हुआ है, यदि तू चाहे तो तत्त्वज्ञानरूपी छैनी से कर्मरूपी शृंखला को काटकर देहरूपी कारागृह से मुक्त हो सकता है। चारों गतियों में मनुष्यगति ही सर्वोत्कृष्ट है। यदि हे आत्मन् ! इस दुर्लभ मानव-पर्याय को प्राप्त करके भी संयम की साधना का प्रयत्न नहीं किया तो इस दुःखमय संसार में शारीरिक और मानसिक दुःखों को भोगते हुए निरन्तर परिभ्रमण ही करते रहोगे। हे आत्मन् ! सोचो, इस अनादिकालीन राग-द्वेषरूपी पिशाच के वशीभूत होकर तुमने इस घोर संसार में परिभ्रमण करते हुए ८४ लाख योनियों में एक भी योनि ऐसी नहीं छोड़ी जहाँ तुमने जन्म न लिया हो। क्या अब भी तुम्हें इस दुःखमय संसार से ग्लानि नहीं होती है ? देखो कर्मों के वशीभूत होकर प्राणी नट के समान विविध रूप बनाकर संसार में भटकते हैं। इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग और आधि-व्याधि संकुलित संसार में भ्रमण करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया है। यदि अब इस मानवपर्याय में भी सचेत होकर आत्म-कल्याण नहीं किया तो इस गहन संसार में रोते-चिल्लाते ही फिरोगे। अतः मोक्षार्थीजनों का कर्त्तव्य है कि वे अपने में ही प्राप्त होने वाले भेद-ज्ञान द्वारा अन्तरदृष्टि खोलकर स्वयं को पहचानें तथा इन्द्रियों का निरोध करने का उद्यम करें। वास्तव में, इन्द्रियदमन एक अद्वितीय शस्त्र है, जिससे मानव राग-द्वेष-मोह रूपी शत्रुओं का नाश कर सकता है। देखो ! इन्द्रिय-दमन एक अद्भुत किला है जिसमें बैठकर मानव अनेक प्रकार के रोग-शोकादि के आक्रमण से बच सकता है।

भोगार्थी य करोत्यज्ञो, निदानं मोहसंगतः ।
चूर्णीकरोत्यसौ रत्नं, अनर्थसूत्रहेतुना ॥१२६॥

अर्थ :– भोगों को चाहने वाला यह अज्ञानी मोह के संयोग से मोही होकर धर्म पालते हुए भी आगामी भोगों की वांछा करता है वह बिना मतलब ही सूत के लिए रत्न को चूर्ण कर डालता है।

विशेषार्थ :– वह मानव मूर्ख है जो सूत के लिए रत्न की माला के रत्नों का चूरा करके फेंक दे और तुच्छ सूत के टुकड़े को प्राप्त करे। इसी प्रकार वे मानव भी मूर्ख हैं जो जिनेन्द्र-कथित धर्म को पालते हुए आगामी भोगों की अभिलाषा करके निदान भाव से अपने रत्नत्रय धर्म का नाश कर लेते हैं। यथार्थ में, ये भोग रोग के समान त्यागने योग्य हैं, आत्मानन्द का भोग ही ग्रहण करने योग्य है। इसी के लिए जिनधर्म का सेवन किया जाता है। विवेकी प्राणी नाशवंत संसारवर्द्धक भोगों की कभी इच्छा नहीं करता है किन्तु मुक्ति के अनुपम सुख की भावना करते हुए जिनधर्म को पालता है, निदान कभी नहीं करता है।

विषय-तृष्णा और अहंकार की भावना मनुष्य को सम्यक् आचरण करने से रोकती है। विषय-तृष्णा की पूर्ति के लिए प्राणी प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी, बेईमानी, हिंसा आदि पाप करता है। मानव अपनी तृष्णा को शान्त करने के लिए स्वयं अशान्त हो जाता है तथा भयंकर से भयंकर पाप कर डालता है। अतः विषय निवृत्तिरूप चारित्र को धारण करना परम आवश्यक है। श्री गुणभद्राचार्य ने तृष्णा के बारे में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

आशागर्तः प्रतिप्राणो, यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।
तत्कियद् कियदायाति, वृथा वै विषयैषिता ॥

अर्थात्– संसार में प्रत्येक प्राणी का आशारूपी गड्ढा इतना विशाल है कि उसके सामने समस्त विश्व का वैभव भी अणु सदृश है। इस स्थिति में यदि संसार की सम्पत्ति का बँटवारा किया जाय तो प्रत्येक प्राणी के हिस्से में क्या और कितना आएगा ? अतः विषय-तृष्णा व्यर्थ है।

प्राणियों को अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को संयमित रखना चाहिए। संसार में तृष्णा के वश होकर मानव दानवता को अपना लेता है अर्थात् इस तृष्णावश आत्महित के कार्यों को भूल जाता है और मानवता के विपरीत बुरे से बुरा कार्य कर डालता है। आज तृष्णा ने मानवों को बड़ी बुरी तरह जकड़ रखा है, इसी के वश होकर कम तोलते हैं, ज्यादा लेते हैं तथा अच्छी वस्तु में बुरी वस्तु मिला देते हैं ज्यादा कहाँ तक लिखें, खाद्य पदार्थों में तथा औषधियों में भी मिलावट कर देते हैं जिससे सामान्य जीवों का जीवन ही अस्त-व्यस्त हो रहा है।

भव-भोग-शरीरेषु, भावनीयः सदा बुधैः।
निर्वेदः परया बुद्धया, कर्मारातिजिघृक्षुभिः ॥१२७॥

अर्थ :– कर्मरूपी शत्रुओं को पकड़ने की इच्छा करने वाले बुद्धिमानों को संसार-भोग और शरीर में सदा वैराग्य भाव का मनन करना चाहिए।

विशेषार्थ :– कर्मों को जीतने का उपाय वैराग्य भाव है क्योंकि राग-भाव ही कर्मों के वन्ध का मूल कारण है। इसलिए सत्पुरुषों को कर्मों पर विजय पाने के लिए वड़ी बुद्धिमानी के साथ बार-वार यह मनन करना चाहिए कि संसार असार है, चारों ही गतियों में जीवों को दुःख है, अज्ञानी को कहीं भी सुख शान्ति नहीं मिल सकती है, शरीर क्षणभंगुर है, अत्यन्त अपवित्र है, इससे छूटना ही हितकारक है। इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी हैं, तृष्णा को वढ़ाने वाले हैं और विष समान आत्मघातक हैं। यथार्थ में जव मानव को शरीर-संसार और भोगों से वैराग्य होगा तव ही मोक्षमार्ग में रुचि होगी।

देखो! संसार के प्राणी जव राग-द्वेष आदि भाव करते हैं, तव उनके कर्मों का आस्रव होता है, जिससे वे चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं, उन गतियों में जाने पर शरीर की प्राप्ति होती है, फिर शरीर धारण करके इन्द्रियजनित विषय-वासनाओं के लिए राग-द्वेष करते हैं, इस

प्रकार संसार चक्र में भ्रमण करते हुए प्राणियों के जन्म-मरण होते रहते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह कर्म-चक्र राग-द्वेष के निमित्त से सतत चलता रहता है। अतः जब तक राग-द्वेष, मोह के वेग में न्यूनता न होगी तब तक यह संसार-चक्र अबाधित गति से चलता रहेगा। इस विषय में कुन्दकुन्द स्वामी 'समय प्राभृत' में समझाते हुए लिखते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्तकर व्यायामशाला में व्यायाम करता है, उस समय धूलि उसके शरीर में चिपट जाती है। यथार्थ में देखा जाय तो व्यायाम करना आदि धूलि चिपकने का कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप है, जिससे धूलि का सम्बन्ध होता है। यदि ऐसा न होता तो वह जब बिना तेल लगाए व्यायाम करता है तब उस समय वह धूलि शरीर में क्यों नहीं लिप्त होती ? ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज आकर चिपक जाती है और आत्मा को मलिन बनाकर पराधीन कर देती है। उस हालत में यह अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा नौकर के समान कर्मों के इशारे पर नाचता है। सारांश यह है कि संसार से भयभीत प्राणियों को राग-द्वेष आदि से बचना चाहिए, राग-द्वषादि से बचने का उपाय वैराग्य भाव है। वैराग्य भाव बनाने के लिए संसार की असारता पर विचार करना चाहिए।

यावन्न मृत्युवज्रेण, देहशैलो निपात्यते।
नियुज्यतां मनस्तावत्, कर्मारातिपरिक्षये ॥१२८॥

अर्थ :– जब तक यह शरीररूपी पर्वत मरणरूपी वज्र से नहीं गिराया जावे तब तक कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने में मन को लगाना चाहिए।

विशेषार्थ :– वीर योद्धा उस समय तक बराबर प्रयत्नशील रहता है जब तक कि अपने शत्रु का जड़मूल से नाश नहीं कर डालता। इसी प्रकार कर्मरूपी शत्रु के क्षय के लिए ज्ञानी जीवों को निरन्तर अपना

मन लगाना चाहिए तथा आत्मध्यान का ऐसा अभ्यास करना चाहिए जिससे वीतरागता प्रगट होवे क्योंकि वीतरागभाव ही कर्मों को विनष्ट करने में कारण है। यह काम जितना जल्दी हो सके कर लेना चाहिए। वास्तव में, मानव शरीर में ही कर्मों का क्षय हो सकता है, मरण के आने का निश्चय नहीं है अतएव मरण आने के पहले ही शीघ्र से शीघ्र जो कुछ अपना आत्महित बन सके सो कर लेना चाहिए। यदि समय रहते मानव आत्मकल्याण में नहीं लगता है तो फिर पछताने के अलावा शेष कुछ नहीं रहता है, कहा भी है कि– "अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत"। इस विषय में एक दृष्टान्त उपयोगी होगा कि समय पर चूक जाने से क्या हाल होता है—

एक सेठजी अपनी दुकान पर गुड़ तोल रहे थे। बरसात का समय था। सेठजी के हाथ गुड़ से भर गये तो वे हाथ धोने के लिए अपने घर पर आये। उस दिन श्रावणी तीज का दिन था। सेठानीजी अपने हाथों में मेहँदी माँड रही थी। इतने में सेठजी आए और उन्होंने आवाज लगाई– जरा हाथ धुलावो, तब सेठानीजी ने कहा– विचार करो, मेरी मेहँदी का रंग खराब हो जाएगा, तब सेठजी ने कहा–जल्दी हाथ धुलावो मेरी दुकान पर कोई नहीं है; तब उस सेठानी ने मजाक-मजाक में यह कह दिया कि यदि आपको इतना तकादा है तो कोई दूसरी सेठानी और ब्याह लावो। यह सुनकर सेठजी अपने हाथ धोकर दुकान चले गये, परन्तु इस कथन ने सेठजी के मन में घर कर लिया और उन्होंने चार-पाँच महिने बाद एक दूसरी शादी और करली। तब उस पहले वाली सेठानी का क्या हाल हुआ होगा, यह तो वही स्त्री जानती है, जिसके पति के दूसरी स्त्री होती है। फिर वही श्रावणी-तीज का दिन आया तब सेठजी ने गुप्त रूप से अपने दुकान के नौकर को भेजकर मालूम किया कि दोनों सेठानियाँ क्या कर रही हैं, तो मालूम हुआ कि दोनों ही मेहँदी माँड रही हैं। फौरन ही सेठजी ने अपने हाथों पर गुड़ चिपकाया और घर आए और बोले जरा हाथ धुलावो, तुरन्त ही पहले वाली सेठानी एक लौटा पानी लेकर आई। तब सेठजी ने कहा—

गेली ! पैली क्यों नहीं समझी, अब मेहँदी का रंग कहाँ गया, अब तू पानी लाई प्यारी, वो पानी मुलतान गया। इसलिए आचार्य कहते हैं कि भाई ! समझ जाओ और आत्मकल्याण करलो। नहीं तो यह अमूल्य मनुष्य-पर्याय पूरी हो जावेगी फिर उस सेठानी की तरह पछताना ही पड़ेगा। देखो ! यदि सेठानी पहले समझ से काम लेती और व्यंग्य न बोलती तो उसकी दशा क्यों बिगड़ती।

त्यज कामार्थयोः संगं, धर्मध्यानं सदा भज।
छिन्द्धि स्नेहमयान् पाशान्, मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम्॥१२६॥

अर्थ :– इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर हे भाई ! तू कामभोग और द्रव्य, विभूति अथवा परिग्रह का ममत्व छोड़ तथा स्नेहमयी जालों को छेद और धर्मध्यान कर।

विशेषार्थ :– मानव-जन्म का मिलना बड़ा ही कठिन है, ऐसे नरजन्म को पाकर वह उपाय अवश्य करना चाहिए जिससे धर्मध्यान हो सके, आत्मानन्द मिल सके और भावी जीवन में उत्तम पद प्राप्त हो सके। इसलिए द्रव्योपार्जन करने और भोग भोगने का साधन जो गृहस्थ जीवन है उसका त्याग किया जाए, कुटुम्ब-परिवार तथा मित्रादि से स्नेह तोड़ दिया जाए, पूर्ण विरक्त होकर निश्चिन्तता के साथ निज आत्मा का ध्यान किया जाए। धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक हो सकता है, सो आजकल संभव है, इसलिए त्याग भाव धारण कर आत्म-ध्यान का अभ्यास करना योग्य है।

देखो ! कैसी विचित्र बात है कि यह आत्मा अनन्त अनात्म पदार्थों की ओर चक्कर मारने अथवा दौड़धूप करने के वैभाविक कार्य को स्वाभाविक मानता है और साधना के सच्चे मार्गरूप अपने स्वरूप की उपलब्धि को भाररूप अनुभव करता है। काम और भोग सम्बन्धी कथा इस जीव ने अनन्त बार सुनी तथा उनका अनन्तबार परिचय पाया, अनुभव किया। यह जीव बलवान मोहरूपी पिशाच द्वारा बैल के

सदृश जोता गया है; इसलिए कामभोग सम्बन्धी कथा सुलभ मालूम पड़ती है, किन्तु कर्मपुञ्ज से विभक्त अपने आत्मा का एकपना न तो कभी सुना, न परिचय में आया और न अनुभव में आया; इसी कारण यह अपना होते हुए भी कठिन मालूम पड़ता है।

कर्मभार हलका होने पर, वीतराग वाणी का परिशीलन करने पर और साधुजनों के समागम से साधक को वह विमल दृष्टि प्राप्त होती है जिसके सद्भाव में नारकी जीव अनन्त-दुःखों के बीच रहते हुए भी विलक्षण आत्मिक शान्ति के कारण अपने को धन्य मानता है और जिसके अभाव में अवर्णनीय लौकिक सुखों के सिंधु में निमग्न रहते हुए भी देवेन्द्र अथवा चक्रवर्ती भी वास्तविक शान्ति-लाभ से वंचित रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनादिकाल से क्रोधादि कषायरूप शत्रुओं से शान्तरस की सागर हमारी आत्मा पीड़ित है, यदि हम इन कषायों को बुरा समझकर छोड़ने का प्रयत्न करें तो हमारी आत्मा में अपने ही अन्दर जो अनन्त शक्ति और सुख भरा पड़ा है, उसका रसास्वाद आ सकता है। अतः प्राणियों को मोहरूपी (स्नेह) फाँस को काटकर धर्मध्यान में लग जाना चाहिए।

कथं ते भ्रष्टसद्वृत्त ! विषयानुपसेवते।
पंचतां हरतां तेषां, नरके तीव्रवेदना ॥१३०॥

अर्थ :– जो प्राणी सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट होकर इन्द्रिय-विषयों का बार-बार सेवन करते हैं वे मरकर नरकादि दुर्गतियों में भारी वेदना भोगेंगे।

विशेषार्थ :– इन्द्रिय भोगों की लोलुपता कृष्ण, नील, कापोत लेश्या सम्बन्धी परिणामों की उत्पत्ति का बीज है। जिन भावों से जीवों को नरकायु का बन्ध हो जाता है फिर नरक में जाकर तीव्र वेदना सहनी पड़ती है; ऐसा जानते हुए भी प्राणी इन्द्रियों के विषयों के भीतर बार-बार अनुरक्त होकर आत्मा का भी साधन नहीं करते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है।

मनुष्य गति में सबसे बड़ा दुःख तृष्णा का है। मानवों को पांचों इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा रहती है। इच्छित पदार्थ नहीं मिलने का दुःख होता है, यदि मनोज्ञ पदार्थ प्राप्त होकर नष्ट हो जाते हैं तो उनका दुःख होता है, किसी को पारिवारिक जनों का दुःख रहता है, इस प्रकार मानव निरन्तर संक्लेश परिणामों के कारण नये कर्म बाँधते रहते हैं; किसी को शारीरिक दुःख तो किसी को मानसिक कष्ट रहता है। वैसे विचार किया जाय तो संसार दुःखों का घर है। आचार्यों ने संसार को चार गतियों में विभक्त किया है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, देवगति और मनुष्यगति; इन चारों गतियों में ही संसार के सर्व प्राणी रहते हैं। इनमें तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति के दुःख तो प्रत्यक्ष प्रकट हैं। नरकगति व देवगति के दुःख यद्यपि प्रकट नहीं हैं तथापि आगम के द्वारा श्री गुरुवचन प्रतीति से जानने योग्य हैं। यथार्थ में, यह आत्मा मिथ्यात्व के कारण ही चारों गतियों में भ्रमण करता है और कर्मों के जाल में इसी कारण अनादिकाल से जकड़ा हुआ है। इसने भ्रान्त बुद्धि से पर पदार्थों को अपना समझ लिया है। यदि यह सद्गुरुओं की वाणीप्रमाण पर-पदार्थों को अपने से भिन्न समझता है, उसी क्षण यह आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। देखो ! यह प्राणी जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार पर-लोक से इस शरीर में आता है, तब अपने साथ किसी प्रकार का धन, धान्य, मकान, स्त्री, पुत्र आदि परिग्रह नहीं लाता है, परन्तु पूर्व कर्म-संस्कारवश जिस पर्याय में जाता है वहाँ वस्तुओं को अपनाता है और उनमें तृष्णा आदि करके कर्मों से बँधता जाता है। यह सब अज्ञान का ही चमत्कार है, मोह के वश होकर मानव धर्म को छोड़कर पाप प्रवृत्ति में लग जाता है।

सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां, विषयासंगसंगिनाम् ।
तेषामिहैव दुःखानि, भवन्ति नरकेषु च ॥१३१॥

अर्थ :– जिनका मन सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हो गया है तथा जो

इन्द्रियों के विषयों में मग्न हैं उन्हें यहाँ भी दुःख है तथा मरने के बाद भी नरकों में जाकर वेदना सहनी पड़ती है।

विशेषार्थ :– जो प्राणी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विमुख होकर मिथ्यात्व की कीच में पड़कर रातदिन इन्द्रियों के विषयों में तल्लीन रहते हैं, वे यहाँ इस जन्म में भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ा-चिन्तवन और निदान-बन्ध इन चार आर्त्तध्यानों से दुःखित रहते हैं तथा तृष्णा की दाह में जलते रहते हैं, फिर मरकर नरक में घोर दुःख पाते हैं। इसलिए ज्ञानीजीवों को भले प्रकार इन भोगों का विपरीत स्वभाव विचार करके इनसे विरक्त रहना चाहिए और यदि शक्य हो तो उनका सर्वथा त्याग करके धर्ममय जीवन बिताना चाहिए अर्थात् महाव्रतों का पालन करना चाहिए। अन्यथा गृहस्थ में संतोषपूर्वक रहकर न्यायोपार्जित भोग भोगते हुए मुनिधर्म की भावना भाते हुए श्रावक के बारह व्रतों को पालना चाहिए।

संसार की वास्तविकता से सुपरिचित मानव गम्भीर चिन्तन में निमग्न होकर विचारता है कि जब मेरा आत्मा जड़ पुद्गल, आकाश आदि से गुण-स्वभाव आदि की अपेक्षा पूर्णतया पृथक् है, तब अपने स्वरूप की उपलब्धि निमित्त मैं क्यों न संसार के मोहजाल का परित्याग करके परम निर्वाण के लिए प्रयत्न करूँ ? आगे महान् पुरुषों ने मकड़ी की तरह जाल बुनकर और उसमें फँसकर अपना जीवन गमाने की चेष्टा नहीं की। परन्तु सम्पूर्ण विकारों पर विजय प्राप्त करके, परिपूर्ण आत्मतत्त्व को पाने के लिए दुर्बलताओं के वर्धक संकीर्ण गृहवास को तिलांजलि देकर, दिगम्बर मुद्रा धारण करके, आत्मसाधन निमित्त पांचों पापों का परित्याग करके, अपनी सच्ची और सुदृढ़ साधना के फलस्वरूप कर्म-राशि को चूर्ण करके, अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति, अविनाशी जीवन आदि अनुपम विभूतियों का अधिपतित्व प्राप्त किया था; परन्तु खेद है कि मोह रोग की पीड़ा से पीड़ित अविवेकी प्राणी विषयभोगों की लालसा से आकर्षित होकर मानव जीवन के

महत्त्व को भुलाकर विषयासक्त जिन्दगी को ही अपना चरम लक्ष्य समझता है। फिर दुर्गति में जाकर भारी वेदना सहता है। अतः मानवों का कर्त्तव्य है कि वे मनुष्य पर्याय का मूल्यांकन करें और समय रहते आत्महित में लग जावें।

विषयास्वादलुब्धेन, राग-द्वेषवशात्मना ।
आत्मा च वंचितस्तेन, यः शमं नापि सेवते ॥१३२॥

अर्थ :– पंचेन्द्रियों के विषयों का स्वादी यह जीव जब राग-द्वेष के आधीन होता हुआ शांतभाव का सेवन नहीं करता है तब समझो वह अपनी आत्मा को ठगता है।

विशेषार्थ :– इस मानवजन्म को पाकर प्राणियों को सुख-शान्ति का लाभ करना चाहिए। परन्तु जो इस प्रवृत्ति से विमुख होकर इन्द्रिय-सुखों के स्वाद का लोभी हो जाता है, वह इष्ट पदार्थों में राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करता हुआ कर्म बाँधकर इस संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करके अति दुःख उठाता है। उसने अपने कल्याण का अवसर खोकर अपने आपको धोखा ही दिया है, अपना ही बुरा किया है। इसलिए बुद्धिमान मानव को कौड़ी के पीछे रत्न नहीं गमाना चाहिए अर्थात् विषयस्वाद के पीछे आत्मानन्द के अपूर्व लाभ को न खोना चाहिए।

वास्तव में, मनुष्य जीवन कोई मामूली नहीं है यह तो एक महान् निधि है, अनुपम अवसर है, जिसके द्वारा मानव आत्मशक्ति को विकसित करते हुए जन्म-जरा-मरण रहित, अमर-जीवन के उत्कृष्ट और उज्ज्वल आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न कर सकता है। आचार्यों ने जीवन के प्रत्येक अंग तथा कार्य को तब ही सार्थक तथा उपयोगी माना है, जब मानव आत्म-विकास की मधुर ध्वनि से समन्वित हो। यथार्थ में, विषय-भोगों में आसक्त जीवों को धर्मकथा अच्छी नहीं लगती है। प्रायः देखा भी जाता है कि मनुष्यों में अनेक गुणों के होते हुए भी विषयासक्त चित्तवाले व्यक्ति दुःखी ही रहते हैं। उनका विवेक नष्ट हो जाता है

अर्थात् उनके गुण अवगुणों में बदल जाते हैं। सच तो यह है कि प्राणियों के मोहादि कर्मों का सम्बन्ध जब तक रहता है, तब तक उनके परिणामों में विकृति रहती है तथा उस समय वे परपदार्थों में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों की प्रवृत्ति करते हैं, जो क्रमशः मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहलाते हैं। फिर मिथ्यात्व के उदय से आत्मा पर-पदार्थों में आत्मीयता की कल्पना करता है तथा उन्हें ही आत्मस्वरूप मानता है। यद्यपि वे आत्मस्वरूप नहीं हो सकते हैं परन्तु अज्ञानी को यह प्रतीत होता है कि ये स्त्री, पुत्र, धन आदि मेरे हैं और मैं इनका हूँ इसी अज्ञान के कारण मानव आज तक संसार में भटकता आया है और यदि यही प्रवत्ति रही तो अनन्तकाल तक भटकता ही रहेगा।

आत्मना यत्कृतं कर्म, भोक्तव्यं तदनेकधा।
तस्मात् कर्मास्रवं रुद्ध्वा, स्वेन्द्रियाणि वशं नयेत् ॥१३३॥

अर्थ :– जो कर्मबंध आत्मा ने किया है उसका फल अनेक तरह से उसे ही भोगना पड़ता है, इसलिए कर्मों के आस्रव को रोककर अपनी इन्द्रियों को वश में करना चाहिए।

विशेषार्थ :– कर्मों के बंध से आत्मा को अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं, इसलिए कर्मों के आस्रव को तथा बंध को रोककर सुखी होना चाहिए तथा अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। इन्हीं के आधीन होकर मानव राग-द्वेष में फ़ंसकर अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझने लगता है तथा अभक्ष्य आदि को खाने लग जाता है, अन्याय में प्रवृत्ति करने लग जाता है। संसार में जीवों के जो मरण, जीवन, दुःख और सुख होते हैं, वे सब स्वकीय कर्मों के उदय से होते हैं; ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते हैं कि पर के द्वारा सुख-दुःख होते हैं वे अज्ञानी हैं।

देखो ! संसार के प्राणी रात-दिन पापाचार करते हैं और फिर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! हमारे पाप क्षमा करना।

जरा सोचो, भगवान तुम्हारे पाप क्षमा करें ! पाप तो करो तुम और क्षमा करें भगवान, यह भी कहीं का न्याय है ? कोई पाप करे और क्षमा कोई करे। इस विषय में आचार्यों ने बताया है कि आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है और उस कम्पन से पुद्गल के परमाणु-पुञ्ज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाते हैं उन्हें कर्म कहते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है उसे बन्ध कहते हैं। इस बन्ध पर्याय में जीव और पुद्गल की एक ऐसी नवीन अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जो न तो शुद्ध जीव में पाई जाती है और न शुद्ध-पुद्गल में ही। सच तो यह है कि जीव और पुद्गल अपने-अपने गुणों से कुछ च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते हैं। रागद्वेष-युक्त आत्मा पुद्गलपुञ्ज को अपनी ओर आकर्षित करता है जैसे चुम्बक लोहा आदि पदार्थों को आकर्षित करता है अथवा जैसे फोटोग्राफर चित्र खींचते समय अपने कैमरे को व्यवस्थित ढंग से रखता है और उस समय उस कैमरे के समीप आने वाले पदार्थ की आकृति लेन्स के माध्यम से प्लेट पर अंकित हो जाती है; ठीक उसी प्रकार राग-द्वेषरूपी कांच के माध्यम से पुद्गलपुञ्ज आत्मा में एक विशेष विकृति उत्पन्न कर देते हैं जो पुनः आगामी रागादि भावों को उत्पन्न करते हैं। कहने का सारांश यह है कि अपने मन, वचन और काय योग को रोककर आत्मा के साथ बँधने वाले कर्मों को रोको और आत्मस्वरूप का अवलोकन करो।

इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा, स्वात्मानं वशमानयेत्।
येन निर्वाणसौख्यस्य, भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ॥१३४॥

अर्थ :– इन्द्रियों की इच्छाओं के विस्तार को रोक करके अपनी आत्मा को अपने आधीन रख, जिससे तू दुःखों से छूटकर निर्वाणसुख का पात्र हो जाएगा।

विशेषार्थ :– इन्द्रियों को और मन को वश में करने से ही उपयोग अपने ही घर में अपने आत्मा के स्वभाव में क्रीड़ा करने लगता है, तब

सहज ही में आत्मसुख का स्वाद आने लगता है। इसी आत्मस्थवृत्ति का अभ्यास जितना-जितना बढ़ता जाता है, उतना-उतना ही निर्वाण सुख निकट आता जाता है; इस प्रकार पूर्ण रूप से वीतरागी होना ही निर्वाण का आधिपतित्व है। आचार्यों ने कहा है कि हे भाई! इस मनुष्य शरीर को पाकर आत्मोत्थान करना है, जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीर को प्राप्त करके अपना स्वरूप पहचान लेते हैं वे ही अपनी आत्मा का विकास करते हैं, वस्तुतः वे ही इस शरीर को प्राप्त करके सार्थक करते हैं। देखो! इस क्षण-भंगुर शरीर का कुछ विश्वास नहीं कि यह कब नष्ट हो जावे, अतः प्रत्येक व्यक्ति को सर्वदा आत्मकल्याण की ओर सजग रहना चाहिए तथा सर्वदा अपनी योग-प्रवृत्ति— मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को शुद्ध अथवा शुभ रूप में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में कविवर बनारसीदासजी ने 'बनारसी-विलास' में संसारी जीवों को चेतावनी देते हुए कहा है—

"जामें सदा उतपात रोगन सों छीजे गात,
कछू न उपाय छिन-छिन आयु खपनौ।
कीजै बहु पाप औ नरक दुःख चिन्ता व्याप,
अपदा कलाप में विलाप ताप तपनौ॥
जामें परिग्रह को विषाद मिथ्या बकवाद,
विषैभोग सुखको सवाद जैसे सपनौ।
ऐसो है जगतवास जैसो चपला विलास,
तामें तू मगन भयो त्याग धर्म अपनौ॥"

अर्थात्– इस शरीर में सर्वदा रोग लगे रहते हैं तथा यह क्षीण होता रहता है। क्षण-क्षण में आयु घटती रहती है, जिसे रोकने में कौन समर्थ है। नाना प्रकार के पाप भी मनुष्य इस शरीर से करता है जिससे नरक के दुःख भी भोगने पड़ते हैं। विपत्ति के आने पर संताप करता है तथा दुःख व शोक करता है, तब अपने किए का पश्चात्ताप करता है। ऐसी हालत में मानव को अपनी इच्छाओं को रोककर अपने विचारों को स्वच्छ रखना संसार के बंधनों से छुटकारा मिले और अनन्त सुख

शान्ति प्राप्त हो जाए। यदि मानव ने प्रमादवश समय रहते नहीं सोचा, तो यह पर्याय समाप्त हो जाएगी फिर पश्चात्ताप ही शेष रहेगा।

सम्पन्नेष्वपि भोगेषु, महतां नास्ति गृद्धता।
अन्येषां गृद्धिरेवास्ति, शमस्तु न कदाचन ।।१३५।।

अर्थ :– विषय भोगों की पूर्णता होने पर भी महान् पुरुषों की लोलुपता उनमें नहीं होती है, अन्य मिथ्यादृष्टि जीवों की उनमें लोलुपता होती है उससे उन्हें किंचित् भी शान्ति नहीं मिलती है।

विशेषार्थ :– गृहस्थ अवस्था में रहने वाले धर्मात्मा प्राणियों को चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते हैं तथा उनको इच्छित भोगों की सर्व सामग्री भी अनायास मिलतो है, परन्तु वे उनमें न तो लोलुप होते हैं और न तृष्णा की दाह उत्पन्न करते हैं। वे तो अपनी आत्मा में ही रुचि रखते हैं, चारित्र मोहनीय के उदयवश यद्यपि उन्हें इन्द्रिय-भोगों में प्रवृत्ति करनी पड़ती है, किन्तु उनकी उनमें मूर्च्छा नहीं होती है, वे तो उन्हें त्यागने योग्य ही समझते हैं। ऐसी दशा में उनके आत्म-हित का विनाश नहीं होता है; परन्तु मिथ्यादृष्टि प्राणियों को आत्म सुख का विश्वास नहीं होता है। वे तो इन्द्रियसुखों को ही सुख मानते हैं; इसलिए भोगसामग्रियाँ अल्प होने पर भी वे बड़े लोलुप रहते हैं, विषय सुखों की चाह की दाह में वे सदा जलते रहते हैं, कभी शान्ति नहीं पाते।

देखो! संसार के प्राणी अपनी आंखों से देखते हैं कि फलां व्यक्ति जो धनी था, जिसका वैभव सर्वश्रेष्ठ था, जिसके घर में सोना-चांदी की बात ही क्या हीरे-पन्ने भी थे; वही व्यक्ति अब दरिद्र हो गया है। जिसकी प्रतिष्ठा समाज में थी तथा समाज जिसका आदर करता था; अब वही धन न रहने से सबकी दृष्टि में गिर गया है, लोग उसकी कटु आलोचना करते हैं और उसे सबसे अभागा मानते हैं। इस प्रकार नित्य जीवन, मरण, दरिद्रता, वृद्धावस्था, अपमान, घृणा, स्वार्थ, अहंकार आदि की लीला को देखकर भी मनुष्य को विरक्ति नहीं होती, संसार में इससे बड़ा और

क्या आश्चर्य हो सकता है? दूसरों को मरते देखकर भी हम सदा जीवित रहने की आशा करते हैं, यह हमारी भूल है। यदि मानव संसार को अनित्य समझकर अपने आत्मकल्याण में लग जावे तो उसका हित हो सकता है। परन्तु प्राणी मोहरूपी मदिरा का पान करके मतवाला सा बन गया है, अपने को भूल गया है; खाने-पीने में तथा शरीर की सजावट करने में ही अपना हित मानकर संतुष्ट हो रहा है। लेकिन अपने वास्तविक कर्त्तव्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं सोचता, यही अज्ञान है जिसके कारण संसार-भ्रमण की यातनाएँ सहता रहता है। यदि इस भूल को जानकर छोड़ने का प्रयत्न करें तो फिर शान्ति मिलने में कोई देर नहीं।

षट्खंडाधिपतिश्चक्री, परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्व भोगांश्च, दीक्षा दैगम्बरी स्थिता ॥१३६॥

अर्थः– देखो! छह खंड का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् भी इस पृथ्वी को और सर्व भोगों को तृण के समान निःसार जानकर छोड़ देता है और निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि की दीक्षा धारण कर लेता है।

विशेषार्थ :–ज्ञानी सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती पुण्य के उदय से प्राप्त भोग्य पदार्थों को और छह खंड पृथ्वी को भोगते हुए भी उदास रहते हैं। उन्हें तो आत्मशान्ति में ही रुचि होती है। जब तक उनके कषाय का उदय मंद नहीं होता है तब तक ही वे गृहस्थ रहते हैं। जब स्वात्मानुभव का अभ्यास करते हुए उनकी प्रत्याख्यानावरण कषाय उपशम हो जाती है, तब वे शीघ्र ही सर्व परिग्रह त्यागकर मुनिदीक्षा धारण कर लेते हैं, जो साक्षात् मोक्ष का उपाय है।

दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करना कोई बच्चों का खेल नहीं। जो व्यक्ति विषय-वासनाओं के दास और भोगों के गुलाम हैं, वे भला इस कल्याण-कारिणी दीक्षा के लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं? इस विषय में पार्श्व-पुराण में कितनी सुन्दर बात कही है—

"अन्तर विषय वासना बरतै, बाहर लोक-लाज भय भारी।
तातैं परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहिं सकैं दीन संसारी॥"

परन्तु वीर पुरुषों की बात और प्रवृत्ति ही निराली होती है, कवि इसीलिए कहते हैं—

"ऐसी दुद्धर नगन परीषह, जीतैं साधु शीलव्रतधारी।
निर्विकार बालकवत् निर्भय, तिनके पायन ढोक हमारी॥

अभिप्राय यह है कि संसार के प्राणी यदि विषयों और भोगों के दुष्परिणाम को देखलें तो त्याग के माहात्म्य से उनकी आत्मा प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी। वास्तव में, यह तो तृष्णा पिशाचिनी की करतूत है कि मानव ओस की बूंद के समान क्षणिक विषय-भोगों के द्वारा अनन्त तृषा को शान्त करना चाहता है। यथार्थ में सांसारिक वस्तुओं में सुख है ही नहीं, आचार्यों ने ठीक ही कहा है—

" जो संसार विषै सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागै ?
काहे को शिव-साधन करते, संयम सों अनुरागे ? "

अर्थात्— यदि संसार में सुख होता तो महान् पुरुष इसे छोड़कर क्यों जाते और किसके लिए दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करते। यथार्थ में, श्रेष्ठ और ज्ञानी पुरुष कृत्रिम वस्त्राभूषणादि व्यर्थ की सामग्रियों का परित्याग करके प्रकृति-प्रदत्त मुद्रा को धारण करके शान्ति प्राप्त करते हैं।

कृमितुल्यैः किमस्माभिः, भोक्तव्यं वस्तु सुन्दरं।
तेनात्र गृहपंकेषु, सीदामः किमनर्थकम् ॥१३७॥

अर्थ :— क्या हम मानवों को कीड़ों के समान सुन्दर पदार्थों को भोगना चाहिए, जिससे इस लोक में घर की कीचड़ में फंसकर वृथा क्यों कष्ट उठाना पड़े।

विशेषार्थ :— वर्त्तमान इस दुःखमा पंचमकाल में चौथे काल की अपेक्षा मानवों की अवस्था कीड़ों के बराबर है। भोग-सामग्री भी बहुत अल्प है। बुद्धिमानों को उचित है कि इन अतृप्तिकारी भोगों में लिप्त न होकर ऐसा उपाय करें जिससे इस आत्मा को इस जन्म में भी सुख

हो और परलोक में भी सुख मिले। यदि ऐसा न करके तुच्छ भोगों में ही तन्मय रहेगा तो गृहस्थी की कीचड़ में यहां भी कष्ट होगा और पाप बाँधकर आगे भी दुःख होगा, कभी शान्ति नहीं मिलेगी अर्थात् यह मानव जन्म वृथा ही चला जाएगा।

मानव शील, संयम तथा व्रत आदि की मर्यादा के बिना, चाहे जितना धन संग्रह करले तथा साधन जुटाले परन्तु अपने जीवन को सुखी नहीं बना सकता है और न भवान्तर में ही सुखी हो सकता है। वास्तव में, त्याग-संयम के बिना मानव-जीवन की कोई सार्थकता नहीं, त्याग ही मानव-जीवन का शृंगार है। आचार्यों ने बताया है कि संग्रह करने वाले अपना पतन करते हैं और त्यागने वाले अपनी आत्मा का उत्थान करते हैं। संसार में जो प्राणी रातदिन परिग्रह-संचय ही करते रहते हैं वे ठीक इसी प्रकार हैं जैसे— कोई अपनी तैरती हुई नाव में पत्थर डालता चला जावे, फलतः, निःसन्देह ही वह नाव डूबेगी। उसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर पर-पदार्थों में संग्रह-बुद्धि रखते हैं। वे भी इस संसार में डूब जाएँगे। जगत् में मोही प्राणी परिग्रह की पकड़ में इस तरह आ गये हैं कि न तो उसे भोग सकते हैं और न छोड़ सकते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि प्राणी संसार की असारता को जानता हुआ क्रमशः परिग्रहादि से विरक्ति की ओर अग्रसर रहता है। वह बाह्य पदार्थों में नहीं अटकता है; अर्थात् उसकी दृष्टि तो अन्तर की ओर रहती है क्योंकि वह भली प्रकार जानता है कि मेरे आत्मा के प्रदेशों के अलावा एक भी परमाणु मेरा नहीं है। इसी दृष्टि के कारण वह बाहरी वस्तुओं के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद नहीं करता है। अतः प्राणियों को विवेकपूर्वक पर-पदार्थों से विरक्त रहते हुए अपनी अनन्त शक्ति वाली आत्मा का दृढ़ विश्वास करके आत्महित में लग जाना चाहिए। नहीं तो सामान्य जीवों की तरह समय व्यतीत हो जाएगा फिर पछताना ही शेष रहेगा।

येन ते जनितं दुःखं, भवाम्भोधौ सुदुस्तरम्।
कर्मारातिमतीवोग्रं, विजेतुं किं न वाञ्छसि ॥१३८॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! जिसके द्वारा तुझे इस संसाररूपी समुद्र में अतीव कठिन दुःख प्राप्त हुए हैं ऐसे दुःखद समय में आत्मा के शत्रु इन अत्यन्त भयानक कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने की इच्छा क्यों नहीं करते ?

विशेषार्थ :– आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! कर्मों के संयोग से तुमने इस संसार-समुद्र में गोते खाते हुए बहुत ही भयानक असह्य दुःख उठाए हैं, तुम्हारा शुद्ध स्वरूप इन कर्मों ने छिपा दिया है तथा तुम्हें अविद्या या तृष्णा का दास बना दिया है, उन कर्मों के जीतने का यह अवसर है। यदि तुम चाहते हो कि कर्मों से न सताया जाऊँ तो, पुरुषार्थ करके संयम तथा तप की आराधना करो जिससे कर्म निर्बल होकर क्षीण हो जावें और तुम मुक्ति प्राप्त करलो। ऐसा अवसर बार-बार मिलना कठिन है। जो प्राणी जैनधर्म की शरण ग्रहण करेगा और उसकी आराधना करेगा तो वह अवश्य ही जिनेन्द्र भगवान के बताए अनुसार सच्चा सुख प्राप्त करेगा। जो कर्मों का नाश करके आत्म-हित में लगेगा वह निःसंकोच सुखी होगा। सन्त-जन कर्मों के फन्दे में फंसकर अपना अहित नहीं करते हैं।

देखो ! कर्मों ने इस जगत् में क्रोधादि कषायरूप चौपड़ का खेल जमाया है। उस खेल के चक्कर में सन्त-पुरुष नहीं आते हैं; परन्तु संसार के अन्य प्राणी उस खेल में आसक्तिपूर्वक भाग लेते हैं और हार-कर पीछे रोते-पछताते हैं। इस विषय में कविवर भूधरदासजी का यह पद कितना उद्बोधक है—

जगत-जन जूवा हारि चले ॥ टेक ॥
काम कुटिल संग बाजी मांडी, उनकरि कपट छले ॥१॥
चार कषायमयी जहँ चौपरि, पांसे जोग रले।
इत सरवस, उत कामिनि-कौड़ी, इह विधि झटक चले ॥२॥
कूर खिलारी विचार न कीन्हों, ह्वै है ख्वार भले।
बिना विवेक मनोरथ काके, 'भूधर' सफल फले ॥३॥

अर्थात् जगत् के प्राणी कनक कामिनी आदि में अपने को कृतार्थ मानते

हैं; परन्तु साधक की स्थिति इससे निराली होती है। देखो ! मृत्यु के नाम से जहाँ दुनिया घबराती है, वहाँ साधक मृत्यु को अपना स्नेही तथा उससे परम मित्रता कर मृत्युकाल को महोत्सव मानते हैं। आत्मा की अमरता पर विश्वास होने के कारण वे अपने उज्ज्वल भविष्य का विश्वास करते हैं और भावी जीवन को जीर्ण-कुटी के स्थान पर भव्य-भवन मानते हैं।

अब्रह्मचारिणो नित्यं, मांसभक्षणतत्पराः ।
शुचित्वं तेऽपि मन्यन्ते, किन्तु चित्रमतः परम् ॥१३६॥

अर्थ :– कोई-कोई ब्रह्मचर्य को न पालते हुए सदा ही मांस-भोजन में लगे रहते हैं तो भी वे अपने को पवित्र मानते हैं, इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ?

विशेषार्थ :– जगत के मोह में फँसे हुए, मांसाहार करते हुए तथा कुशील का सेवन करते हुए कोई-कोई प्राणी अपने को धर्मात्मा व पवित्र मानते हैं, यह बात आश्चर्यकारी इसलिए है कि जब मांसाहारी तथा कुशीलसेवी मानव भी अपने को पवित्र मानेंगे तो फिर अपवित्र किसको कहा जाएगा ? अर्थात् यह उनका भ्रम है। इससे मानव-जीवन पवित्र नहीं हो सकता है। सच तो यह है कि मानव में सर्वप्रथम पात्रता होनी चाहिए, पात्रता के बिना उत्तम धर्मरूपी अमृत हृदय में ठहरता नहीं। आज संसार में ऊपरी धर्म तो दिखाई दे रहा है लेकिन धर्म के मर्म का ज्ञान नहीं। लोग बड़े-बड़े अध्यात्म शास्त्रों को तो रटते हैं परन्तु सप्त-व्यसनों का त्याग तथा अष्टमूलगुणों का धारण आदि भी उनसे नहीं होता तो भला सोचो ! जब आधारभूत पात्रता ही नहीं तो कैसे उनके हृदय में अमृतरूप अध्यात्मवाणी ठहरेगी, इस विषय में एक दृष्टान्त अच्छा उपयोगी है— एक राजा हाथी पर चढ़कर बन में जा रहा था। उसे जंगल में एक साधु मिला। राजा ने हाथी से उतरकर साधु का विनय किया और बोला महाराज ! कुछ धर्मोपदेश दीजिए। साधु ने

सोचा कि यह तो सप्तव्यसनी राजा है, इसको उपदेश देने में क्या फायदा ! परन्तु क्या किया जाय, राजा ठहरा; तब साधु ने कहा महाराज मैं कल आपके राजमहल में आकर आपके लिए धर्मोपदेश दूंगा। राजा ने कहा साधुजी महाराज ! तो फिर कल भोजन आपको वहीं करना है। साधु ने मंजूरी दे दी और कहा राजन् ! मैं खीर ही खाऊँगा। राजा ने कहा– जो आज्ञा। दूसरे दिन समय पर साधु राजमहल में पहुंचा, राजा ने सत्कार किया और कहा–सर्वप्रथम आप भोजन करलें, साधु ने कहा– बहुत अच्छी बात है। फौरन ही राजा ने कर्मचारियों को संकेत किया। वे खीर ले आए। राजा ने कहा– लीजिए महाराज ! खाइए। तब साधु ने अपने झोले में से एक कटोरा निकाला और बोला– इसमें खीर डाल दीजिए। परन्तु राजा ने खीर नहीं डाली। तब साधु ने कहा– लाओ खीर परोसो। परन्तु राजा ने खीर नहीं परोसी। तब साधु ने कहा– भो राजन् ! यह आप क्या कर रहे हैं ? खीर क्यों नहीं परोसते हैं ? तब राजा ने कहा– महाराज ! कैसे परोसूं ? आपके कटोरे में तो कोई पच्चीस छेद हैं। फौरन ही साधु ने कहा राजन् ! जैसे आप फूटे कटोरे में खीर नहीं देना चाहते हो; उसी प्रकार मैं भी आपको धर्मोपदेश देना नहीं चाहता हूँ क्योंकि आप सप्तव्यसनों का सेवन करते हैं अर्थात् आपमें पात्रता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव को सबसे पहले पात्रता ग्रहण करनी चाहिए जबतक पात्रता नहीं होती तबतक अमृतमयी धर्मचर्चा उसमें कैसे ठहरेगी ?

येन संक्षीयते कर्म, संचयश्च न जायते ।
तदेवात्मविदा कार्यं, मोक्षसौख्याभिलाषिणा ॥१४०॥

अर्थ :– जिस कारण से पूर्व संचित कर्मों का क्षय हो जावे व नवीन कर्मों का संचय न हो वही काम मोक्ष-सुख के अभिलाषी आत्मज्ञानी को करना चाहिए।

विशेषार्थ :– आत्मा के महान् शत्रु कर्म हैं। जब तक कर्मों का

संयोग जीव के साथ रहता है तब तक जीव स्वतंत्र नहीं होता, वह पराधीन हुआ आकुलता को सहता है व अपने स्वाभाविक आनन्द का लाभ नहीं कर सकता है तथा जन्म-मरणादि दुःखों को भव-भव में उठाता है, इसलिए कर्मों का नाश करना आवश्यक कर्त्तव्य है। नवीन कर्मों के रोकने का और पुरातन कर्मों की निर्जरा का उपाय वास्तव में सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन सहित चारित्र तथा आत्मानुभव है, अतएव ज्ञानी को उद्यम करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

सच तो यह है कि सौभाग्यशाली जीवों को ही सन्त-समागम होता है तथा वे पवित्र जिनवाणी का अनुशीलन करते हैं। उनके सुदैव से आत्मनिर्मलता के योग्य सुदिन के आने पर उनकी आत्मा में निर्मल ज्ञान-सूर्य के उदय को सूचित करने वाली विवेक-रश्मियाँ अपने पुण्य प्रकाश से जीवन को आलोकित करने लगती हैं। उस समय वे निर्वाण सुख के लिए लालायित होते हैं तथा सर्वस्व माने जाने वाले अपने धन-वैभव आदि परिकर को क्षण-भर में छोड़ने के लिए उद्यत हो जाते हैं। फिर वे अपने परिवार, धन, राज्य, सम्पदा आदि को तृणवत् जानकर छोड़ते हैं तथा आत्मसंतोष और ब्रह्मानन्द के लिए दिगम्बर अकिंचन मुद्रा धारण करके भारी तपश्चर्या करते हुए सुन्दर ध्यान के द्वारा अनादिकालीन बद्ध कर्मों का नाश कर देते हैं। जिस प्रकार लौकिक स्वाधीनता का सच्चा प्रेमी अपने सर्वस्व का भी परित्याग करके फांसी के तख्ते को प्रेम से प्रणाम करते हुए सहर्ष स्वीकार करता है; ठीक उसी प्रकार निर्वाण का सच्चा प्रेमी (मुमुक्षु) तिल-तुष मात्र भी परिग्रह से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद करके राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकृतियों का पूर्णतया परित्याग करके शारीरिक बाधाओं की ओर तनिक भी दृष्टिपात न करके, उपेक्षा वृत्ति को अपनाकर, आत्म-विश्वास को सुदृढ़ करके, सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में अपने अचिन्त्य तेजोमय आत्म-स्वरूप की उपलब्धि निमित्त प्रगति करता है। इस प्रकार वह नये कर्मों को न बाँधते हुए पुराने कर्मों को नष्ट करता है और सदा-सदा के लिए संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

११. गतियों के दुःख-सुख

अनेकशस्त्वया प्राप्ता, विविधा भोगसम्पदः ।
अप्सरागणसंकीर्णे, दिवि देवविराजिते ।। १४१ ।।

अर्थ :– हे आत्मन् ! देवियों और देवों से भरे हुए स्वर्ग में क्या तूने अनेक बार नाना प्रकार की भोग-सम्पदाएँ नहीं पाई हैं, अर्थात् पाई हैं।

विशेषार्थ :– इस संसार में भ्रमण करते हुए हे आत्मन् ! तूने पुण्य के उदय से जब देवगति पाई और तू स्वर्ग में पैदा हुआ तब तेरी सेवा अनेक देवियों ने की और अनेक देव तेरी सेवा में खड़े रहे। तूने स्वर्ग सरीखे ऐसे मनोज्ञ भोगों को बार-बार भोगा है परन्तु तेरी तृप्ति न हुई; अर्थात् तू अब तक तृषातुर ही बना रहा। स्वर्ग में इन्द्रिय-सुखों की कमी नहीं है तूने बार-बार उनको भोगा है, परन्तु तुझे शान्ति नहीं मिली, प्रत्युत तृष्णा में वृद्धि ही हुई।

संसार में नाना योनियों में भटकते हुए प्राणी रात-दिन क्लेश सहते हैं, देखो ! कर्मों के विपाक से यह आत्मा विविध प्रकार के वेष धारण करके विश्व के रंगमंच पर आकर हास्य, शोक, शृंगार आदि विविध खेल दिखाता फिरता है। पुण्ययोग से जब इस जीव का संसार निकट आता है तब यह अपनी आत्म-परिणति को सँभालता है तथा सदाचार की ओर झुकता है, अर्थात् जिनेन्द्र-मुद्रा को धारण करके शान्तरस का अभिनय करता है, उस समय यह जीव आत्मा की अनन्त-निधि को प्राप्त करता है।

शरीर को धारण करने वाला यह जीव कर्मों के आधीन नहीं तो और क्या है ? संसार में ऐसा कौन समझदार होगा जो इस सप्त धातुमय निंद्य शरीर में वन्दी बनना पसंद करेगा। कर्मों के आधीन होने के कारण ही जीव की यह दशा हो रही है। इस विषय में पं० दौलतरामजी अपने पद में बड़ी मधुरता के साथ गाते हैं—

अपनी सुध भूल आप, आप दुःख उपायौ ।
ज्यौं शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ॥
चेतन अविरुद्ध शुद्ध दरश बोधमय विसुद्ध–
तज; जड़, रस, फरस रूप पुद्गल अपनायौ ॥
चाह-दाह दाहै, त्यागै न ताहि चाहै ।
समता-सुधा न गाहै, जिन निकट जो बतायौ ॥

प्राणी अपने अज्ञान के कारण ही संसार में अनादिकाल से अटक रहे हैं और जन्म-मरण तथा इष्ट-वियोग व अनिष्ट-संयोग जनित दुःख उठा रहे हैं। यदि तनिक अपनी ओर देखें कि मैं तो ज्ञान-दर्शन मय आत्मा हूँ इन पुद्गलमय वस्तुओं से मेरा क्या वास्ता है, तो संसार से अरुचि उत्पन्न हो सकती है तथा आत्मविश्वास जम सकता है।

पुनश्च नरके रौद्रे, रोरवेऽत्यन्त भीतिदे ।
नानाप्रकारदुःखोघैः, संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥१४२॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! ऐसे ही अतिशय भयानक रौरव नाम के कष्टप्रद नरक में तू कर्मों के वश नाना प्रकार के दुःख समूहों से घिरा हुआ रहा है।

विशेषार्थ :– हे आत्मन् ! जब तूने अधिक पापों का संचय किया तब तू नरक में दीर्घकाल तक रहकर नाना प्रकार के भयानक दुःखों के बीच में पड़ा रहा। वहां नारकी जीव एक दूसरे को कष्ट देते हैं; तीसरे नरक तक तो असुरकुमार जाति के देव जाकर नारकियों को लड़ाते हैं; वहां भूमि बड़ी दुर्गन्धमय तथा कठोर है, पानी खारा है, वृक्षों के कांटेदार पत्ते होते हैं, नरक में कोई भी सामग्री सुखप्रद नहीं है। नरकों के दुःख जो शास्त्रों में कहे गये हैं उन्हें सुनने से मन कांप जाता है, जो भोगता है उन दुःखों को वही प्राणी जानता है या केवली भगवान जानते हैं। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी जीव प्रायः नरक जाते हैं, इस प्रकार के रौद्रध्यानों से बचना चाहिए क्योंकि ये नरकगति के कारण हैं।

देखो ! नरकगति में नारकी जीव दीर्घकाल तक रहते हैं परन्तु वे वहाँ पर कभी सुख शान्ति प्राप्त नहीं करते हैं; निरन्तर ही एक दूसरे से क्रोध करते हुए शस्त्रप्रहार, कायप्रहार तथा वचन प्रहार आदि से कष्ट देते हैं तथा सहते रहते हैं; उनकी भूख-प्यास की दाह शान्त होती ही नहीं। उन्हें खाने के लिए कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती है और न पीने को पानी मिलता है, यद्यपि वे मिट्टी खाते हैं, वैतरणी नदी का खारा पानी पीते हैं, परन्तु इससे न क्षुधा शान्त होती है और न प्यास बुझती है, उनका शरीर छिदने-भिदने पर भी पारे के समान मिल जाता है। वे सदा मरण चाहते हैं, परन्तु आयु पूरी हुए बिना नरक पर्याय छोड़ नहीं सकते हैं। वे पंचेन्द्रिय सैनी नपुंसक होते हैं। पाँचों ही इन्द्रियों के भोगों की लालसा रखते हैं; लेकिन उनके शमन का कोई साधन न मिलने से निरन्तर क्षुब्ध व संतप्त रहते हैं। नारकियों के परिणाम बहुत खोटे होते हैं। उनके कृष्ण, नील व कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। अभिप्राय यह है कि प्राणी अपनी अज्ञानता से विषय कषायों के वश होकर जितना ज्यादा आरंभ, परिग्रह संग्रह करेगा उतना ही वह नरक के सम्मुख जाएगा। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि प्राणी यह सब जानते हुए भी अपने स्वभाव की ओर नहीं झाँकता और न कभी विचार करता है कि जो पापरूपी बीज बो रहा हूं उसका फल भी तो मुझे ही भोगना पड़ेगा। अतः मानवों को पापों से डरना चाहिए तथा आत्मकल्याण में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

तप्ततैलिकभल्लीषु, पच्यमानेन यत्त्वया।
संप्राप्तं परमं दुःखं तद्वक्तुं नैव पार्यते ॥१४३॥

अर्थ :- नरक में गरम-गरम तेल के कढ़ाहों में पकाए जाने से जो महान् दुःख तूने पाया है उन दुःखों को कहने में कौन समर्थ है ?

विशेषार्थ :- नरकों के दुःख बड़े भयंकर हैं। गर्म-गर्म तेल के कढ़ाहों में नारकियों को गिरा देते हैं। उनमें पकते हुए उन नारकियों

को भयानक कष्ट भोगने पड़ते हैं, उन दुःखों का हमारे जैसे साधारण मानव कैसे वर्णन कर सकते हैं ? उनका स्मरण इस जीव को आज नहीं है। यदि वहां के दुःखों का स्मरण हो जावे तो प्राणी को असहनीय वेदना होती है।

नारकियों के पुद्गलों का स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सर्व बहुत अशुभ वेदनाकारी रहता है। वहाँ की भूमि कठोर व दुर्गन्धमयी होती है। नारकियों का शरीर बहुत ही कुरूप व भयावना होता है जिसको देखने से ग्लानि आ जावे। उन्हें अधिक शीत व उष्णता की घोर वेदना सहनी पड़ती है। इस तरह ज्यादा कहाँ तक कहा जावे नरकगति में प्राणी बहुत काल तक तीव्र पाप के फल से घोर वेदना सहते हैं। रौद्र-ध्यानी जीव अधिकतर नरक गति में जाते हैं; दुष्ट, परघातक, स्वार्थ-साधक, हिंसक परिणामों की प्रणाली को रौद्रध्यान कहते हैं। वे चार प्रकार के होते हैं— हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, ये चारों ही नरक के कारण हैं। दूसरे प्राणियों को कष्ट देकर वा कष्ट दिलाकर व देते हुए को जानकर मन में बड़ी प्रसन्नता होना वह हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। मृषानन्दो– जो व्यक्ति असत्य बोलता है या बुलवाता है तथा असत्य बोलने वाले की प्रशंसा करता है वह मृषानन्दी रौद्रध्यानी है। चौर्यानन्दी– चोरो करता है, करवाता है अथवा चोरी करते हुए की प्रशंसा करता है वह चौर्यानन्दी रौद्रध्यानी है। परिग्रहानन्दी– जो तृष्णावान होकर अन्याय से दूसरों को कष्ट देकर भी धनादि परिग्रह एकत्र करने की तीव्र लालसा रखता है वह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यानी है। अभिप्राय यह है कि चारों प्रकार के रौद्रध्यान करने वाले प्राणियों के भाव अशुभ हो रहते हैं, उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्या सम्बन्धी भाव पाये जाते हैं जिससे वे नरक आयु बाँधकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वहाँ भारी कष्टों को सहन करते हैं और चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं कि हमने पूर्व में भारी पाप बाँधे थे, वे अब उदय में आये हैं।

नानायंत्रेषु रौद्रेषु, पोडचमानेन वह्निना।
दुःसहा वेदना प्राप्ता, पूर्वकर्मनियोगतः ॥१४४॥

अर्थ :– पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय से नाना प्रकार के भयानक यंत्रों में तथा अग्नि के आताप से कष्ट पाकर तुझे दुःसह वेदना प्राप्त हुई है।

विशेषार्थ :– तीव्र पापकर्मों के उदय से नरक में नारकियों को बड़े-बड़े गर्म यंत्रों में पेलते हैं तब आग के आताप से उनको महान्, घोर कष्ट होता है जिसको कहाँ तक कहें। प्राणी कर्म बाँधते समय तो निःशंक होकर बाँध लेते हैं परन्तु जब उनका उदय आता है तो बड़े भारी कष्टों को नरकादि गतियों में उत्पन्न होकर सहन करते हैं। वे प्राणी अशुभ भावों से अन्याय, अत्याचार करने में नहीं चूकते हैं। अत्यन्त तृष्णावान होकर जगत् के प्राणियों को ठग लेते हैं, धोखा करते हैं तथा अपनी तृष्णा की आग को शमन करने के लिए वे जघन्य से जघन्य कार्य कर लेते हैं। इस प्रकार तृष्णान्ध प्राणी परिग्रह के मोह में अन्धा सा बन जाता है, वह कम तौलकर या कम मापकर या अच्छी वस्तुओं में बुरी वस्तु मिलाकर धन इकट्ठा करता है तथा धनवान होने पर अपना बड़ा गौरव मानता है। परन्तु जिन प्राणियों को संसार का डर है तथा जो नरकादि गतियों के दुःखों से भयभीत रहते हैं वे सोचते हैं कि अरे ! यह संसार असार है, थोड़ी सी जिन्दगी के लिए मैं क्यों पापों का संचय करूँ। वे ऐसा भी कहते हैं कि मेरी आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ मेरा है नहीं, इस प्रकार विचार करके वे अपनी आत्मा में लीन रहते हैं। वे भली प्रकार जानते हैं कि अनादिकाल से संसार के प्राणी अपने स्वरूप को भूलकर अपनी आत्मा से बहिर्मुखी होकर पर-पदार्थों को अपना रहे हैं, यदि वे एक बार भी तीन लोक की निधि से भी श्रेष्ठ अपने अनन्त गुणों के सौन्दर्य का दर्शन कर लें तो चिरस्थायी तृप्ति हो सकती है। देखो ! संसार के प्राणी जब कर्म बाँधते हैं तब ऐसा नहीं सोचते हैं कि जब ये कर्म उदय में आयेंगे तब उनका फल मुझे ही भोगना होगा। एक बात यह भी बड़ी मजे की है कि प्राणी के जब पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय आता है तब रोता है, चिल्लाता है और कहता है कि मैं आइन्दा

कभी गलती नहीं करूँगा; परन्तु फिर थोड़ा साता का उदय आते ही सब भूल जाता है और निःसंकोच होकर कर्म बाँधता है। एक सियार सर्दी के दिनों में रात्रि के समय शीत से बहुत घबराता था और सोचता था कि मैं कल दिन में धूप होते ही अपनी घूरी खोद लूंगा ताकि सर्दी से आइन्दा बच जाऊँगा परन्तु सबेरा होते ही धूप में दिन भर इधर-उधर दौड़ता फिरता है, फिर रात्रि आती है तो सर्दी से आकुल-व्याकुल होकर कहता है कि कल तो अपने बचाव के लिए घूरी जरूर ही खोदूंगा वह रोजाना इसी प्रकार सोचता है परन्तु दिन में प्रमादवश घूरी नहीं खोदता है। ठीक उसी प्रकार पापोदय में प्राणी छटपटाता है और सोचता है कि आइन्दा मैं पापकार्य नहीं करूँगा किन्तु साता का उदय आते ही फिर अज्ञानवश पाप पूर्ण प्रवृत्तियों में लग जाता है।

विण्मूत्रपूरिते भीमे, पूतिश्लेष्मवसाकुले ।
भूयो गर्भगृहे मातुर्दैवाद्यातोऽसि संस्थितिम् ।।१४५।।

अर्थ :—कर्मों के उदय से फिर इस जीव को विष्टा और मूत्र से भरे हुए भयानक पीव, कफ, चरबी से पूर्ण माता के गर्भ में रहकर समय बिताना पड़ता है।

विशेषार्थ :— इस भयानक संसार में भ्रमण करते हुए कभी इस जीव ने यदि मन्द-कषाय से मानव आयु बांध ली तो यह मनुष्यगति में आकर माता के गर्भगृह में नौ मास तक उल्टा रहता है। वह गर्भगृह नरक के समान है; मल, मूत्र से भरा हुआ है; पीव, कफ, चरबी से पूर्ण है तथा कृमियों से भरा हुआ है। ऐसे स्थान में इस जीव को उल्टा टंगना पड़ता है, माता के आहार की जूठन से इसका पालन होता है। इस प्रकार मनुष्य गति में गर्भ में नौ मास रहने का बड़ा भारी कष्ट होता है, फिर जन्मते समय घोर कष्ट होता है। मनुष्य गति के दुःख भयानक हैं, इस पर्याय में इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, तृष्णा के दुःख अधिकांश जीवों को भोगने पड़ते हैं; इसके सिवाय रोगादि के, दरिद्रता

के और इच्छित वस्तुओं के न पाने आदि के बड़े कष्ट होते हैं, जिनका कहना भी शक्य नहीं है।

वास्तव में, यह प्राणी जब माता के गर्भ में नौ मास तक रहता है उस समय की जो वेदना इसे भोगनी पड़ती है वह बड़ी कष्टदायक होती है। आज जो मानव धन, परिवार तथा शरीर के मद में मस्त हो रहे हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि हम बड़े आदमी हैं, यौवन सम्पन्न हैं और धनवान हैं इस प्रकार मन में फूल रहे हैं, उन्हें जरा सोचना चाहिए कि क्या यह आनन्दप्रद सामग्रियाँ हमेशा ही रहेंगी ? क्या यह शरीर हमेशा ऐसा ही नीरोग रहेगा ? इस प्रकार समीचीन दृष्टि डालने से भान होगा कि यह सब नाशवान् है, क्षणिक है। यथार्थ में ये ठाट-बाट हमेशा रहने वाले नहीं तो फिर तनिक सोचें कि इस असार संसार में यह आत्मा अनादिकाल से अकेला ही था और अकेला ही है तथा अकेला ही रहेगा। इस प्रकार सर्वदा अपने को अकेला समझने वाला व्यक्ति ही पर-जनित दुःखों से छुटकारा पा सकता है। इसलिए हे आत्मन् ! जो तुमने पूर्व में पाप किए हैं उनका फल तो तुम्हें ही भोगना है। चाहे शान्ति से सहो चाहे रोकर सहो। याद रखो कि यदि शान्ति से सहोगे तो उदय में आया हुआ कर्म अपना फल देकर चला जाएगा, यदि अशान्ति करोगे तो उसका फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। परन्तु भविष्य में अनेक नए पाप बँध जाएँगे जिनका फल भव-भव में भुगतना पड़ेगा।

तिर्यग्गतौ च यद् दुःखं, प्राप्तं छेदनभेदनैः।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तुं, जिह्वाकोटिशतैरपि ॥१४६॥

अर्थः– तिर्यंच गति में छेदन-भेदन के द्वारा जो दुःख उठाए हैं उनको कोई मनुष्य अपनी करोड़ों जिह्वाओं के द्वारा भी कहने में समर्थ नहीं है।

विशेषार्थ :– पशु गति में एकेन्द्रिय स्थावरों के छेदन-भेदन के दुःख विचार में भी नहीं आ सकते हैं, पराधीनपने उनको सहने पड़ते हैं।

विकलत्रय जीव भी गर्मी, सर्दी, भूख-प्यास के अनेक कष्ट सहते हैं, मानवों द्वारा प्रमादपूर्वक किए गए कार्यों से वे बड़े कष्ट से प्राण देते हैं। पंचेन्द्रिय सैनी पशु मारण, ताड़न, अधिक भार लादना, कठोर वचन, प्रहार और सबलों द्वारा सताये जाने से महान् दुःख पाते हैं।

वास्तव में, विचार किया जावे तो विदित होगा कि जिन पशु-पक्षियों का कोई पालक नहीं हैं, उनको रातदिन भोजन ढूंढ़ते हुए बीतता है फिर भी पेट भर खाने को नहीं मिलता, वे बेचारे भूख-प्यास, सर्दी व गर्मी से तड़फ-तड़फ कर मरते हैं। शिकारी लोग निर्दयता से गोली व तीर मारकर उन्हें मार डालते हैं, मांसाहारी पकड़कर कसाईखानों (बूचड़-खानों) में उन पर शस्त्र चलाते हैं और मार डालते हैं। पशु-बलि करने वाले धर्म के नाम पर उन बेचारे मूक पशुओं को बड़ी ही कठोरता से मारते हैं और कहते हैं कि इन्हें स्वर्ग मिल जाएगा। देखो ! निर्दय प्राणियों में इतना भी विवेक नहीं है कि आखिर इनमें भी जान है; खेद के साथ लिखना पड़ता है कि वे धर्म के ठेकेदार मुंह फाड़-फाड़ कर कहते हैं कि "दया धर्म का मूल है" परन्तु न जाने उनका विवेक कहाँ चला गया, उन्हें तनिक सोचना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी में आत्मा है और सभी सुखी रहना चाहते हैं फिर क्यों ऐसा अन्याय करते हैं। देखो ! बड़े आश्चर्य की बात है कि वे लोग अपने ही शास्त्रों के आधार से कहते हैं—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ।। मार्तण्ड पुराण

ऐसा कहते हुए भी पशुबलि जैसे जघन्य कार्य को धर्म के नाम पर करते हैं न जाने इसमें क्या हेतु है। अरे ! एक तरफ तो कहते हैं कि आत्मा सो परमात्मा, सभी आत्माओं में परमात्मा का निवास है और दूसरी तरफ वे ही कहने वाले भाई उन बेचारे पशुओं का बलि के नाम से कत्ल करते हैं। अतः प्राणियों को विवेक रखते हुए पाप कर्मों से बचना चाहिए जिससे संसार लम्बा न बने तथा प्रमाद न करके अपने आत्महित में प्रयत्न करना चाहिए।

संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं, यत्र प्राप्तमनेकधा ।
देवमानवतिर्यक्षु, भ्रमता जन्तुनानिशं ॥१४७॥

अर्थ :- संसार में ऐसा कोई सुख नहीं है जो अनेक तरह से जीव ने रातदिन देव, मनुष्य और तिर्यंच गतियों में भ्रमते हुए न पाया हो।

विशेषार्थ :- नरकगति में तो दुःख ही दुःख है; पशु, मनुष्य और देवगति में कुछ सांसारिक सुख है उन सुखों को इस जीव ने बार-बार इन गतियों में जन्म ले लेकर पाया है, तो भी इन सुखों से इसकी तृप्ति नहीं हुई। इस जीव के अनादिकाल से ही धन, वैभव, राज्य आदि की प्राप्ति होती आई है, इसने जन्म-जन्मान्तरों से इन्द्रियजनित सुखों को भोगा है परन्तु इसे आजतक तृप्ति नहीं हुई। जिस प्रकार अग्नि में ईंधन डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-तृष्णा के कारण इन्द्रिय-सुख की लालसा दिनों-दिन बढ़ती जाती है, यह जीव विषयों से कभी तृप्त नहीं होता है। जैसे कुत्ता हड्डी को चबाते हुए अपने मसूड़े से निकलने वाले रक्त को चाट कर आनन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार यह विषयी जीव भी विषयों में अपनी शक्ति को लगाकर आनन्द का आस्वादन करता है। पर-पदार्थों में आनन्द नहीं है, आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है जब आत्मा की अनुभूति होती है तब स्वतः आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

विषय-तृष्णा से प्राणियों को अशान्ति के सिवाय और कुछ नहीं मिल सकता है। यह प्राणी अपने रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को भूलकर मदोन्मत्त हाथी के समान विषयों की ओर झपटता है। आचार्यों ने इन्द्रियजनित सुखों का वर्णन करते हुए बताया है कि ये विषय प्रारम्भ में बड़े सुन्दर मालूम होते हैं, इनका रूप बड़ा ही लुभावना है, जिसकी दृष्टि इनपर पड़ती है वही इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है परन्तु इनका परिणाम हालाहल विष के समान होता है। विष तत्क्षण मरण करा देता है, परन्तु ये विषय-सुख तो अनन्त भवों में संसार का परिभ्रमण कराते हैं। इनका फल इस जीव के

लिए अत्यन्त अहितकर होता है। इनसे क्षणिक शान्ति जीव को भले ही प्रतीत होती हो परन्तु अन्त में दुःख ही होता है।

अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणियों को विषय-अभिलाषा लगी रहती है, तब तक आत्मसुख का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, जिन बाह्य वस्तुओं में यह जोव सुख समझता है तथा जिनके मिलने से इसे प्रसन्नता होती है और जिनके पृथक् हो जाने से इसे दुःख होता है, सोचो! क्या सचमुच में इन पर-पदार्थों से आपका कोई सम्बन्ध है? पर-पदार्थ तो पर ही रहेंगे; उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। ऐसा जानकर पर को छोड़कर निज में रति करो।

चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन्, संसारेऽत्यन्तभीतिदे।
सुखदुःखान्यवाप्तानि, भ्रमता विधियोगतः ॥१४८॥

अर्थः– इस महान् भयदायी चारगतिमयी संसार में कर्मों के उदय से भ्रमण करते हुए इस जीव ने अनेक सुख व दुःख पाए हैं।

विशेषार्थ :– यह संसार भ्रमणमय है। कर्मों के उदय से यह जीव बार-बार नरक, पशु, मानव और देव इन चारों गतियों में जाकर अच्छी या बुरी अनेक पर्यायों को धारण कर चुका है। निगोद से लेकर नव ग्रैवेयक तक के शरीर इसने बार-बार धारण किए और छोड़े हैं। कभी कहीं दुःख तो कभी कहीं सुख पाया है। संसार में ऐसा कोई दुःख बचा नहीं जो न पाया हो, सुखों में उन्मत्त हुआ परन्तु तृप्ति रंचमात्र प्राप्त नहीं हुई, तृष्णारूपी रोग बढ़ता ही गया। सचतो यह है कि यह जीव जब तक पर-पदार्थों में आसक्ति तथा ममत्व रखता है तभी तक वे पर-पदार्थ उसके लिए सुख-दुःख के कारण होते हैं, परन्तु जब पर से मोह बुद्धि हट जाती है तो उसे पर-पदार्थ सम्बन्धो हर्ष-विषाद नहीं होते हैं। यह आत्मा ज्ञान, दर्शन सुख का भण्डार है। यह वैभव रत्नत्रय की आराधना से प्राप्त किया जा सकता है, रत्नत्रय ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है वही इसके लिए आराध्य है तथा उसी के द्वारा इसे परम सुख की प्राप्ति हो सकती है।

यदि मानव को धर्म-अधर्म और सदाचार-दुराचार के मार्ग का निर्णय हो जाए तो संसार में रहते हुए भी उसे स्वर्गीय सुख, समृद्धि और शान्ति प्राप्त होने में कोई संशय नहीं रहता। संसार में रत्नत्रय धर्म ही आत्म-सुख का कारण है, जिसमें सम्यग्दर्शन तो मुक्तिरूपी सुन्दरी के मुख का अवलोकन करने के लिए दर्पण सदृश है तथा सम्यग्ज्ञान संसार-समुद्र में डूबते हुए प्राणियों को निकालने के लिए हस्तावलम्बन के समान है; सम्यक्चारित्र काम, क्रोध एवं भोगरूपी अप्रशस्त राग के अंगारों में तप्तायमान जीवों के संताप को नाश करने के लिए घनघोर मेघ के समान है। अतः मानवों को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को संसार के कारण जानकर छोड़ देना चाहिए तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग जानकर इनकी आराधना करनी चाहिए। ऐसा करने से मानव एक दिन महामानव बन जाता है। सारांश यह है कि अपना हित और अहित करना प्राणियों के अपने ही आधीन है। फलतः हित प्राप्त करने के लिए और अहित से बचने के लिए अपने परिणामों को संभालो और सदा-सदा के लिए सुखी हो जाओ।

१२. वैराग्य की आवश्यकता

एवं विधमिदं कष्टं ज्ञात्वा-त्यन्तविनश्वरम्।
कथं न यासि वैराग्यं, धिगस्तु तव जीवितम्॥१४९॥

अर्थ :– इस तरह चारों गतियों में इस भ्रमण के कष्ट को अत्यन्त विनाशीक जानकर क्यों वैराग्य को प्राप्त नहीं होते हो? तुम्हारे इस जीवन को धिक्कार हो।

विशेषार्थ :– वास्तव में, वह जीवन धिक्कारने ही योग्य है, जो कष्ट ही कष्ट में बीते। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वशीभूत होकर इस जीव ने जन्म-मरण के घोर कष्ट सहे। सर्व प्रकार के सुख-दुःख भोगे, परन्तु कभी संतोष और सुख-शान्ति का लाभ

नहीं हुआ; जीवन दुःखमय ही बना रहा, वृथा ही जीवन की यात्राएँ बीतीं। अपने भीतर जो सुख शान्ति भरी है उसको प्राप्त न किया, कर्मों की पराधीनता में दुःख ही दुःख भोगे; जिन असार सुखों को बार-बार परीक्षा करके देख लिया कि यह उपाय इच्छा-रोगों के शमन का नहीं है, फिर भी यह मूर्ख अज्ञानी प्राणी वैराग्यभाव नहीं रखता तथा सच्चे सुख का उपाय नहीं करता है।

वास्तव में, जो व्यक्ति आत्मा-अनात्मा के भेद को नहीं जानता है वह मिथ्यादृष्टि है। सच पूछो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयंकर शत्रु है। यही चतुर्गति में रुलाने वाला है। इसी मिथ्यात्व के कारण जीवों को पदार्थों का स्वरूप विपरीत भासता है, जैसे– किसी को कामला रोग हो जाए तो उसे अपने चारों ओर पीला ही पीला दिखता है। जो वस्तुएं सफेद हैं वे भी उसे पीली दिखती हैं, ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से पदार्थ दूसरे रूप में दिखलाई पड़ते हैं। यथार्थ में, मानव जबतक अपनी दृष्टि समीचीन नहीं करेगा तब तक वह अपने इष्ट स्थान पर नहीं पहुंच सकता है। एक व्यक्ति, मानलो, बनारस से श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के लिए जा रहा है। शिखरजी बनारस से पूर्व को है। वह गलती से पश्चिम की ओर जा रहा है उसे चलते-चलते बहुत समय हो गया परन्तु वह श्री सम्मेदशिखरजी नहीं पहुंचा। उसने किसी को पूछा भाई ! मुझे बहुत दिन चलते-चलते हो गये परन्तु श्री सम्मेदशिखरजी नहीं आए तब उस व्यक्ति ने कहा– आप कहाँ से आ रहे हैं ? उसने कहा– मैं बनारस से आ रहा हूं तो उसने कहा आपने रास्ता ही उल्टा ले लिया, आपको बनारस से पूर्व की ओर जाना था लेकिन आप तो पश्चिम की ओर जा रहे हैं अर्थात् आप जितना-जितना चल रहे हैं उतना-उतना सम्मेद-शिखरजी से दूर जा रहे हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की क्रिया उल्टे बन्ध को प्राप्त होती है अर्थात् मोक्ष से दूर ही जाती है मानव यदि अपना मार्ग सही जान ले और उस पर चले तो वह अपने इष्ट स्थान पर शीघ्र पहुंच सकता है।

जीवितं विद्युता तुल्यं, संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः, शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥१५०॥

अर्थ :- यह जीवन तो बिजली के चमत्कार के समान क्षणभंगुर है; स्त्री, पुत्र कुटुम्बादि का संयोग स्वप्न के समान है; जगत् के प्राणियों के साथ स्नेह संध्या की लाली के समान है और तिनके पर पड़ी हुई ओस की बिन्दु के समान शरीर पतनशील है ।

विशेषार्थः-यह मूढ़ प्राणी जिन-जिन पदार्थों में मोह करता है वे सब पदार्थ नश्वर हैं । जीवन मृत्यु के मुख में है, यह नहीं मालूम कि मृत्यु इस शरीर को कब निगल जावे । जिन-जिन स्त्री, पुत्र, मित्रादि के संयोग से हम बड़े राजी होते हैं और अपने को बहुकुटुम्बी समझते हैं, वे देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं तब ऐसा ही भान होता है मानों स्वप्न में ही उनको देखा हो । किसी से स्नेह हो वह जरासी देर में रुष्ट हो जाता है, उसकी इच्छानुसार कार्य न करने से ही वह वैरो हो जाता है जैसे- संध्यासमय की लाली अवश्य विनष्ट हो जाती है । तिनके के ऊपर रखी हुई बिन्दु के गिर जाने का सदा ही खटका बना रहता है वैसे ही इस शरीर के गिर पड़ने का या रोगी हो जाने का सदा ही डर लगा रहता है ।

संसार के प्राणी विपत्ति आने पर नाना प्रकार से संताप करते हैं, दुःख करते हैं, शोक करते हैं और अपने किए हुए पापों को याद कर पश्चात्ताप भी करते हैं कि हाय ! हमने कोई महान् पाप किए थे परन्तु फिर भी रातदिन अन्याय, अत्याचार में लगे रहते हैं । तृष्णा की पूर्ति के लिए परिग्रह, धन-धान्य, वस्त्र, आभूषण आदि के संग्रह के लिए रात-दिन श्रम करते हैं तथा क्षणिक विषय-भोगों को भोगते हैं, इनके न मिलने पर कष्ट और बेचैनी का अनुभव करते हैं । वास्तव में, यह क्षणिक है, जैसे- आकाश में बिजली चमकती है और तत्क्षण ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार यह जीवनभी क्षणभर में नष्ट होने वाला है अथवा जिन-जिन वस्तुओं का संयोग हुआ है उनका निश्चय से वियोग

होगा तथा यह जो स्नेह (प्रेम) है यह भी स्वार्थ के निकलते ही नहीं रहेगा। ऐसी हालत में भी यदि मानव अज्ञानवश इनसे ममत्व नहीं छोड़ता है तो यह अपनी आत्मवञ्चना ही करता है। खेद की बात है कि अज्ञान वश यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर इन विषयों में लीन हो गया है। अतः विषय-कषाय का त्याग करके मनुष्य-जीवन का उपयोग आत्मकल्याण के लिए करना चाहिए। यदि अवसर हाथ से निकल गया तो फिर हाथ मल-मलकर रोना ही शेष रहेगा।

शक्रचापसमा भोगाः, सम्पदो जलदोपमाः।
यौवनं जलरेखेव, सर्वमेतदशाश्वतम् ॥१५१॥

अर्थ :— इन्द्रियों के भोगने योग्य पदार्थ इन्द्रधनुष के समान देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं; सम्पत्तियां मेघों के विघटने के समान नष्ट हो जाती हैं; पानी में खींची हुई रेखा जैसे तुरन्त मिट जाती है वैसे ही यौवन शीघ्र मिट जाता है, ये सब सदा रहने वाले नहीं हैं अर्थात् सब नाशवान हैं।

विशेषार्थ :— अज्ञानी प्राणी जिन-जिन पदार्थों को स्थिर मानकर निश्चिन्त होकर धर्म-साधन से विमुख रहता है वे सब पदार्थ पूर्णतः नश्वर हैं। भोग इन्द्रधनुष के समान हैं। सम्पत्तियाँ मेघ के समान हैं। यौवन जल की रेखावत् क्षणिक है। ऐसा जानकर बुद्धिमान प्राणियों को उचित है कि वे भोगों में लिप्त न होवें तथा सम्पत्ति पाकर उन्मत्त न होवें, जवानी का गर्व न करें, परन्तु इन सबको नाशवंत जानकर अपने कल्याण में कुछ भी प्रमाद न करें, निरन्तर धर्म-साधन करके आत्महित करें।

संसार की अवस्था यह है कि मनुष्य मोह के कारण अपनी इस सुन्दर पर्याय को यों ही बरबाद कर देते हैं। प्रतिदिन सवेरा होता है और शाम हो जाती है। इस प्रकार निरन्तर आयु क्षीण होती जा रही है दिन रात तेजी से व्यतीत होते चले जा रहे हैं। संसार में जिनके पुण्य

का उदय है वे सुखी हैं अर्थात् उनकी आजीविका अच्छी तरह चल रही है, उन्हें समय निकलते मालूम नहीं होता है तथा वे हँसते-खेलते, मनोरंजन पूर्वक अपनी आयु व्यतीत कर देते हैं। परन्तु जिनके पाप का उदय है वे रोते-रोते दुःखी हालत में अपनी आयु व्यतीत कर रहे हैं। इस हालत में तनिक विचारने की आवश्यकता है कि क्या यह मनुष्य जीवन इसीलिए प्राप्त हुआ था कि खा लिया, पहन लिया, बच्चे उत्पन्न कर लिए तथा उनकी सुरक्षा के लिए धन संग्रह करते-करते एक दिन मुँह फाड़ कर मर गये ? आचार्य कहते हैं कि भाई जरा सोचो ! यह काम तो सामान्य जीव तथा पशु-पक्षी भी करते हैं, तो फिर आपकी मनुष्य-पर्याय किस काम की ? देखो ! कहां तो आपकी आत्मा का अनाकुल सुख और कहां यह पर्यायाश्रित विकल्पों का भार ? अर्थात् कहां तो आपका यह मानव-जन्म का अमूल्य क्षण और कहां यह रातदिन परिग्रह-संचय में हाय ! हाय ! समझदारी तो यह है कि आप इन दोनों को ज्ञानरूपी तराजू पर तौलकर इनके महत्त्व को समझो। हे आत्मन् ! तुझ में तो अचिन्त्य शक्ति है, परन्तु वह कर्मों से आवृत हो रही है। यदि भेद-ज्ञान से अवलोकन करो तो शक्ति ही शक्ति नजर आएगी। इस विषय में प्रमाद न करके आत्मकल्याण के मार्ग में जुट जाना ही श्रेष्ठ है।

समानवयसा दृष्ट्वा, मृत्युना स्ववशीकृताः।
कथं चेतः समो नास्ति, मनागपि हितात्मनः॥१५२॥

अर्थ:– मृत्यु ने सबको समान देखकर अपने वश कर लिया है, अर्थात् मरण के सामने कोई छोटा या बड़ा नहीं है; बालक, युवा, वृद्ध सर्व ही मरण के आधीन हैं, मरने का कोई समय नहीं है फिर भी अपने आत्मा के हित में मन क्यों नहीं लगता ? यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि जब मरण का निश्चय नहीं है तब तो प्राणियों को आत्म-हित में कुछ भी ढील नहीं करनी चाहिए परन्तु उस ओर से सब विमुख हैं।

विशेषार्थ :– संसार में सम्यग्दृष्टि प्राणी आत्मा की अमरता पर विश्वास होने के कारण अपने उज्ज्वल भविष्य का विश्वास करते हैं और भावी जीवन को जीर्ण-कुटी के स्थान पर भव्य भवन मानते हैं तथा विचार करते हैं —

"मृत्यु होने से हानि कौन है ? – याको भय मत लाओ।
समता से जो देह तजो तो शुभ-तन तुम पाओ ॥
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माहीं ।
जीरण तनसों देत नयो यह या सम साहू नाहीं ॥
या सेती इस मृत्यु समय पर उत्सव अति ही कीजे ।
क्लेश भाव को त्याग सयाने, समता भाव धरीजे ॥"

अभिप्राय यह है कि ज्ञानी जीव अपनी आत्मा का मरण न मानकर शरीर का नाश मानते हैं, इस हालत में वे मृत्यु-वेला में शोक न करके महोत्सव मनाते हैं और विचार करते हैं कि यह मृत्यु तो मेरा उपकार करने वाली है; इस प्रकार अपनी आत्मा को उत्साहित करते हुए वे सोचते हैं और कहते हैं कि—

" जो तुम पूरब पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु मित्र विन कौन दिखावै, स्वर्ग-सम्पदा भाई ॥
कर्म महादुठ बैरी मेरो, ता सेती दुःख पावै ।
तन-पिंजर में बन्द कियो मोहि, यासों कौन छुड़ावै ॥
भूख-तृषा दुःख आदि अनेकन, इस ही तनमें गाढ़े।
मृत्युराज अब आय दयाकर, तन-पिंजर से काढ़े ॥"

वास्तव में सम्यग्दृष्टि की विचारधारा बहुत सुन्दर होती है वह हर समय अपने विचारों को समीचीन रखता है तथा मृत्यु को शुभ-यात्रा का अवसर मानता है। वह जानता है कि मृत्यु किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करती है, सबको समान दृष्टि से देखती है; मृत्यु की दृष्टि में क्या बूढ़ा, क्या जवान और क्या बालक सभी समान हैं। आयु का अन्त होना ही तो मृत्यु है।

सर्वाशुचिमये काये, नश्वरे व्याधिपीडिते ।
को हि विद्वान् रतिं गच्छे-द्यस्यास्ति श्रुतसंगमः ॥१५३॥

अर्थ :– यदि किसी को शास्त्रज्ञान का समागम है तो भला फिर ऐसा विद्वान कौन होगा जो रोग से पीड़ित सर्व प्रकार से अपवित्र एवं नाशवान शरीर में आसक्त होगा ?

विशेषार्थ :– जिसने शास्त्रों को पढ़कर वा सुनकर शरीर और आत्मा का ठीक-ठीक स्वरूप जाना है तथा तत्त्वों का मनन किया है तो वह विद्वान भूलकर भी इस नाशवान-अपवित्र एवं रोगों से पीड़ित शरीर में रति नहीं करेगा। वह तो इस शरीर के बन्धन से छूटना ही चाहेगा; आत्महित में तनिक भी प्रमाद नहीं करेगा।

संसार में विद्वान वही है जो विचारपूर्वक कार्य करे। ऐसा प्राणी शरीर के सौंदर्य पर मुग्ध नहीं होता है वह तो जानता है कि यह शरीर अपवित्र पदार्थों का भण्डार है क्योंकि इसकी उत्पत्ति ही घृणित वस्तुओं से हुई है। माता का रज तथा पिता का वीर्य इसका बीज है, इसमें यदि सार है तो एक मात्र इस शरीर से तप करना है। इस विषय में कविवर दौलतरामजी ने एक मन-मोहक पद लिखा है जो मनन करने लायक है—

"मत कीज्यो जी यारी, घिनगेह देह जड़ जानके। टेक ॥
मात-तात रज-वीरज सौं यह, उपजो मल-फुलवारी।
अस्थिमाल, पल, नसा-जाल की, लाल-लाल जल क्यारी ॥मत०॥
कर्म-कुरंग थली-पुतलो यह, मूत्र-पुरीष भंडारी।
चर्म-मढ़ो रिपुकर्म-घड़ी, धन-धर्म चुरावन हारी ॥मत०॥
जे जे पावन वस्तु जगत में, ते इन सर्व बिगारी।
स्वेद, मेद, कफ क्लेदमयी, बहु मदगदव्यालपिटारी ॥ मत० ॥
जा संयोग रोग भव तौलौं, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासौं न ममत्व करें, यह मूढ़ मतिन को प्यारी ॥ मत० ॥

जिन पोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुःख भारी ।

जिन तप ठान ध्यानकर शोषी, तिन परनी शिवनारी ।।मत० ।।

सुर-धनु, शरद-जलद, जलबुद-बुद, त्यौं झट विनशनहारी ।

यातैं भिन्न जान निज चेतन, "दौल" होहु शमधारी ।। मत० ।।

इस प्रकार मानवों को शरीर से ममत्व न करते हुए इसके द्वारा तप करना उचित है। वास्तव में, मानव देह का पाना तभी सार्थक है, जब इस शरीर के द्वारा अपने अनादिकाल के बाँधे हुए कर्मों को काट दिया जाए और शाश्वत सुख प्राप्त कर लिया जावे।

चिरं सुपोषितः कायो, भोजनाच्छादनादिभिः ।
विकृतिं याति सोऽप्यन्ते, कास्था बाह्येषु वस्तुषु ।।१५४।।

अर्थ :– यह काय भोजन-वस्त्रादि से चिरकाल तक भले प्रकार पालन की जाती है, ऐसी यह काय भी अन्त में या मरण के समय विकार को प्राप्त हो जाती है, बिगड़ जाती है, तब भला फिर बाहरी पदार्थों में क्या विश्वास किया जावे।

विशेषार्थ :– वास्तव में, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, मकान, नौकर, वस्त्र, रुपया-पैसा आदि पदार्थ अपने से बिलकुल भिन्न हैं तथापि उनका सम्बन्ध इस शरीर से है। देखो ! जिस शरीर के साथ यह आत्मा रातदिन रहता है तथा जिसे वह रातदिन भोजन वस्त्रादि देकर पालता है और बड़ी भारी सम्भाल करता है; इस शरीर के पीछे धर्म-कार्य में भी हानि पहुंचा देता है परन्तु वही शरीर अन्त में अपने को छोड़ देता है। विचार करो, जब यह शरीर भी अपना नहीं रहता है तब बाहरी पदार्थों में कैसे विश्वास किया जावे कि ये अपने रहेंगे अर्थात् इस आत्मा का कोई साथी-संगी नहीं है, एक अपना पाला हुआ धर्म है जो हर जगह सहायक होता है, इसलिए शरीर के पीछे आत्महित न करना भारी भूल है सारांश यह है कि जब रातदिन पुष्ट किया हुआ यह शरीर भी परलोक में साथ नहीं जाता तो बाह्य स्त्री, पुत्र, धन आदि कैसे साथ देंगे ? इस विषय में एक मार्मिक कथन है—

एक सेठजी बड़े तत्त्वज्ञ थे, वस्तुस्वरूप पर विचार करते थे अर्थात् संसार को असार मानते थे, परन्तु उनकी सेठानी बड़ा प्रेम जताती थी। सेठजी ने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञ महापुरुषों ने तो बताया है कि सभी प्राणी मतलब से प्रेम करते हैं; किन्तु यह इतना कैसे करती है? वह सेठानी कहती थी– सेठजी! मैं तो आपका मुंह देखे बिना रोटी भी नहीं खाती हूं, इत्यादि। इन बातों को देखकर एक दफा सेठजी ने सोचा कि इसकी परीक्षा करूंगा। एक दिन सेठजी ने शाम को कहा– आज तो मेरा पेट दुःख रहा है। सेठानी ने कहा– कोई वैद्य-डॉक्टर को बुलाऊं? सेठजी ने कहा–तुम जानती हो– मैं रात्रि में चारों आहारों का सर्वथा त्यागी हूँ इसलिए सूर्योदय के पहले मुझे दवा तो लेना नहीं फिर क्या फायदा; देखें! अभी शान्ति मिल जाती है, इस प्रकार जब रात के दस बज गए तो सेठजी ने कहा सेठानी! मेरा पेट तो उत्तरोत्तर ज्यादा दुःखता जा रहा है। इस प्रकार करते-करते सेठजी ने परीक्षा लेने हेतु, अपने पूर्व अभ्यास के बल से सांस खींचली और हाथ पांव फैला दिए। यह देख सेठानी ने सोचा हाय भगवन्! ये तो मर गये। ऐसा जानकर सेठानी ने सेठजी को आंगन में सुला दिया और कपड़ा ढ़क दिया। अब सेठानी विचार करती है– अभी तो आधी रात ही हुई है यदि मैं अभी से रोने लगूंगी तो सवेरा होने तक मेरा गला बैठ जाएगा, सवेरे लोग-बाग आएँगे तब इन्हें उठायेंगे। फिर दाह-क्रिया करके वापिस आयेंगे; इतने में तो मैं भूख से परेशान हो जाऊंगी। ऐसा विचार करके सेठानी ने रसोईघर में जाकर आग जलाई और आटा गूंधकर जाड़ी मोटी दो रोटियाँ बनाई, यह हाल सेठजी प्रत्यक्ष देख रहे थे। जब रोटियाँ तैयार हो गई तो सेठानी ने एक रोटी तो खा ली तथा दूसरी को अपनी खाँख में रखली और जोर से रोने की आवाज लगाई, हाय भगवन्! मैं तो लुट गई, हाय! सेठजी!! आदि। तब सेठजी ने सोचा खामोखाम में सारे नगर में बदनामी हो जाएगी, तब सेठजी ने अपने ऊपर का कपड़ा उतारते हुए कहा! 'हाथ मांयली तो खा ली, अब खाँख मांयली खावो जी;" यह सुनकर सेठानी ने सोचा-हाय भगवन्! ये तो

जिन्दे हैं। अब तो सेठानी बड़ा प्रेम बताने लगी, सेठजी ! मेरी बुद्धि मारी गई, क्षमा करो। तब सेठजी ने कहा– क्षमा तो सूर्योदय होने से करूंगा, इस प्रकार जब सवेरा हुआ तो सेठजी संसार के स्वरूप को भली प्रकार जानकर दीक्षा हेतु वन चले गए। कहने का सार यह है कि संसार में सारे नाते-रिश्ते मतलब के ही हैं।

नायातो बन्धुभिः सार्द्धं, न गतो बन्धुभिः समं ।
वृथैव स्वजने स्नेहो, नराणां मूढचेतसाम् ॥ १५५ ॥

अर्थ :– यह जीव अपने भाई-बन्धुओं के साथ-साथ नहीं जन्मता है और न उन बन्धुओं के साथ-साथ मरता है। मूढ़बुद्धि मानवों का अपने बन्धु एवं रिश्तेदारों में स्नेह वृथा ही है।

विशेषार्थ :– जो मूढ़ प्राणी हैं, जिनको अपने आत्मा के स्वभाव का व उसकी भिन्न सत्ता का विश्वास नहीं है वे रातदिन स्त्री, पुत्र, मित्रादि के स्नेह में पागल रहते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न ही पैदा होता है और भिन्न-भिन्न ही मरता है। न कोई किसी के साथ जन्मता है और न कोई किसी के साथ मरता है; अर्थात् एक कुटुम्ब में जीव विभिन्न गतियों से आकर जन्म लेते हैं, कोई तिर्यञ्चगति से, कोई मनुष्य गति से, कोई देवगति से और कोई नरक गति से आते हैं। सब अपने पुण्य-पाप के अनुसार कोई किसी गति में तथा कोई किसी गति में मरकर चले जाते हैं। किसी के साथ किसी का चिरकाल का सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि प्राणी एक कुटुम्ब में रहते हुए भी सब कोई अपने स्वार्थवश ही एक दूसरे से स्नेह करते हैं। इसलिए ज्ञानी प्राणियों का कर्त्तव्य है कि वे इन कुटुम्बीजनों के पीछे अपने आत्मा के हित को कभी न भूलें तथा जल में कमलवत् अलिप्त रहते हुए अपने आत्मोद्धार में सदा सावधान रहें। इस विषय में कवि भागचन्दजी का यह पद कितना हृदयग्राही है—

"जीव ! तू भ्रमत सदैव अकेला। कोई संग न साथी तेरा ॥ टेक ॥

अपना सुख-दुःख आप ही भुगतै, होत कुटुम्ब न भेला।
स्वार्थ भयै सब बिछुरि जात है, विघट जात ज्यों मेला ॥ १ ॥
रक्षक कोई न पूरन ह्वै जब, आयु अन्त की बेला।
फूटत पाल बधत नहीं जैसे, दुद्धर-जल का ठेला ॥ २ ॥
तन-धन-जीवन विनसि जात ज्यों, इन्द्रजाल का खेला।
भागचन्द इमि लखकर भाई, हो सत्गुरु का चेला ॥ ३ ॥"

इस प्रकार अजर-अमर पद की हृदय से आकांक्षा करने वाला प्राणी यही चिंतन करता है कि मैं अकेला ही आया था और अकेला ही जाऊंगा, यह जो स्त्री, पुत्र आदि का संयोग हुआ है इनका एक दिन वियोग निश्चित है तो फिर मैं ममत्व करके इनमें क्यों फसूँ।

जातेनावश्यं मर्त्तव्यं, प्राणिना प्राणधारिणा।
अतः कुरुत मा शोकं, मृते बन्धुजने बुधाः ॥१५६॥

अर्थ :– संसार में प्राणों को धारण करने वाला जो प्राणी जन्मा है उसे अवश्य ही मरना पड़ेगा, इसलिए बुद्धिमान मानव बन्धुजनों के मरने पर शोक नहीं करते हैं।

विशेषार्थ :– शरीर परदेश के घर के समान है; उसमें प्राणी अपनी आयु से अधिक नहीं रह सकता है। जन्म के पीछे अवश्य ही मरण है तथा मरण से कोई बचा भी नहीं सकता है, तब भला फिर किसी के मरने का शोक करना वृथा ही है कुछ लाभ नहीं होता है, ज्ञानीजन अपने कुटुम्बियों से प्रयोजनवश स्नेह रखते हैं, अतएव उनके संयोग में हर्ष व उनके वियोग में विषाद नहीं करते हैं, परन्तु समभाव रखते हैं। इस प्रकार सोचकर प्राणियों को आत्मकल्याण में जाग्रत रहना चाहिए क्योंकि जीवन का कोई भरोसा नहीं।

आचार्यों ने कहा है कि जो सोता है सो खोता है क्योंकि समय गतिशील है; चलते-रहो, चलते-रहो; नहीं तो पीछे रह जाओगे। सूर्य पूर्व से चलकर पश्चिम की ओर पहुंच गया परन्तु तुम अभी तक सोये

हुए हो, घर से निकलने की तैयारी के विचार ही कर रहे हो; लेकिन याद रखो– तुम्हारे सोचते-सोचते ही फिर रात्रि हो जाएगी तो मार्ग की पगडंडी जीवन से भटक कर श्मशान की ओर मुड़ जाएगी। अतः समय के साथ चलते चलो, समय की आंख भाँपते चलो, काल को अकेला मत छोड़ो; उसे अपने साथ रखो वरना पछताना पड़ेगा। सच तो यह है कि मानव मोह के उदय से संसारी कामों को करने के लिए सोचता ही रहता है लेकिन ऐसा कभी नहीं सोचता कि मैं मर जाऊंगा, इस विषय में आचार्य कहते हैं—

करिष्यामि-करिष्यामि, करिष्यामीति चिंतया।
मरिष्यामि-मरिष्यामि, मरिष्यामीति विस्मृतं ॥

अर्थात्– मानव करूंगा, करूंगा तो विचार करता ही रहता है परन्तु मरूंगा, मरूंगा को प्रायः भूल सा गया है।

आत्मकार्यं परित्यज्य, परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्कः, स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥

अर्थ :– यदि कोई अपनी आत्मा के हित को छोड़कर, चित्त में ममताभाव में लीन होकर, दूसरों के कार्यों में ही रत हो जाता है तो वह अपने आत्महित का नाश कर लेगा।

विशेषार्थ :– यदि कोई मानव अपने शरीर का व कुटुम्ब का मोही बनकर रातदिन शरीर की व परिवार की चिंता में फँसकर उन्हीं के कार्यों में लीन हो जाता है तथा अपने आत्मा का उद्धार जिस धर्मसेवन से होता है उसको बिलकुल ध्यान में ही नहीं लेता है, वह अपना कल्याण न करता हुआ संसार में पाप के भार से कष्ट ही पाएगा। परन्तु जो विवेकी आत्महित करता हुआ परोपकार बुद्धि से परका भला करता है वह मानव अपनी रक्षा कर सकेगा।

संसार में मोह बड़ा प्रबल है। इस मोह के कारण ही प्राणी पर वस्तुओं को अपनी मानते हैं और दुःखी हो जाते हैं। यदि मोह न हो तो

यह प्राणी कर्म-बन्धन को प्राप्त नहीं होता। जैसे यदि कोई मकान बनाने वाला बिना गारा के केवल ईंटों को चुनता जाता है तो क्या उस दीवार में कभी स्थिरता हो सकती है? अर्थात् नहीं। वैसे ही मोह के अभाव में कर्म स्थिरता को (बन्धको)प्राप्त नहीं होते हैं। कर्मों के आस्रव में योग कारण हैं परन्तु योग-शक्ति उतनी घातक नहीं, वह तो केवल आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन करती है; यदि मोह की कलुषता न रहे तो वह आत्म-स्वच्छता में उपद्रव नहीं कर सकती। वस्तु-स्थिति ऐसी ही है कि जिस समय आत्मा से मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, उस समय शेष अघातिया कर्म जलो जेवड़ीवत् रह जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन सब कर्मों में जबरदस्त कर्म मोहनीय ही है; इसके कारण प्राणी को नाना प्रकार के नाच नाचने पड़ते हैं। संसार के प्राणी जो अपने धर्म कर्म को छोड़ बैठे हैं तथा धर्म के नाम पर यद्वा-तद्वा भी बोलते हैं इसमें उन बेचारे प्राणियों का क्या दोष है; उनके अन्दर जो मिथ्यात्व तथा मोह बैठा हुआ है उसका दोष है। इस विषय में दृष्टान्त से समझो—

रामू नाम का एक तेली था। वह मदिरा में उन्मत्त हुआ कहीं चला जा रहा था। उधर से हाथी पर बैठा हुआ राजा आ रहा था। उस तेली ने कहा 'अबे, राजा! हाथी बेचता है?" यह सुनकर राजा बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने कर्मचारियों से झल्लाकर कहा—इसे फौरन राज-दरबार में हाजिर करो। थोड़ी देर में वे कर्मचारी उस तेली को मारते पीटते राज-दरबार की ओर ले गये। रास्ते में मार खाते-खाते उसका नशा उतर गया तब उसको होश आया कि अरे यह क्या? उसने कहा—भाई! आप लोग मुझे बिना कसूर ही क्यों पीट रहे हो? तो कर्मचारियों ने कहा—अभी तुम्हें मालूम होगा कि क्यों पीट रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने उस रामू तेली को राजा के पास ले जाकर हाजिर किया; राजा ने पूछा—क्यों बे? हाथी खरीदेगा? उसने कहा अन्नदाता! मैंने कब कहा था? आप राजा हैं, मा-बाप हैं, मैं तो एक गरीब आदमी हूँ। आपके ही नगर में रहता हूँ और अपना गुजर-बसर बड़ी मुश्किल से

करता हूं, मैं तो आपका ही बच्चा हूँ। आप दयालु हैं, मेरा न्याय करो। ये आपके कर्मचारी मुझे खामोखाम क्यों पीट रहे हैं ? तब राजा बड़ा आश्चर्यचकित हुआ और बोला– बदमाश ! मैंने खुद देखा और सुना तो भी तू झूठ बोलता है। तब उस तेली ने कहा भगवन् ! मैंने तो कुछ कहा नहीं, जो कहने वाली (मदिरा) थी वह चली गई। ठीक उसी प्रकार आज जो जैन होते हुए भी देव, गुरु, शास्त्र का विनय नहीं करते हैं तथा उन पर विश्वास नहीं करते हैं तथा उन्हें झूठे कहते हैं; इसमें उनके मिथ्यात्व और मोहनीय कर्म का ही उदय है तभी वे ऐसा करते हैं। इसलिए वे क्षमा के पात्र हैं। ज्ञानीजनों को उन पर क्षमा करके उन्हें मार्ग पर लगाना चाहिए।

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं, चारित्रं दर्शनं तथा।
तपः संरक्षणं चैव, सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

अर्थ :– अपनी आत्मा का हित तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र तथा तप की रक्षा से होता है, इस बात को सर्वज्ञों ने कहा है।

विशेषार्थ :– सर्वज्ञ भगवान ने भले प्रकार जानकर यह उपदेश दिया है कि सम्यग्दर्शन आदि चारों आराधनाओं का बार-बार विचार करना चाहिए व इनका सेवन करना चाहिए। यही धर्म-साधन है। इसी के प्रभाव से भावों की शुद्धि होती है; जिससे कर्मों का संवर तथा कर्मों की निर्जरा होती है, यही मोक्ष का उपाय है। इनकी आराधना से वर्त्तमान में भी जीव सुखी होता है और आगामी काल में भी सुख पाएगा। वास्तव में, आत्मश्रद्धा, आत्मबोध और आत्म-प्रवृत्ति को ही आचार्यों ने रत्नत्रयधर्म कहा है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने प्रथम सूत्र में कहा है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।"

रत्नत्रयमार्ग में सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान तथा आचरण का सुन्दर समन्वय विद्यमान है। इस समन्वयकारी मार्ग की उपेक्षा करने के कारण आज

समाज में विभिन्न विचारधाराओं की उद्‌भूति हुई है। कोई श्रद्धा से प्रसूत भक्ति को ही संसार संतरण का सेतु समझता है; कोई मात्र ज्ञान के ही गीत गा-गा कर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है; अर्थात् ज्ञान को ही सब कुछ समझते हैं, उन लोगों का अतिरेक इतना अधिक हो गया है कि वे ज्ञान की ओट में सम्पूर्ण अनर्थों का और पाप-प्रवृत्तियों का पोषण करते हुए भी संसार से पार होने का स्वप्न देखते हैं। कोई-कोई ज्ञान की दुर्बलता को हृदयंगम करते हुए क्रिया-कांड को ही जीवन का सर्वस्व बताते हैं। तुलनात्मक समीक्षा करने पर साधना का मार्ग उपर्युक्त अतिरेकवाद की उलझन से दूर तीनों के समन्वय में प्राप्त होता है। एक विद्वान ने लिखा है कि– कर्मशून्य का ज्ञान प्राणहीन है, अविवेकियों की क्रिया निःसार है, श्रद्धाविहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्राप्त नहीं करा सकती है; ठीक अंधे, लंगड़े और आलसी-जैसी बात है—

अंध पंगु अरु आलसी, जुदे जरैं दव लोय।

साधक का सच्चा मार्ग वही है, जिसमें उपर्युक्त तीनों बातों का परस्पर मैत्रीपूर्ण सद्‌भाव हो। अतः मानवों को रत्नत्रय मार्ग का शरण ग्रहण करना चाहिए, यदि एक-एक को ही खींचा जाएगा तो मानकर चलो मोक्षमार्ग उससे कोसों दूर ही रहेगा।

सुखसंभोगसंमूढा, विषयास्वादलम्पटाः।
स्वहिताद् भ्रंशमागत्य, गृहवासं सिषेविरे ॥१५६॥

अर्थ :– जो प्राणी इन्द्रिय-सुखों के भोग में मूढ़ हो जाते हैं और विषयों के स्वाद में लम्पटी हो जाते हैं, वे साधु होकर भी अपने आत्मा के हित से भ्रष्ट होकर गृहस्थ के जीवन को सेवन करने लगते हैं।

विशेषार्थः– आत्मा का हित आत्मानन्द के प्रेम में व विषयों से वैराग्य में है। इसी से मुक्ति का लाभ होता है। साधुपद इसलिए धारण किया जाता है कि निश्चिन्त होकर आत्मध्यान व शास्त्र-मनन

करके आत्मा की उन्नति की जाए तथा कर्मों की निर्जरा की जाए, परन्तु यदि कोई साधुपद में रहते हुए मिथ्यात्व के उदय से विषयों का लम्पटी हो जाए व सांसारिक सुखों का मोही हो जाए तो उसका साधुपद भ्रष्ट हो जाता है तथा उसे फिर उसी गृहस्थी को धारण करना पड़ता है, जिसका उसने त्याग किया था।

दिगम्बर जैन साधु का पद वस्त्रमात्र त्यागकर स्वच्छन्द विचरण करने से ही प्राप्त नहीं होता है; उन महापुरुषों का जोवन अत्यन्त संयत और सुव्यवस्थित रहता है। वे प्राणी मात्र को नहीं सताते हैं। यद्यपि उनके गमनागमन, श्वासोच्छ्वास आदि में प्राणी-घात अनिवार्य है; तथापि वे यथाशक्ति राग-द्वेष आदि विकारों को दूर करके आत्म-निर्मलता का पूर्णतया रक्षण करते हैं। वे श्रेष्ठ रीति से आगमानुसार अपनी क्रियाओं को पालते हैं, वे साधु समता, जिनेन्द्रस्तुति, वीतरागवन्दना, स्वाध्याय, दोषशुद्धि निमित्त प्रतिक्रमण तथा कायोत्सर्ग रूप छह आवश्यक कर्मों को सावधानीपूर्वक पालते हैं। वे साधु अपने पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरा करने के लिए घोर तप करते हैं तथा उपसर्ग आने पर सन्मार्ग से अपना कदम तनिक भी पीछे नहीं हटाते हैं। आत्मदृढ़तानिमित्त वे भूख, प्यास आदि बाईस परीषहों को हंसते-हंसते सहन करते हैं। परन्तु यदि कोई मानव इस व्रत को धारणकर आदर सहित नहीं पालते हैं तथा इन्द्रिय-सुखों के भोगों में विश्वास करते हैं, उन्हें अतीन्द्रिय सुख का दर्शन ही नहीं हो सकता है। वे आत्म-वञ्चना करते हैं; इसलिए जो महानुभाव आत्म-कल्याण चाहते हैं उन्हें यह जानना होगा कि दिगम्बर मुद्रा तो मात्र आत्महित के लिए ग्रहण की जाती है; यदि उनके भावों में ऐसी सुन्दर भावनाओं की न्यूनता रहेगी तो वे भूल कर रहे हैं और इस भूल के कारण उन्हें पछताना ही पड़ेगा।

वियोगाः बहवो दृष्टा, द्रव्याणां च परिक्षयात्।
तथापि निर्घृणः चेतः, सुखास्वादनलम्पटः ॥१६०॥

अर्थ :— संसार में धन आदि के नाश हो जाने से बहुत से वियोग दिखाई पड़ते हैं, तो भी भोगों से घृणा न करते हुए प्राणी इन्द्रिय-सुख के स्वाद में लम्पटी हो जाते हैं।

विशेषार्थ :— संसार में भोग सम्पदाएँ स्थिर नहीं रहती हैं। पाप के उदय से जीवों की धनादि सम्पदाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब उनको इष्ट-वियोग का बड़ा कष्ट होता है तथा वे दुःखों के सागर में डूब जाते हैं। यह संसार संयोग-वियोगरूप है, सम्पदाएँ स्थिर नहीं रह सकती हैं, यौवन अस्थिर विनाशीक है; शरीर क्षणिक है; यकायक मरण आ जाता है। परन्तु अज्ञानी प्राणी विषयों की तृष्णा को लिए हुए मर जाते हैं, स्वप्न सम क्षणभंगुर भोगों का मोह महान दुःखदायी है, ऐसा जानकर भी अज्ञानी प्राणी इनसे घृणा नहीं करते हैं और पुनः पुनः उन्हीं नाशवंत अतृप्तिकारी विषयों के स्वाद में लम्पटी बने रहते हैं, जिससे वे अपने दोनों लोक बिगाड़ लेते हैं।

पंचेन्द्रियों के विषय बड़े-बड़े विद्वानों को भी फंसा लेते हैं, तो भला सामान्य प्राणियों का तो कहना ही क्या ? इसलिए जैसे बने वैसे मानवों को इन विषय-कषायों को कृश करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ये रागादि कषाय ही संसार बढ़ाते हैं। संसार के प्राणी रात-दिन विषय वासनाओं में रत रहते हुए परिग्रह का संग्रह करने में तल्लीन रहते हैं। आचार्यों ने बताया है कि यह परिग्रह ही पंच पापों के उत्पन्न होने में निमित्त होता है। देखो ! जहां परिग्रह है वहां राग है और जहाँ राग है वहीं आकुलता है। जहाँ आकुलता है वहीं दुःख है एवं जहाँ दुःख है वहीं सुख गुण का घात है और सुख गुण के घात का नाम स्वहिंसा है। अतः संसार में जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है, परिग्रह को त्यागे बिना अहिंसा तत्त्व का पालन करना असम्भव है। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त है— एक राहगीर चलते-चलते थक गया। रास्ते में एक कुआ आया। वह उस कुए पर सो गया। सोते सोते वह स्वप्न देखता है कि उसने किसी व्यापार में कुछ धन कमाया, जिससे उसने

जायदाद खरीद ली; उसकी शादी हो गई और एक बच्चा भी हो गया। फिर वह देखता है कि बगल में बच्चा सोया हुआ है और उसके बगल में स्त्री सोई हुई है; अब उसकी स्त्री उसे कहती है कि जरा थोड़ा सरको जी ! बच्चे को तकलीफ होती है। वह थोड़ा सरक जाता है। उसकी स्त्री फिर कहती है कि थोड़ा और सरक जाओ। देखो ! बच्चे को तकलीफ हो रही है, इस प्रकार थोड़ा थोड़ा सरकते सरकते वह धड़ाम से कुए में गिर पड़ा; जब उसकी नींद खुली तो उसने अपने को कुए में पड़ा पाया, बड़ा पछताने लगा। थोड़ी देर में एक पुरुष कुए पर पानी भरने आया। इसने नीचे से आवाज दी- भाई ! कुए में से मुझे निकाल लो। तब उसने रस्सा डालकर उसको येन-केनप्रकारेण बाहर निकाला। अब वह पुरुष उसको पूछता है भाई-तुम कौन हो ? और कुए में कैसे गिर पड़े। तब वह पथिक कहने लगा– पहले तुम बताओ, तुम कौन हो ? तब वह पुरुष बोला "मैं एक गृहस्थी हूं"। तो वह राहगीर बोला भाई ! थोड़ी देर स्वप्न में गृहस्थी बनने से मेरी यह दशा हुई तो तुम कैसे जिन्दे रहते हो ? कहने का तात्पर्य यह है कि यह परिग्रह ही दुःख का मूल है; ऐसा जानकर इससे विमुख रहो।

यथा च जायते चेतः, सम्यक्शुद्धि सुनिर्मलाम्।
तथा ज्ञानविदा कार्यं, प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥१६१॥

अर्थ :– जिस तरह यह मन निर्मल हो जावे और भले प्रकार आत्मा की शुद्धि हो जावे, ज्ञानी मनुष्यों को उसी तरह बहुत प्रयत्न करके भी आचरण करना चाहिए।

विशेषार्थ :– जो मनुष्य आत्मा का सच्चा हित करना चाहें उन ज्ञानियों को उचित है कि अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को इस तरहकी रखें जिससे मनसे विषय-लम्पटता का मैल निकल जावे। इस स्वप्नसम संसार से वैराग्य हो जावे, अपनी आत्मा के ध्यान का तथा आत्मोद्धार का ऐसा प्रेम हो जावे, जिससे आत्मा का कर्म-मैल कटे और

यह शुद्धि के मार्ग पर आरूढ़ होता हुआ चला जावे। मानवजन्म का यही सार है, जो इस आत्मा को संसार की पराधीनता से बचाकर स्वाधीन किया जावे। विषयों की लम्पटता अनेक अनर्थों में पटकने वाली है। इस लम्पटता के कारण गृहस्थ भी धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों का साधन नहीं कर सकता है; फिर गृहत्यागी के साधन में तो यह विषय-लम्पटता वैरीपने का काम करती है।

संसार के प्राणी इन्द्रियजनित क्षणिक सुखाभास से अपनी अनन्त लालसाओं को परितृप्त करना चाहते हैं; परन्तु आशा की तृप्ति होने के पूर्व ही उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है; देखो! महाकवि भूधरदासजी संसार के मोही प्राणियों की दीनतापूर्ण अवस्था का कितना सजीव चित्रण करते हैं—

"चाहत है धन-लाभ किसी विधि, तो सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करौं गहना कुछ, ब्याह सुता-सुत बांटिए भाजी॥
चिन्तत यों दिन जाहिं चले, जम आन अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारी गये, रहि जाय रुपी सतरंज को बाजो॥"

संसार में मोही जीवों की बड़ी विचित्र अवस्था है; वे निरन्तर बाह्य वस्तुओं के संग्रह से तथा भोग-उपभोग के द्वारा अपने मनोदेवता तथा इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। कदाचित् तीव्र पुण्योदय से अनुकूल सामग्रियाँ और संतोषप्रद वातावरण मिल भी जावे तो फिर लालसाओं की वृद्धि उन्हें बुरी तरह बेचैन बनाती है और उस अन्तरज्वाला से वे आत्म-वैभव को भूल से जाते हैं। ऐसी हालत में सत्पुरुष और आत्महितैषी जन उन सुखों से विरक्त रहते हैं और आत्मिक-ज्योति के प्रकाश में अपनी जीवन नौका खेकर ले जाते हैं जिसमें किसी प्रकार का खतरा नहीं है। अतः ज्ञानीजनों को अपने मन को निर्मल रखना चाहिए।

विशुद्धं मानसं यस्य, रागादिमलवर्जितम्।
संसाराग्र्यं फलं तस्य, सफलं समुपस्थितम् ॥१६२॥

अर्थः- जिसका मन रागादि मैल से रहित शुद्ध है, उसीका इस जगत का मुख्य फल सफल रूप से प्राप्त हुआ समझो।

विशेषार्थ :- इस जगत में उसी मानव का जीवन सफल है, जो अपने मन को रागादि भावों से दूर रख आत्मा के स्वभाव के चिंतन से उसे शुद्ध करता है, वीतराग व समभावरूप परिणामों में अपने को जोड़ता है क्योंकि सरागता कर्मबन्ध करने वाली है, जबकि वीतरागता कर्मबन्ध का क्षय करने वाली है। मोक्ष का यथार्थ यत्न करना ही इस संसार में जन्म लेने का मुख्य फल है। अतः विरक्त ज्ञानी को निरन्तर समभाव रखकर शुद्धात्मा का चिन्तन करना योग्य है।

मानव को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि संसार के पदार्थ ही उन्हें दुःखदायी हैं। वास्तव में, दुःख का कारण तो उन पदार्थों में राग-भाव है। यदि रागभाव हट गया तो फिर वस्तुओं को छोड़ने में कोई तकलीफ नहीं होगी। पदार्थ किसी का बुरा-भला नहीं करते; बुरा-भला तो केवल अपने अन्तरंग परिणामों पर निर्भर है। संसार के प्राणी अज्ञानवश राग-द्वेष करते हैं, समीचीन दृष्टि से विचार किया जाए तो कोई भी पदार्थ न बुरा है और न भला है, वह केवल निमित्त मात्र है। परन्तु मानव अपनी दुर्बलता से परपदार्थों में अच्छे-बुरे की कल्पना करता है। जगत में कोई कहता है कि मुझे स्त्री नहीं छोड़ती, कोई कहता है मुझे पुत्र नहीं छोड़ते, क्या करूं ? यह धन नहीं छोड़ने देता; उन्हें आचार्य कहते हैं कि अरे मूर्ख ! यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदय में जो राग है वह नहीं छोड़ने देता। दोषारोपण दूसरों पर क्यों करता है ? इस राग को हृदय से निकाल दे फिर देखें तुझे कौन रोकता है और कौन तुझे विरक्त नहीं होने देता ? अपने दोषों को नहीं देखता। परपदार्थों को बुरा भला कहता है यह मानव का बुद्धिभ्रम है। संसार में उन्हीं का नर-जन्म सार्थक है जिन्होंने अपने हृदय से रागभाव को बुरा समझकर छोड़ दिया और निज स्वरूप में आनन्द का अनुभव किया। देखो ! यह प्राणी यदि वास्तविकता को समझ जाये तो किसी प्रकार का कष्ट है ही नहीं,

परन्तु अपनी ही गलती से आज तक संसार में अटक रहा है और यदि अपनी परिणति को नहीं सुधारेगा तो इस अनन्त संसार में भटकता ही रहेगा।

संसारध्वंसने ह्रीष्टं, धृतिमिन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये यत्नं, नाभव्यो लब्धुमर्हति ॥१६३॥

अर्थ :– अभव्य जीव संसार के नाश में प्रेम, इन्द्रियों के जीतने में धैर्य तथा कषायों के विजय में यत्न निश्चय से नहीं कर सकता है। उसके योग्यता का अभाव है।

विशेषार्थ :– अभव्य जीव के इतने तीव्र मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है कि उसकी रुचि सांसारिक सुखों से नहीं हटती है। वह तो इन्द्रियसुख का ही प्रेमी होता है फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि वह अभव्यजीव संसार के नाश में प्रेम करे, अपनी इन्द्रियों को रोककर क्रोधादि कषायों को जीतने का उद्यम कर सके। यद्यपि भव्य की पहचान सर्वज्ञ के ज्ञानगोचर है तथापि जिसको कुछ भी प्रीति धर्म से हो और संसार से कुछ वैराग्य हो तब बाहरी कारणों से वह भव्य जाना जाता है।

प्राणियों को इन्द्रियों और मन की पराधीनता संसार में नाना प्रकार के दुःख प्राप्त कराती है। इन्द्रियों और मन के मुताबिक चलने से आत्मा के गुण आच्छादित हो जाते हैं। मानव अनीति का मार्ग पकड़ लेता है तथा सन्मार्ग से विमुख हो जाता है। जो इनको जीतता है वही साधु है। कहने का मतलब यह है कि प्रत्येक मानव को पूर्वापर विचार करके इन्द्रियों तथा मन को जीतना चाहिए और चतुर्गति के भ्रमण को दूर करने वाले आत्मज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। प्राणी को ऐसा विचार करना चाहिए कि मेरी आत्मा में ज्ञान है, सुख है, शान्ति है, शक्ति है, अर्थात् यह अजर-अमर है, इस प्रकार की आत्मा, मैं ही हूं। जो इस प्रकार अपने आत्म-बल पर पूर्ण विश्वास करके उसे प्रकट करने

की चेष्टा करता है उसे किसी प्रकार की विघ्न-बाधा विचलित नहीं कर सकती है। महान् विपत्तियों के आने पर भी उसकी आत्मश्रद्धा, विषय-विरक्ति और अटल विश्वास उसे कल्याण से विमुख नहीं होने देते हैं।

संसार में अभव्य प्राणी ही ज्यादातर विषयभोगों में उलझे रहते हैं, उन्हें आत्मतत्त्व में विश्वास नहीं हो सकता है। वैसे तो अभव्य जीव की पहचान सर्वज्ञ केवली भगवान के ज्ञानगोचर है, फिर भी जिसको देव, शास्त्र, गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं है, सप्त तत्त्वों का श्रद्धान नहीं है, धार्मिकजनों को देखकर जिसे ईर्षा होती है ऐसे जीवों को इन बाह्य कारणों के आधार पर अभव्य कहा जाता है। अभव्य जीवों के आत्म-कल्याण के भाव नहीं होते हैं क्योंकि उनमें संसारसमुद्र से निकलने की योग्यता ही नहीं होती है।

एतदेव परं ब्रह्म, न विन्दन्तीह मोहिनः।
यदेतच्चित्तनैर्मल्यं, रागद्वेषादिवर्जितम् ॥१६४॥

अर्थ :– राग-द्वेषादि रहित चित्त की निर्मलता ही परब्रह्म का स्वरूप है परन्तु संसार के मोही जीव इस बात का अनुभव नहीं करते हैं अतः उनका भ्रमण संसार में होता ही रहता है।

विशेषार्थ :– स्वयं आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्मस्वरूप है। मोह-नीय कर्म के उदय से इसमें राग-द्वेष मोह आदि विकार हो रहे हैं। यदि उनको हटा दिया जावे तो भावों में वीतरागता झलक जावे, वीतरागता वह निर्मलता है जिससे परब्रह्म का दर्शन होता है जैसे पवन के क्षोभ से रहित निर्मल समुद्र के जल में पड़ा हुआ पदार्थ दीखता है, इसी तरह शुद्ध निश्चयनयके द्वारा सर्व जीव मात्र शुद्ध दीखते हैं। इस प्रकार के अभ्यास से राग-द्वेष मिटेंगे और वीतरागता बढ़ेगी तब आत्मध्यान सहज में सिद्ध होगा और वह जीव सर्व कर्म काट कर अनन्त सुख का अनुभव करेगा।

जब तक यह जीव आत्मिक सुख को भूलकर भ्रान्तिवश इन्द्रिय-

सुखों को अपना समझता है; विषय-वासनाओं में आसक्त रहता है, तब तक पाप या कालुष्य उसे कल्याणमार्ग से विमुख रखते हैं। पाप और पुण्य जीव के स्वभाव नहीं हैं बल्कि ये विपरीत प्रयत्नों के फल हैं। जब यह आत्मा अपने स्वभाव में आ जाता है तब पाप और पुण्य स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जैसे-जैसे जीव में दृढ़ आत्मविश्वास प्रकट होता जाता है तैसे-तैसे कर्म-संयोगजन्य भाव पृथक् होते जाते हैं। आचार्यों ने बताया है कि इन्द्रियों के मोहक रूपों को देखकर फिसल जाना कायरता है, सच्ची वीरता तो इन्द्रियों को अपने वश में करने में है। जीवों के पाप-पुण्य तो अपने ही बनाए हुए होते हैं तथा उन्हें आप ही प्राणी काटता है। यदि मानव चाहे तो अपने बाँधे हुए कर्मों को काट सकता है। इस विषय में क्षत्रचूडामणिकार श्री वादीभसिंह सूरि लिखते हैं—

स्वमेव कर्मणां कर्त्ता, भोक्ता च फलसन्ततेः।
मोक्ता च तात ! किं मुक्तौ, स्वाधीनायां न चेष्टसे ।।

कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में जीव अपनी भूल से आप ही कर्मों को बांधता है आपही उनके फल को भोगता है तथा आपही कर्मों को काट सकता है तो फिर विवेकीजनों को चेष्टा करके इन दुःखदायी कर्मों को काटकर इनसे मुक्त हो जाना चाहिए। आत्मा में अनन्त शक्ति है उसका बड़ा भारी महत्त्व है। साधक को सदा अपनी अपरिमित शक्ति पर विश्वास करना चाहिए; उसे इन्द्रियों की वासनाओं को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए अर्थात् अपने चित्त को निर्मल रखना चाहिए जिससे शान्ति और सुख की प्राप्ति हो।

तथानुष्ठेयमेतद्धि पंडितेन हितैषिणा।
यथा न विक्रियां याति मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि ।।१६५।।

अर्थ :– आत्महितवांछक विद्वानों का कर्त्तव्य है कि विपत्तियों के आने पर भी जिस तरह अपने मन में अत्यधिक विकार उत्पन्न न हों उसी तरह का आचरण करें।

विशेषार्थ :— भेदविज्ञानी, विवेकी एवं आत्महितैषी विद्वानों को उचित है कि वे अपने मन का ऐसा साधन करें कि उसमें राग-द्वेष का विकार पैदा न हो। शत्रु, मित्र, सुख, दुःख, निन्दा, प्रशंसा में समभाव रखें। यदि उपसर्ग पड़े अथवा संकट आ जावे तथा अपने प्राणों का घात भी होता हो तो भी मन में क्रोध या द्वेष भाव पैदा न होने दें। सर्व अच्छी या बुरी अवस्थाओं का कारण अपने ही बाँधे हुए पुण्य वा पाप कर्मों का उदय जानें। विचार करें कि अन्य तो मात्र निमित्त ही हैं, ऐसा जानकर सर्व अवस्थाओं में समभाव रखना चाहिए। जितनी-जितनी सहनशीलता बढ़ती जाएगी उतना-उतना ही मन दृढ़ व क्षमाशील बनता जाएगा। वास्तव में, शुद्धात्मा के मनन का अभ्यास प्राणियों को क्षमावान बनाता है। मोक्षमार्गी साधु ऐसी ही उत्तम क्षमा का पालन करते हैं।

तत्त्वज्ञ प्राणी सोचते हैं कि हमने अनेक अशुभ एवं शुभ कार्य किए, परन्तु खेद है कि अपनी विशुद्ध आत्मा का चिंतन कभी नहीं किया। यदि आत्मा परावलम्बन को छोड़कर स्वोन्मुख हो जाती तो यह अनाथ न रहकर त्रिलोकीनाथ बन जाती। इसलिए विवेकीजनों की प्रवृत्तियों का लक्ष्य अमृततत्त्व की उपलब्धि का रहता है। आचार्यों ने उसको लक्ष्य करके ही अनेक रचनाओं का निर्माण किया है, क्योंकि उस लक्ष्य के सिवाय अन्य तुच्छ ध्येयों की पूर्ति द्वारा क्या सिद्ध होने वाला है? ऐसा विचार करके मानवों को अशुभ भाव त्याग करके आत्मा के हित में लग जाना चाहिए क्योंकि संसार के बन्धनों से छूटने की पात्रता मानव-पर्याय में ही हो सकती है। इस विषय में कवि का यह चित्रण मार्मिक है—

> काय पायकर तप नहिं कीना, आगम पढ़ नहिं मिटी कषाय।
> धन को जोड़ दान नहिं दीना, कौन काम कीना तैं आय?
> लीना जनम मरण के कारण, रतन अमोलक दिया गमाय।
> ऐसा अवसर फेर कठिन है, शास्त्रज्ञान अरु नर-परजाय॥

अर्थात् मनुष्य पर्याय पाकर मानवों का कर्त्तव्य है कि वे प्रमाद छोड़कर आत्मा की सुध लेवें, वरना आयु के अन्त होने पर यह अवसर

निकल जाएगा। फिर पश्चात्ताप के अलावा कुछ न रहेगा।

धन्यास्ते मानवा लोके, ये च प्राप्यापदां पराम् ।
विकृतिं नैव गच्छन्ति, यतस्ते साधुमानसाः ॥१६६॥

अर्थ :– जो कठिन भारी आपत्ति को पा करके भी अपने भावों में विकार नहीं आने देते हैं। वे मानव इस लोक में धन्य हैं, क्योंकि उनका मन साधुवृत्ति में आ गया है।

विशेषार्थ :– मन को साधने से, बार-बार वीतरागता का अनुभव करने से वही आदत पड़ जाती है जिसमें मन क्षमाशील बना रहे। वास्तव में, वे संत पुरुष धन्य हैं तथा परम प्रशंसनीय हैं जो तीव्र संकटों के पड़ने पर भी उनको कर्मोदय का फल विचार कर समभाव रखते हैं। मोक्षार्थियों को प्रयत्न करके साम्यभाव का भले प्रकार अभ्यास करना चाहिए। आगे अनेक राजा-महाराजा ऐसे हो गये हैं जिन्होंने कभी अन्याय का पक्ष नहीं लिया। इस विषय में कथन है कि— एक समय जब महाराजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना का स्वयंवर हो रहा था तब चक्रवर्ती भरतेश्वर के पुत्र अर्ककीर्ति ने उस कन्यारत्न का लाभ न होने से निराश होकर काफी गड़बड़ की, दोनों ओर से रणभेरी बजी। युद्ध में सुलोचना के पति, भरतेश्वर के सेनापति जयकुमार की विजय हुई। उस समय शान्ति स्थापित होने पर महाराज अकम्पन ने सम्राट् भरत के पास अत्यन्त आदरपूर्वक निवेदन प्रेषित करते हुए अपनी परिस्थिति और कुमार अर्ककीर्ति की ज्यादतीका वर्णन किया। साथ में यह भी लिखा कि मैं अपनी दूसरी कन्या अर्ककीर्ति को देने के लिए तैयार हूँ। इस बात को भली प्रकार जानकर भरतेश्वर को अकम्पन महाराज पर तनिक भी रोष नहीं आया, प्रत्युत् अर्ककीर्ति के दुष्कृत्य पर उन्हें घृणा हुई। उन्होंने कहा—अकम्पन महाराज तो हमारे पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव के समान पूज्य और आदरणीय हैं। अर्ककीर्ति मेरा पुत्र नहीं, न्याय मेरा पुत्र है; न्याय का रक्षण करके महाराजा अकम्पन ने उचित

ही किया। उन्हें बिना संकोच के अर्ककीर्ति को दंड देना चाहिए था। यह है महान् पुरुषों का इतिहास जो समय पर न्याय के लिए पुत्र को भी दंड देने में नहीं चूकते थे। अतः प्राणियों को संकट पड़ने पर भी अपनी साम्य सम्पदा को नहीं खोना चाहिए। वास्तव में, मानव यदि शान्तचित्त होकर विचार करे तो यह प्रतीत होगा कि उसकी मानवता का पता तभी चलता है, जब वह पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय के समय हर्ष-विषाद न करे और अपना आपा न खोए।

संक्लेशो न हि कर्त्तव्यः, संक्लेशो बन्धकारणम्।
संक्लेशपरिणामेन, जीवो दुःखस्य भाजनम् ॥१६७॥

अर्थ :– प्राणियों को संक्लेश भाव नहीं करना चाहिए क्योंकि संक्लेश भाव कर्मबन्ध के कारण हैं। संक्लेश भावों से यह जीव दुःखों का पात्र होता है।

विशेषार्थ :– जीवों को दुःखित परिणाम या आर्त्तध्यान करना उचित नहीं है। यथार्थ में, इन भावों से कुछ लाभ नहीं होता है, इनको करते समय मानसिक दुःख होता है, शरीर का रुधिर सूखने से शरीर निर्बल बन जाता है, फिर लौकिक कार्यों में उपयोग नहीं लगता है। इनसे असाता वेदनीय आदि का अशुभ बन्ध होता है जिससे उभय लोकों में दुःख भोगना पड़ता है। दुःखों के कारण उपस्थित होने पर अपने ही किए हुए कर्मों को याद करना चाहिए तथा जिनके उदय से दुःख हुआ है उस दुःख को संतोषपूर्वक सह लेना चाहिए, तब पिछले कर्म झड़ जाएँगे तथा नवीन बन्ध न होगा, यदि होगा तो भी वह अत्यल्प होगा।

मानवों को पाप का उदय आने पर भी संक्लेश (चिंता) नहीं करना चाहिए। सोचो! चिन्ता करने से क्या वे कर्म आपको माफ कर देंगे, अर्थात् नहीं। चिन्ता करने से परिणामों में संक्लेश होता है इस विषय में कवि ने ठीक ही कहा है—

चिन्ता दहति शरीरं, शरीरस्था सदापि हि ।
रुधिरामिषौ ग्रसति, नित्यं दुष्टा पिशाचीव ॥

अर्थात्– चिता सदा शरीर को जलाती है, वह दुष्ट पिशाची के समान निरन्तर ही प्राणियों के रक्त और मांस को ग्रसती रहती है। वैसे सोचा जाए तो चिता चिता से भी बढ़कर है देखो ! चिता तो निर्जीव शरीर को जलाती है जबकि चिंता जीवित को भी जलाती है, इस सम्बन्ध में कवि कहता है—

बिन्दुनाप्यधिकं मन्ये, चितायाः इति मे मतिः ।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता जोवितमप्यहो ॥

वास्तव में, विचार करके देखा जाए तो यह चिंता प्राणियों का अहित करने वाली है। इसी चिन्ता से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। सच तो यह है कि अज्ञानी प्राणी विवेकशून्यता से संक्लेश भावों को करता है, जिससे वह पतन का रास्ता पकड़ता है तथा नारकीय जोवन का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यदि अपने भावों में संतोष से उत्पन्न होने वाले साम्यभाव को स्थान देता है तो यह जीव स्वर्ग के समान सुख का अनुभव करता है। यह सब तभी संभव है जब मानव निज और पर को भली भाँति जाने, इस तत्त्व को जाने बिना साम्यभाव के दर्शन तक नहीं हो सकते हैं।

संक्लेशपरिणामेन, जीवः प्राप्नोति भूरिशः ।
सुमहत् कर्मसम्बन्धं, भवकोटिषु दुःखदम् ॥१६८॥

अर्थ :– संक्लेशभाव से यह जीव करोड़ों जन्मों में दुःख देने वाले बहुत अधिक कर्मों के बन्ध को बहुत बार प्राप्त करता है।

विशेषार्थ :– जब जीवों के परिणाम दुःखपूर्ण होते हैं, तब वे अशुभभावों से उस समय तीव्र कर्मों का बन्ध कर लेते हैं। उन कर्मों के उदय से जब दुःख होता है तब फिर संक्लेश भाव होते हैं; इस तरह भारी कर्मों को प्राणी बाँधते चले जाते हैं। इस प्रकार कर्मबन्ध की ओर

उनका फल भोगने की यह शृंखला करोड़ों जन्मों तक चलती रहती है। वास्तव में, सम्यग्दर्शन को प्राप्ति के बिना इन भावों का छूटना कठिन है। मिथ्यादृष्टि प्राणी विषयातुर होते हुए अधिकतर संक्लेशभाव करते रहते हैं; उनके परिणाम अशुभ ही रहते हैं। जब कभी वे कोई पुण्य का काम भी करते हैं तब भी उनकी भावना निदान आर्त्तध्यान की रहती है। संसारी जीवों के तीन तरह के भाव होते हैं–अशुभभाव, शुभभाव और शुद्धभाव। संक्लेशभावों को अशुभभाव कहते हैं जिनसे पाप का बन्ध होता है। शुभभावों से पुण्य का बन्ध होता है। शुद्ध भाव कर्मों के नाशक हैं। ज्ञानीजनों को संक्लेशभावों से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव विचार करता है कि परिणामों को शुभ रखना तथा संक्लेशमय रखना मेरे ही हाथ की बात है तो फिर दुर्गति में ले जाने वाले संक्लेश भाव मैं क्यों करूँ? तब मृत्यु से भेंट कराने वाली मुसीबत भी उस ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा को संतप्त नहीं कर सकती है। उसको तो इस बात का अखण्ड विश्वास रहता है कि मेरी आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु की आपदाओं से परे है। इनका खेल शरीर अथवा जड़-पदार्थों तक ही सीमित है; इस विषय में पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश में भव्य-जीवों के लिए प्रबोधपूर्ण सामग्री देते हुए कहते हैं कि—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले॥

अर्थात् जब मेरी मृत्यु नहीं है, तब भय किस बात का? जब मेरा आत्मा रोगमुक्त है तब व्यथा कैसी? अरे! न तो मैं बालक हूं, न वृद्ध हूं और न तरुण ही हूँ, यह सब पुद्गल का खेल है। सच तो यह है कि मानव को अपने भावों में संक्लेशता का अंश भी नहीं आने देना चाहिए। वास्तव में, जिन्होंने संक्लेश परिणामों को छोड़कर अपने को आत्मिक भावों में लगा लिया है उन्हीं का नरजन्म सफल है।

चित्तरत्नमसंक्लिष्टं, महतामुत्तमं धनम्।
येन सम्प्राप्यते स्थानं, जरामरणवर्जितम्॥१६६॥

अर्थ :– संक्लेशरहित, शान्तचित्त-रत्न महान् पुरुषों का उत्तम धन है, जिसके द्वारा जरामरण से रहित स्थान प्राप्त किया जाता है।

विशेषार्थ :– जिन महान् पुरुषों ने संक्लेशभाव त्यागकर चित्त को शान्त रखने का अभ्यास किया है तथा जो दुःख में व सुख में समताभाव रखते हैं उनके कर्मों की निर्जरा अधिक होती है; नवीन कर्मबन्ध बहुत थोड़ा होता है और अन्त में, वे सर्व कर्मों से छूटकर जन्म-जरा-मरण रहित अविनाशी मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं। समताभाव से वर्त्तमान पर्याय में भी सुख होता है और आगामी पर्यायों में भी सुख होता है।

जब मानवों को आत्मबोध होता है, राग-द्वेष मंद पड़ जाते हैं, संसार की वस्तु-स्थिति उनके समझ में आती है; तब वे कंचन और कामिनी आदि से विरक्त होकर आत्महित में लग जाते हैं। देखो ! इस जीव ने अनन्तानन्त भवों में विषयों का भोग किया परन्तु आज तक इसे तृप्ति नहीं हुई। सोचो ! क्या इन भोगों से इसे संतोष और शान्ति की प्राप्ति हो गई ? यदि एक बार भी यह जीव अपने जीवन का विश्लेषण करले तथा उसके रहस्य को समझ ले तो फिर इसे अपनी भूल समझ में आते देर नहीं लगेगी। तत्काल ही मोह की रस्सी ढ़ीली पड़ जाएगी, कर्मबन्धन शिथिल हो जाएंगे और यह अपने उद्धार में अग्रसर हो जाएगा। परन्तु जो प्राणी आत्मस्वरूप को भूलकर परवस्तुओं में आत्म-बुद्धि करते हैं, वे अपने को शरीररूप मानते हैं तथा शरीर के सम्बंधियों को अपना समझते हैं, इसी कारण उनमें अहंकार और ममकार की प्रबल भावना जागृत होती है। फिर वे इन्द्रियों के विषयों के आधीन होकर उनके पोषण के लिए इष्ट सामग्री के संचयका और अनिष्ट सामग्री से बचने का प्रयत्न करते हैं; जिससे इष्टसंयोग में हर्ष और इष्टवियोग में विषाद करते हैं; फिर तो उन्हें धन, स्त्री आदि प्राप्त करने के लिए अन्याय तथा अत्याचार और पर-पीड़ाकारी कार्य करने में भी ग्लानि नहीं होती है। वे परिग्रह के संचय में प्रयत्नशील रहते हैं, इन पदार्थों को अपना मानते हैं तथा वस्तुओं में आसक्ति के कारण त्याग-संयम से दूर भागते

हैं। इस प्रकार अज्ञानी प्राणी आत्मसुख से विमुख होकर कुछ भी नहीं कर पाते हैं उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त या मूर्च्छित हो जाती है।

संक्लेश परिणामों को छोड़ने से ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। शान्ति में आत्मतत्त्व का दर्शन होता है, तब प्राणी अपनी आत्मा को ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्दमय, अमूर्तिक, अविनाशी तथा सिद्ध भगवान के समान शुद्ध समझता है; उस स्थिति में आत्मा सुख का अनुभव करती है।

सम्पत्तौ विस्मिता नैव, विपत्तौ नैव दुःखिताः।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ॥१७०॥

अर्थ :– महान् पुरुषों का यही लक्षण है कि वे धन सम्पदादि होने पर भी कभी घमंड नहीं करते हैं तथा आपत्ति में या संकट पड़ने पर दुःखित भी नहीं होते हैं। केवल धन का लाभ महान् पुरुषों का लक्षण नहीं है।

विशेषार्थ :– बड़े आदमी केवल वे ही नहीं हैं जो मात्र धन के स्वामी हैं। यथार्थ में, वे ही जगत् में माननीय महान् प्राणी हैं, जिनकी आत्मा उदार है, जो संपत्ति और विपत्ति में साम्यभाव रखते हैं; धनादि परिग्रह की वृद्धि होने पर न तो वे घमंड करते हैं और न कोई आश्चर्य करते हैं। वे जानते हैं कि ये धनादि पुण्यकर्मरूपी वृक्ष के फल हैं पुण्यकर्म का उदय सदा एकसा नहीं रहता है। धनादि का समागम क्षणिक है। इसी तरह यदि दुःख आ जाते हैं तब वे आकुलित नहीं होते हैं, तब भी वे विचार करते हैं कि यह पाप कर्मों का उदय है। पूर्व में जिन पाप कर्मों को मैंने बाँधा था, अब उनका फल मुझे समभाव से भोग लेना चाहिए। ये पाप और इनका उदय भी क्षणिक है, सदा रहने वाला नहीं है। संक्लेश भाव करने पर भी दुःखों का छुटकारा नहीं होगा, ऐसा जानकर महान् पुरुष सम्पत्ति व विपत्ति में समभाव या शान्तभाव रखते हैं, जिससे वे इस लोक में भी सुखी रहते हैं व परलोक में भी सुख के भाजन होते हैं।

जैनधर्म प्राणियों को पुरुषार्थ और आत्मनिर्भरता की पवित्र शिक्षा देता हुआ समझाता है कि यदि आपने दूसरों के साथ न्याय तथा उचित व्यवहार किया है तो उस पुण्य से आपको विशेष शान्ति तथा आनन्द प्राप्त होगा। यदि आपने दूसरों के न्यायोचित स्वत्वों का अपहरण किया है तथा प्रभुता के मदमें आकर असमर्थों को सताया है तो आपका जीवन विपत्तिओं की घटाओं से घिरा हुआ रहेगा। वास्तव में, इस आत्मनिर्भरता की शिक्षा का प्रचार होना आवश्यक है। यदि धर्मविहीन लोगों की समझ में यह आ जावे तो कल्याण का मार्ग प्रारम्भ हो सकता है। इसलिए धर्मात्माओं तथा ज्ञानियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने कल्याण के साथ-साथ असमर्थ अथवा अज्ञानी बन्धुओं को बिना किसी भेदभाव के समुन्नत करने का प्रयत्न करें अर्थात् धर्म से विचलित प्राणियों को धर्ममार्ग पर लगाकर अपना कर्त्तव्यपालन करें। देखो ! गिरते हुए को धक्का मारने वालों की तो आज कमी नहीं है परन्तु गिरते हुए को सम्भालने वाले विरले ही मिलेंगे।

आपत्सु सम्पतन्तीषु, पूर्वकर्मनियोगतः।
शौर्यमेव परं त्राणं, न युक्तमनुशोचनम् ॥१७१॥

अर्थ :– पूर्वकर्मों के उदय से आपत्तियों के आ जाने पर दृढ़ता ही परम रक्षक है बार-बार शोच करना उचित नहीं है।

विशेषार्थ :– जैसे मेरुपर्वत प्रलय काल की पवन चलने पर भी अपनी दृढ़ता से चलायमान नहीं होता है तथा दृढ़ रहने से उस पवन के आक्रमणों को भी जीत लेता है वैसे ही महान् पुरुष अपने ही बाँधे हुए पापकर्मों के उदय से प्राप्त आपत्तियों के आने पर अपने मन को दृढ व साहसपूर्ण भावयुक्त रखते हैं जिससे वे संकटों को वीरतापूर्वक सह लेते हैं। बार-बार शोच करके दुःखित परिणाम नहीं करते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्मा पूर्व पाप तथा पुण्य के उदय काल में हर्ष-विषाद नहीं करता है, वह इस संसार से विरक्त रहता है अर्थात् इसे

जेलखाना मानता है; जैसे जेलखाने में जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है, कैदी को सड़ाक-सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि चलो, चक्की पीसो आदि। तब वह कैदी लाचार होकर उस माफिक काम करता है। परन्तु विचारो, अन्तरंग में वह यह चाहता है कि हे भगवन्! कब इस जेलखाने से निकल जाऊं? परन्तु क्या करे? परवश दुःख भोगना पड़ता है; ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टि का है। वह चारित्रमोह की जोरावरी से गृहस्थी में अवश्य रहता है, परन्तु जैसे कमल जल से भिन्न रहता है. वह भी उसी प्रकार रहता है। उसका लक्ष्य आत्मकल्याण में लगा रहता है। बाह्य में अन्य प्राणियों की तरह सब काम करता है; परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के अन्तरंग अभिप्राय प्रकाश और अन्धकार के समान सर्वथा भिन्न होते हैं। देखो! मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यक्त्वी भी। बाह्य में देखो तो दोनों की क्रिया समान है परन्तु मिथ्यात्वी राग में मस्त होकर झूमता है और सम्यक्त्वी उसी राग को हेय जानता है। इस विषय में यह पद कितने पवित्र भावों को प्रगट करता है—

"दुविधा कब जैहै या मन की।
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौं, तज सेवा जन-जन की ॥१॥
कब रुचिसौं पीवै दृगचातक, बूंद अखय पद घन की।
कब शुभध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की ॥२॥
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरुवचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ॥३॥
कब घर छांड़ि होहु एकाकी, लिए लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि-बलि वा छन की ॥४॥

इसलिए प्राणियों को हर समय अपने भावों को सम्भालते रहना चाहिए।

विशुद्धपरिणामेन शान्ति-र्भवति सर्वतः।
संक्लिष्टेन तु चित्तेन नास्ति शान्तिर्भवेष्वपि ॥१७२॥

अर्थ :— निर्मल भावों से सब ओर शान्ति रहती है, परन्तु संक्लेश परिणामों से भव-भव में भी शान्ति नहीं मिल सकती है।

विशेषार्थ :— निर्मल भावों से इस लोक में भी शान्ति रहती है व परलोक में भी शान्ति मिलती है; क्योंकि साताकारी कर्मों के बन्ध का साताकारी फल मिलता है। अशुभ परिणामों से यहां भी भावों में संक्लेश भाव रहता है तथा उन भावों से पाप का बन्ध होता है जिसके फल से भविष्य के जन्मों में भी दुःख प्राप्त होता है, ऐसा जानकर सदा शान्त भाव में रहना ही योग्य है। शान्त भाव से पुण्य का संचय होता है, उस पुण्य से ही यह जीव उत्तरोत्तर अभ्युदय प्राप्त करता है। संसार में पुण्य का ठाठ दिखता है, जिनके पास पुण्य की संपत्ति है, वे सर्वत्र जयशील होते हैं; किन्तु बिना पुण्य के मनुष्य-भव में भी विपत्ति-पूर्ण जीवन बिताना पड़ता है; इसी से तो देखो! वीर तथा विद्वान होते हुए भी पाँचों पांडवों को वन में भटकना पड़ा। शौर्य और पांडित्य के होते हुए भी कभी-कभी पुण्य के बिना सुख प्राप्त नहीं होता है। पुरुष के भाग्योदय में वज्रपात भी पुष्प सदृश हो जाता है, परन्तु दुर्भाग्य होने पर कुसुम भी कठोर हो जाता है। देखो! पुण्योदय से प्राणी शत्रु के घर में रहते हुए भी सुख को प्राप्त होता है परन्तु पापोदय से, अपने बन्धुओं के मध्य में रहते हुए भी दुःखी होता है। इसलिए उस पुण्य के— जिसके बल पर भाग्य का सितारा चमकता है, अर्जन का उपाय महात्माओं ने जिनेन्द्र पूजा, गुरुओं की उपासना, श्रुत का अभ्यास, संयम ग्रहण करना, शक्ति के अनुसार तप धारण करना तथा दान देना बताया है। यथार्थ में, पुण्य प्रवृत्तियों को प्रबुद्ध करने से सांसारिक सुख का अभ्युदय होगा, वह अभ्युदय परम्परा मोक्ष का कारण भी है। साक्षात् मोक्ष, अविनाशी आनन्द की उपलब्धि तो महाव्रतों को धारण करके, विभाव का परित्याग करके स्वभाव की ओर प्रवृत्ति करने से होगी। सारांश यह है कि प्राणियों को अपने भावों को निर्मल रखना चाहिए। संक्लेशपरिणाम नहीं करने चाहिए, क्योंकि संक्लेशपरिणामों से भव-

भव में दुःख उठाने पड़ते हैं, जिसके कारण संसार अनन्त बन जाता है। ऐसे पापकर्मों से निरन्तर बचना ही योग्य है।

संक्लिष्टचेतसां पुंसां, बुद्धिः संसारवर्द्धिनी।
विशुद्धचेतसां वृत्तिः सम्यक्त्ववित्तदायिनी ॥१७३॥

अर्थ :— संक्लेशपरिणामधारी जीवों की बुद्धि संसार को बढ़ाने वाली होती है, परन्तु निर्मल भावधारी पुरुषों की प्रवृत्ति या सहनशीलता सम्यग्दर्शनरूपी धन प्रदान करने वाली होती है।

विशेषार्थ :— जिन जीवों के परिणामों में ससार के पदार्थों की तृष्णा के वश रातदिन अशुभ संक्लेश भाव रहते हैं, उनके मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषायों का निरन्तर बन्ध पड़ता रहता है। वे निगोद आदि पर्यायों में चले जाते हैं। वहां अनन्तकाल तक जन्म मरण करते रहते हैं; परन्तु जिनके परिणाम शुभ हैं, शान्त हैं, वे तत्त्वों का मनन करते हैं। उनको अपनी आत्मा का श्रद्धान होना बहुत सम्भव है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समान जगत् में कोई दूसरा धन नहीं है, शान्त-चित्तवालों को ऐसे अपूर्व धन की प्राप्ति होती है। वे इसी सच्चे धन के प्रताप से मुक्ति सुन्दरी को वश में करते हैं।

आत्मा के संक्लेशपरिणामों से पाप का बन्ध होता है। जब यह संक्लेशप्रवृत्ति रुक जाती है और आत्मा में विशुद्ध प्रवृत्ति जागृत हो जाती है; तब पुण्य का बन्ध होता है परन्तु जिन प्राणियों ने अशुभ और शुभ दोनों से हटकर अपनी परिणति को शुद्ध बना लिया है उन्हें थोड़े समय में ही सच्चा सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। आचार्यों ने अशुभ भावों (संक्लेश) को तो सर्वथा ही हेय बताया है क्योंकि ये संसार के ही बीज हैं; जबकि शुभ भाव परम्परा से मोक्ष के कारण भी हैं। शुभ भावों से ही मानवपर्याय प्राप्त होती है और उत्तरोत्तर अभ्यु-दय प्राप्त होने से प्राणी संयम आदि साधनों के द्वारा भवकूप से निकल सकता है। परन्तु आज कोई-कोई भाई आगम के रहस्य को न समझकर

एकांत बात पकड़कर कहते हैं कि पुण्य संसार का कारण है; ऐसा कहने वाले व्यक्ति पुण्य के फल को प्राप्त करने में रातदिन एक करते देखे जाते हैं तथा पाप के फल से डरते हैं। उन्हें समझाने हेतु कवि का एक सुन्दर हृदयग्राही कथन है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

अर्थात्–संसार के प्राणी पुण्य का फल, जैसे–नीरोग रहना, धन होना, स्त्री, पुत्र आदिजनों का संयोग बना रहना आदि चाहते हैं परन्तु पुण्य करना नहीं चाहते; इसी प्रकार पाप का फल नहीं चाहते जैसे– बीमार रहना, धन रहित होना, अपने कुटुम्ब आदि का मरना इत्यादि परन्तु पाप रातदिन करते रहते हैं। एक मारवाड़ी उक्ति है कि, "खावे-पीवे खसम का और गीत गावे बीरा का" ठीक इसी तरह लोग पुण्य का फल बड़े प्यार से भोगते हैं परन्तु पुण्य को सर्वथा हेय भी बताते जाते हैं। वास्तव में, बन्ध की अपेक्षा पाप और पुण्य एक हैं परन्तु ऐसा कहना उन प्राणियों को ही शोभा देता है, जिन्हें पुण्य के फल में आसक्ति न हो तथा जो पुण्य के फल की वांछा न करते हों।

यदा चित्तविशुद्धिः स्या-दापदः सम्पदस्तथा।
समस्तत्त्वविदां पुंसां, सर्वं हि महतां महत्॥१७४॥

अर्थ :– जब मन में विशुद्धता रहती है तब तत्त्वज्ञानी पुरुषों के चित्त में सम्पत्ति व विपत्ति दोनों में समान भाव रहते हैं, महान् पुरुषों की सभी चेष्टाएँ महान् होती हैं।

विशेषार्थ :– वस्तु के यथार्थ स्वरूप को विचारने वाले ज्ञानी जीव अपने चित्त को सदा निर्मल रखते हैं। वे विषयों की तृष्णा से और उनके वियोग से अपने भावों को मैला नहीं करते हैं। वे तत्त्वज्ञानी आत्मसुख के ही प्रेमी होते हैं। अपने बाँधे हुए कर्मों के उदय से जब आपत्तियाँ आ जाती हैं या सम्पत्तियां हो जाती हैं तब वे दोनों ही

दशाओं में समभाव रखते हैं। वे जानते हैं कि यह सर्व पुण्य-पाप का खेल है, दोनों ही नाशवान हैं; इनके संयोग और वियोग में हर्ष विषाद करना व्यर्थ है। महात्मा सम्यग्दृष्टि जीव जगत् में ज्ञाता द्रष्टा बने रहते हैं, दुःख पड़ने पर दुःखी व सुख मिलने पर उन्मत्त नहीं होते हैं। सम्यग्दृष्टि प्राणी की तो श्रद्धा ही चारित्र-ग्रहण की रहती है, इसलिए वह चारित्रधारियों की भक्ति करता है। यदि कोई चारित्र के गुण गाता है और चारित्रधारियों का विनय आदि नहीं करता है तो समझ लो उसे चारित्र से प्रेम है ही नहीं। हाँ, एक बात जरूर है कि वह चारित्र पर पूरा विश्वास रखता है। जितना दर्शनमोहनीय घातक है, उतना चारित्रमोहनीय नहीं; जैसे फोड़े में से कीली निकल गई तो घाव धीरे-धीरे भर जाता है ठीक वैसे ही जब दर्शन मोहनीय निकल गया तो चारित्र मोहनीय भी निकल जाता है। यथार्थ में, सम्यग्दृष्टि विषय-भोगादि भोगता है परन्तु वह उनमें मस्त नहीं होता। देखो ! जब कोई लड़की अपने ससुराल के लिए विदा होती है तब वह रोती है, चिल्लाती भी है, बाह्य में सब क्रियाएँ करती है परन्तु वह मन में भली भाँति जानती है कि उसका घर तो ससुराल ही है, पतिगृह ही है; वैसे ही सम्यक्त्वी प्राणी भी जानता है कि मेरा घर तो मोक्ष है, मुझे वहीं जाना है, यद्यपि यहां खाता भी है, भोगता भी है परन्तु उसकी दृष्टि अपने लक्ष्य पर ही रहती है। इस प्रकार उन महापुरुषों की भावना संसार छोड़ने की रहती है। आज सम्यक्त्व का गीत गाने वालों की कमी नहीं है, वे मुंह फाड़-फाड़ कर चिल्लाते हैं कि संसार असार है, पुण्य में क्या रखा है, वह तो संसार का कारण है, परन्तु उन प्रमादियों को यह मालूम नहीं कि पुण्य संसार का कारण नहीं; उसका काम तो विषयसामग्री जुटा देना मात्र है, परन्तु उसे भोगने की जो आसक्ति है, वास्तव में, नरक का कारण वह है, न कि पुण्य। संसार में रहते हुए पदार्थों को भोगने में इतनी आपत्ति नहीं, जितनी उनमें लिप्त होने में है।

परोऽप्युत्पथमापन्नो, निषेद्धुं युक्त एव सः।
किं पुनः स्वमनोऽत्यर्थं, विषयोत्पथयायिवत् ॥१७५॥

अर्थ :- यदि दूसरा कोई कुमार्गगामी हो गया है तो भी उसे मना ही करना चाहिए, यह तो ठीक ही है परन्तु विषयों के कुमार्ग में जाने वाले अपने मन को अतिशय रूप से क्यों नहीं रोकना चाहिए अर्थात् अवश्य रोकना चाहिए।

विशेषार्थ:-जो मानव दूसरों को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं, परन्तु अपने मन को विषयों से नहीं रोकते हैं; उनके लिए आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! जैसे दूसरों को कुमार्ग से रोकना उचित है वैसे अपने मन को भी तो विषयों से रोकना चाहिए। दूसरे जीव हमारे उपदेश से सुमार्ग पर आ जावेंगे तथा कुमार्ग से बचेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं है अर्थात् उपदेशदाता का उपदेश दूसरे पर असर करेगा या नहीं इसका कोई निश्चय नहीं है, परन्तु हे भाई ! अपना मन तो अपने ही आधीन है, यदि हम भले प्रकार अपने मन को समझावेंगे तो उसे कुमार्ग पर जाने से रोक सकेंगे। इसलिए हमें अपने आपको विषयों के मार्ग से अवश्य बचाना चाहिए।

लोक में वे मानव धन्य हैं, जिनका मन, वचन और काय एकरूप है और पवित्रतारूप पीयूष (अमृत) से परिपूर्ण है। जो रातदिन परोप-कार-परायण रहकर प्राणीमात्र के हित के लिए सोचते हैं तथा दूसरों के गुणों को ग्रहण करने में जिनको आनन्द आता है; संसार में ऐसे शिष्टाचार-परायण नररत्न विरले ही होते हैं। मानवों को अपने कल्याण में सावधान रहना चाहिए। यदि सांसारिक झंझटों में ही लगे रहे तो आत्महित में न्यूनता अवश्य आएगी। प्राणियों को दूसरों के अवगुण न देखकर स्वयं की भूलों पर दृष्टि डालनी चाहिए और उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। आज संसार में उदारता, समता, विश्वप्रेम आदि मधुर शब्दों का उच्चारण करते हुए अपनी स्वार्थपरता का पोषण बड़े-बड़े राष्ट्र तक करते हैं और करोड़ों व्यक्तियों के न्यायो-चित और अत्यन्त आवश्यक स्वत्वों का अपहरण करते हैं, उनको वास्तविकता के दर्पण में अपना मुख देखना चाहिए। देखो ! जीवों के

वध से तो नरकादि गतियां प्राप्त होती हैं और दूसरों को अभय प्रदान करने से स्वर्ग का लाभ होता है, ये दोनों मार्ग पास में ही है; "जहिं भावई तहिं लागु"– अर्थात् जो बात आपको रुचिकर हो उसी में लग जाओ। देखो ! कितना प्रशस्त और समुज्ज्वल मार्ग आचार्यों ने बताया है कि जो संसार के जीवों को अभय प्रदान करेगा वह अभयावस्था तथा आनन्द का उपभोग करेगा। परन्तु जो कोई अन्य को कष्ट देगा, उसे विपत्ति की भीषण दावाग्नि में भस्म होना पड़ेगा। जिन्हें आत्महित की वांछा है उन्हें स्व-पर दया करते हुए आत्म-कल्याण में लग जाना चाहिए।

अज्ञानाद्यदि मोहाद्यत्कृतं कर्म सुकुत्सितम् ।
व्यावर्तयेन्मनस्तस्मात्, पुनस्तन्न समाचरेत् ॥१७६॥

अर्थ :– अज्ञान के वशीभूत होकर या मोह के अधीन होकर यदि कोई अशुभकाम भी किया गया है तो उससे मन को हटा लेवे तथा फिर उस काम को नहीं करे।

विशेषार्थ :– बहुधा अशुभ काम या तो अज्ञान से, बिना समझे हो जाते हैं, या जानने पर भी मोह के प्रभाव से या कषाय के तीव्र उदय से हो जाते हैं। उस समय ज्ञानी प्राणियों को विचार करके अपने मन को रोकना चाहिए तथा अपने मन को इस तरह संयम के साधन में लगा लेना चाहिए कि मन में उस काम से ग्लानि हो जावे तथा फिर दुबारा मन उस खराब काम की तरफ नहीं प्रवर्ते। आत्मबल जो अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है, सो हर एक मानव के पास मौजूद है। उस आत्मबल से अशुभमार्ग में जानेवाली इच्छाओं को रोकना चाहिए तथा आत्महित हो सके उस मार्ग में जोड़ने का अभ्यास करना चाहिए।

अपनी आत्मा को निर्मल बनाओ, अभिप्राय को साफ रखो, देखो ! ये क्रोधादि विभाव आत्मा के नहीं हैं, औदयिक हैं, मिटने वाले हैं। क्षमादि धर्म आत्मा के स्वभाव हैं वे निरन्तर रह सकते हैं। तात्पर्य यह

है कि मानव यदि चाहे तो अपनी भूल मिटाकर स्वभाव में आ सकता है। अज्ञान अवस्था में गलतियाँ होती ही रहती हैं जो विवेकीजन उन्हें गलतियां समझकर छोड़ देते हैं वें आचार्यों की दृष्टि में मानव हैं परन्तु जो अपनी गलतियों को मंजूर नहीं करते हैं वे हैवान(दानव) हैं तथा जो गलतियों पर गलतियां करते ही जाते हैं वे तो सचमुच में शैतान होते हैं। कहा भी है—

गलती जो करता नहीं उसे भगवान कहते हैं,
पर जो गलती को करके छोड़ देता है उसे इन्सान कहते हैं।
जो गलती करके भी उसे मंजूर नहीं करता उसे हैवान कहते हैं,
पर जो गलती पर गलती करता ही जाता है उसे शैतान कहते हैं।

सारांश यह है कि अज्ञानवश प्राणी से गलती होना कोई बड़ी बात नहीं है लेकिन अपनी गलती को समझकर छोड़ देना सज्जनता है; परन्तु जो अभिमानी जन न तो अपनी गलतियों को देखते हैं और न उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करते हैं, वे उचित नहीं करते। मुमुक्षुओं को अपनी गलतियाँ दूर करते हुए बुरे कामों से बचना चाहिए जिससे संसार के दुःखों का अन्त हो जावे।

अचिरेणैव कालेन, फलं प्राप्स्यसि दुर्मते।
विपाकेऽतीव तिक्तस्य, कर्मणो यत्त्वया कृतम् ॥१७७॥

अर्थ:– हे दुर्बुद्धि ! तूने जो कर्म किए हैं उन अत्यन्त बुरे कर्मों के पकने पर थोड़े से ही काल में तू फल प्राप्त करेगा।

विशेषार्थ:– संसार में दुर्बुद्धि प्राणी पाप कर्मों को करते हुए भविष्य में उनका फल बड़ा कटुक होगा, इस बात का तनिक भी विचार नहीं करते हैं। उस समय असातावेदनीय आदि पापों के कर्मों में तीव्र अनुभाग पड़ जाता है। उनका कुछ काल पीछे जब फल प्रकट होता है तब प्राणी को असहनीय दुःखों की प्राप्ति होती है। ऐसा विचार कर बुद्धिमानों को किसी भी स्थिति में ऐसे काम नहीं करने चाहिए जिनसे अशुभ कर्मों का बन्ध होता हो।

प्राणियों को आगामी भोगों की इच्छा न रखते हुए पक्षपातरहित होकर सर्व जीवों पर समान दृष्टि रखनी चाहिए। परन्तु अज्ञान और मोह के कारण प्राणी तृष्णा, स्वार्थपरता और दुष्टता के वश होकर अन्याय-अत्याचार करने में भी नहीं चूकते हैं। इसलिए मानवों को कर्मजाल से छूटने के लिए आत्मदर्शन के साथ-साथ निस्पृहता पूर्वक संयत-जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। देखो! मिथ्यात्व के आधीन होकर धर्ममार्ग का त्याग करने वाला देवता भी मरकर एकेन्द्रिय हो जाता है, धर्माचरण से रहित चक्रवर्ती भी नरक में गिरता है। इसलिए अपना उत्तरदायित्व सोचते हुए कि इस जीवन का भाग्य स्व-उपार्जित कर्मों के आधीन है, अवश्य ही धर्माचरण करना चाहिए।

खेद है कि धर्म-कर्म से शून्य व्यक्ति अपनी मूल संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं। ज्यों-ज्यों वे धर्म को छोड़कर अधर्म को अपनाते जाते हैं त्यों-त्यों पतन के मार्ग की ओर बढ़ रहे हैं। देखो! जिस देश में धर्म और दर्शन, संस्कृति के रूप में अतिपुरातनकाल से प्रचलित रहे हैं उस देश में आज वे ही आलोचना का विषय बनते जा रहे हैं। इस आलोचना को प्रश्रय जहाँ से मिल रहा है वह प्रायः अत्याधुनिक विचार है, जो देश की संस्कृतिमूलक आत्मा से परिचित नहीं है। आधुनिक सभ्यता में लोग आचरण तथा धर्म को तिलाञ्जलि देकर धार्मिकजनों को देखकर ग्लानि करते हैं तथा मखौल उड़ाते हैं कि आज के जमाने में धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है लेकिन उन्हें यह होश नहीं है कि वे किस बलबूते पर ऐशोआराम कर रहे हैं। अरे! जो आज मौज मजा उड़ा रहे हो वह सब धर्मरूपी वृक्ष का ही तो फल है।

वर्धमानं हि तत्कर्म, संज्ञानाद्यो न शोधयेत्।
सुप्रभूतभूतसंग्रस्तः, स पश्चात् परितप्यते ॥१७८॥

अर्थ :– जो प्राणी इन बढ़ते हुए पापकर्मों को सम्यग्ज्ञान के द्वारा दूर नहीं करता है वह अति तीव्र कर्मरूपी भूत से पकड़ा हुआ पीछे पछताता है।

विशेषार्थ :– यदि अज्ञान या मोह के वशीभूत होकर अपने से पाप-कर्म हो जावे तो उसकी शुद्धि सम्यग्ज्ञान के द्वारा धर्माचरण करके करनी चाहिए। जो जन धर्म की ओर लक्ष्य नहीं देते हैं और पापकर्मों को करते ही रहते हैं, उनके बाँधे हुए तीव्र कर्म जब उदय में आते हैं तब वे प्राणी बहुत दुःख उठाते हैं, फिर उनके मन में पश्चात्ताप ही शेष रहता है।

वास्तव में, प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। मूलतः आत्मा शुद्ध है। यदि कोई प्राणी अपने अर्जित कर्मों को सदाचरण, ज्ञान और सद् विश्वास द्वारा नष्ट कर देता है तथा अपनी आत्मा से सारे कालुष्य को धो डालता है तो वह परमात्मा बन जाता है। जैन दर्शन में शुद्ध आत्मा का नाम ही परमात्मा है, आत्मा से भिन्न दूसरा कोई परमात्मा नहीं हो सकता है। जब तक जीवात्मा कर्मों से बँधा है तथा कर्मों के आवरण से उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ढके हुए हैं, तब तक वह संसारी है इन समस्त आवरणों के दूर होते ही आत्मा परमात्मा बन जाता है। सच तो यह है कि परमात्मा बनने पर ही स्वतन्त्रता मिलती है, कर्मबन्धन की पराधीनता उसी समय दूर होती है। साधक अवस्था में प्राणियों को अशुभ प्रवृत्तियों से बचकर शुभ कार्यों में लगना चाहिए। देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और त्याग आदि में प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुभभावों के साथ-साथ संसार, शरीर और भोगों से भी विरक्त रहना चाहिए। देखो ! सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक विकल्पों को दूर करने के लिए भगवान की मूर्ति के सामने भक्ति से गद्-गद होकर वीतरागता का चिंतन करता हुआ वीतरागी बनता है। वीतराग-पथ के पथिक आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु परमेष्ठियों के गुणों से अनुरंजित होता है; जिससे स्वयं उसे पथ की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि अपने उपार्जित कर्मों को काटने के लिए मनुष्य को रत्नत्रयधर्म का सहारा लेना चाहिए। यदि मानव प्रमादवश धर्म-ध्यान से वंचित रहता है तो वह सुख, शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। फिर उसे संसार के दारुण दुःखों को दीर्घकाल तक भोगना ही शेष रहेगा।

सुखभावकृता मूढाः, किं न कुर्वन्ति मानवाः ।
येन सन्तापमायान्ति, जन्मकोटिशतेष्वपि ॥१७६॥

अर्थ :– विषयसुख पाने के भाव से प्रेरित होकर मूर्ख मनुष्य क्या-क्या पाप नहीं कर डालते हैं, फिर उन पापों से करोड़ों जन्मों में भी दुःख ही पाते रहते हैं।

विशेषार्थ :– इन्द्रियसुखों की अतितृष्णावश प्राणी हिंसादि पापों को व जूआ खेलना, मांसाहार, मद्यपान, चोरी, शिकार खेलना, वेश्या-सेवन और परस्त्रीसेवन आदि पापों को बेखटके कर डालता है और भी बड़े-बड़े पापों को कर लेता है, जैसे– गांव में आग लगा देता है, अनाथों व विधवाओं का धन आदि हजम कर जाता है, देवद्रव्य को चुरा लेता है, यज्ञ के नाम से, देवी-देवताओं के नाम से घोर प्राणी-हिंसा कर लेता है, झूठे सिक्के चला देता है आदि आदि। इन घोर पापों से दीर्घ स्थिति पड़ने वाले व तीव्र अनुभाग वाले कर्मों को बाँध लेता है। जब उनका उदय अनेक जन्मों में नरकतिर्यंचादि गतियों में आता है तब प्राणी घोर वेदना का अनुभव करता है।

संसार में जिन प्राणियों के मन की प्रवृत्ति पञ्चेन्द्रियों के विषय भोगों के प्रति अत्यन्त आसक्तिपूर्ण होती है, जो अन्याय से धन आदि सामग्री का संचय करते हैं; रोग, शोक, भोग, वियोग में मिथ्यात्व का सेवन करते हैं तथा अभक्ष्य-भक्षण करते हैं ऐसे मनुष्यों के तो व्यवहार धर्म का भी अंश नहीं है। ऐसे अज्ञानियों की तो बात ही क्या करना, किन्तु जिन्हें विषयों की सम्पदा मौजूद होते हुए भी तृष्णा नहीं है; रोगादि कष्टों के होने पर भी जिनका श्रद्धान सम्यक् है और शुद्ध अशुद्ध का जिनको पूर्ण विवेक है, ऐसे जीव ही मोक्ष के अधिकारी हैं। ऐसे संयमी पुरुषों का त्याग निश्चय से मोक्षमार्ग का हेतु है; अर्थात् जितने-जितने परिमाण में वाह्य पदार्थों का त्याग होता है, उतना-उतना ही उनका अन्तरंग शुद्ध होता जाता है। महाव्रत धारण करने पर परिणामों की विशुद्धता बढ़ने से वे स्वरूप में स्थिरता पाते हुए परम सामायिकरूप

निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाते हैं और अन्तमें चारों घातिया कर्मों का नाश करके कैवल्य पद पाते हैं। परन्तु इन्द्रियजनित सुख की वांछा रखने वाले, बड़े-बड़े पापों से भी न डरते हुए तीव्र कर्म बाँध लेते हैं फिर अनेक जन्मों में भारी शारीरिक और मानसिक दुःख उठाते हैं तथा चारों गतियों में जन्म-मरण करते हुए नये-नये कर्म ही बाँधते रहते हैं जिससे उनका संसार बढ़ता जाता है।

परं च वंचयामीति, यो हि मायां प्रयुज्यते।
इहामुत्र च लोके वै, तैरात्मा वंचितः सदा ॥१८०॥

अर्थ :– दूसरों को ठग लूँगा ऐसा विचार करके जो कोई मायाचार का उपाय करते हैं उन लोगों ने इस लोक तथा परलोक दोनों में सदा ही अपने आपको ठगा है।

विशेषार्थ :– जो प्राणी सांसारिक पदार्थों की इच्छा करके दूसरों के द्रव्यादि को धोखा देकर लेने के लिए मायाचार करते हैं, अनेक प्रकार के प्रपंचों से दूसरों को ठगते हैं वे अपनी आत्मा को ही ठगते हैं। वे यहां भी मलिन भावों से आकुलित रहते हैं तथा दूसरों को ठगने के भाव से उनमें हिंसात्मक भाव रहता है, उनका मायाचार जब प्रगट हो जाता है तब वे अविश्वास व निन्दा के पात्र होते हैं तथा तीव्र पाप से नरक तिर्यंचगति का बन्ध कर कुगतियों में पड़कर दुःख उठाते हैं। उनका भव-भव बिगड़ जाता है, वे अपनी आत्मा का महान् अपराध करते हैं।

देखो ! मानव जिस शरीर आदि को अपना मानता है वह शरीर तो बालू की भीत है, क्षणिक है। किसी भी समय रोग आदि हो सकते हैं फिर यह क्षीण हो जाएगा अथवा मृत्यु क्षणमात्र में आकर गला दबोच सकती है। अतः मृत्यु को अपने जीवन का साथी समझकर संसार के पदार्थों में राग-बुद्धि नहीं करनी चाहिए। ऐसा होते हुए भी अज्ञानी जीवों के कार्यों पर आचार्य आश्चर्य प्रकट करते हैं कि देखो ! प्राणियों

की जिन्दगी मृत्यु के मुँह में है फिर भी वे कभी नहीं सोचते कि मैं दूसरों को क्यों ठगता हूँ तथा मायाचार क्यों करता हूं ? आखिर यहां रहना ही कितना है, इस प्रकार यदि प्राणी विचार करे अथवा अपनी त्रुटियों को देखते हुए वस्तु के यथार्थ स्वरूप को विचारे तो उसमें पर्याप्त सहनशीलता आ सकती है तथा संसार के झगड़े समाप्त हो सकते हैं। मानव मायाचार करके आत्मवञ्चना ही करता है, एक कवि ने ठीक ही कहा है—

दगा किसी का सगा नहीं, नहीं किया तो कर देखो।
जिस भाई ने दगा किया, उसका जाकर घर देखो ॥

तात्पर्य यह है कि दगा करना मानवता नहीं दानवता है। मायाचार के कारण दुर्गति में जाकर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख उठाने पड़ते हैं।

पंचतासन्नतां प्राप्तं, न कृतं सुकृतार्जनं ।
स मानुषेऽपि संप्राप्ते, हा ! गतं जन्म निष्फलम् ? ॥१८१॥

अर्थः— जिसने मरण के सन्निकट होने पर भी पुण्यार्जन नहीं किया है, उसने मनुष्यभव पाकर भी अपना जन्म बेकार ही खोया है, यह बड़े खेद की बात है।

विशेषार्थ :— संसार में बहुत से मानव अपना सारा जीवन धर्मसेवन के विना और पुण्य कर्म के बाँधे बिना वृथा ही खो देते हैं। मानव-पर्याय सब पर्यायों से उत्तम है। इस पर्याय से आत्मा को मोक्ष तक का लाभ कराया जा सकता है तथा धर्मसाधन आदि परोपकार का काम किया जा सकता है। ऐसी पर्याय प्राप्त करके भी यदि व्यर्थ खो दी जाए तो फिर इसका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है; ऐसे अपूर्व अवसर को खो देना बड़ी भारी मूर्खता है।

शिष्ट व्यक्तियों का सम्मान सभी करते हैं। शिष्टाचार से आत्म-शुद्धि होती है। सारे उच्च-आदर्श और क्रियायें आत्मशुद्धि-मूलक हैं। धार्मिक शिष्टाचार बाहरी प्रदर्शन मात्र नहीं है, वह तो आत्मा से

स्वीकार किया हुआ विनय है जिसमें कुलीनता और शालीनता दोनों हैं। आज समाज में अभक्ष्य-भक्षण तथा अत्याचार-अनाचार का जो बोलबाला हो रहा है, उसका एक मात्र कारण धर्म से विमुख हो अधर्म को अपनाना है, धर्माचरण के बिना मानव दानव का रूप धारण कर बैठता है और मानवता से कोसों दूर चला जाता है। धार्मिक भावना से ही मानव-समाज में उत्पन्न कलह और विद्वेष समाप्त हो सकते हैं, इसलिए समाज में शान्ति लाने के लिए धर्माचरणों का पालन करना अत्यावश्यक है। आज का मानव भोगों को ही सर्वस्व मान बैठा है तथा धर्म-कर्म को ढकोसला समझने लगा है। परन्तु बात ऐसी नहीं है, वास्तविक शान्ति तो आत्मिक शान्ति ही है। जो मानव उत्तम श्रावककुल, पांचों इन्द्रियों की पूर्णता, दीर्घ आयु आदि सारी सामग्रियों को प्राप्त करके भी आत्म-कल्याण हेतु प्रयत्न नहीं करते हैं वे अपने जीवन को वृथा खो रहे हैं सो बड़े खेद की बात है।

कर्मपाशविमोक्षाय, यत्नं यस्य न देहिनः ।
संसारे च महागुप्तौ, बद्धः संतिष्ठते सदा ॥१८२॥

अर्थ :– जिस प्राणी का उपाय कर्म के जाल से छूटने का नहीं है, वह महान् गम्भीर कैद के समान इस संसार में सदा बँधा हुआ ही रहेगा।

विशेषार्थ :– यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है। पुण्य तथा पापकर्मों का बन्ध सदा ही इस जीव के होता ही रहता है; क्योंकि इसके परिणामों में राग-द्वेष मोह सदा पाया जाता है। जब तक कोई भव्य जीव कर्मों के जाल को काटने का उपाय नहीं करेगा तब तक वह कभी बन्धरहित नहीं हो सकता है। बन्धन के छूटने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूपी रत्नत्रयधर्म का सेवन है। इस धर्म के सेवन से वीतराग भाव प्रगट होता है; वीतराग भाव से पूर्वबद्ध कर्म निर्बल हो जाते हैं। इनमें से कितने कर्म तो खिर जाते हैं। ऐसा साधक अवश्य एक दिन कठिन कर्मों से मुक्त हो जाएगा, परन्तु

जो प्राणी धर्म-साधन से उदासीन हैं वे संसार की इस भयानक जेल से कभी नहीं निकल सकते हैं।

संसार-समुद्र में विपत्तिरूपी मगरादि विद्यमान हैं; उसमें गोता लगाने वाला प्राणी मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है, लेकिन समुद्र के तीर पर रहने वाला बचता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने को पापारंभ से बचाता है, प्रतिक्षण अपने आत्मतत्त्व पर विचार करता है तथा संसार से भयभीत रहता है वह प्राणी एक न एक दिन इस अथाह संसार से पार हो सकता है। जिन्होंने कर्मों के बन्धन काटने हेतु संयम अपनाया है; वे परिग्रहरहित साधु ही व्रत, संयम आदि साधनों से अपनी आत्मा को सुसंस्कृत करके वज्र से भी कठिन कर्मों को काटने में सफल हो सकते हैं।

वास्तव में, इस दुर्लभ मानव-पर्याय की सफलता संयमधारण करके हमेशा के लिए भवरोग को मिटाने में ही है; यदि सम्पूर्ण संयम धारण करने में हिचकिचाते हो तो कम से कम एकदेश चारित्र तो अवश्य ही धारण करना चाहिए। मानव-जीवन को पवित्र और मर्यादित बनाने के लिए व्रत और संयम का बन्धन अत्यावश्यक है। मानव का सच्चा धन संयम है। संयम से ही मानव धीर, वीर, गंभीर व निःशल्य बनता है। संयम पाने के लिए बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं, अपने ज्ञानसागर में गोता लगाने से संयमरूपी रत्न प्राप्त होता है। संयम से ही प्राणियों का आत्मबल बना रहता है, क्योंकि संयमी जीव निःशल्य होता है। संयम से आधि, व्याधि, उपाधि, सर्व रोग मिटते हैं। संयम से आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है।

गृहाचारकुवासेऽस्मिन्, विषयामिषलोभिनः।
सीदंति नरशार्दूला, बद्धा बान्धवबन्धनैः ॥१८३॥

अर्थ :— गृहस्थ के खोटे वास में रहते हुए पांच इन्द्रियों के विषय-रूपी मांस के लोभी, नरसिंह होने पर भी बन्धुजनों और परिवार के स्नेह द्वारा बँधे हुए दुःख उठाते रहते हैं।

विशेषार्थ :– देखो ! महान् पराक्रमी पुरुष भी जो इन्द्रियों के विषयों के लोलुपी होते हैं, वे गृहवास में रातदिन विषयों के भोगों में लगे रहते हैं। इच्छित भोग न पाने पर घबराते हैं तथा उनके वियोग होने पर दुःखी होते हैं। शरीर में रोगादि हो जाने पर दुःखी होते हैं, धन की आशा में कष्ट पाते हैं। जितना-जितना विषयभोग किया जाता है तृष्णा का उतना-उतना दाह बढ़ता जाता है, फिर वे दाह से जलते हुए कष्टमय जीवन बिताते हैं तथा तीव्र राग-द्वेष के कारण अशुभकर्म बाँधकर दुर्गति में जाकर कष्ट पाते हैं। सच पूछो तो इस असार संसार में वे ही व्यक्ति सुखी हैं जो विषयरूपी मांस के त्यागी हैं और अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत के प्रेमी हैं।

गृहस्थी में स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई-बन्धुओं के स्नेह में घिरा यह जीव रातदिन संकल्प-विकल्पों से आकुलित रहता है। आचार्यों ने भव्य आत्माओं को सम्बोधित करते हुए कहा है कि प्राणियों को अपने भाव शुद्ध रखने चाहिए परन्तु जो जीव एकांतवाद, माया, अभिमान, लोभ आदि कषायों का त्याग किए बिना भाव-शुद्धि के स्वप्न देखते हैं वे मानों बालू रेत से तेल निकालना चाहते हैं। भावों की शुद्धि के लिए प्राणियों को मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद रूप नोकषायों का त्याग करना होगा तथा जिनेन्द्र-भगवान की आज्ञानुसार जिनबिम्ब, जिनवाणी तथा निर्ग्रंथगुरु की भक्ति करनी होगी तथा संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति लेनी होगी। आज एकान्तवादी पुरुष सारे दिन "हाय धन, हाय पैसा" से प्रेरित होकर पुण्यरूपी वृक्ष के फलों का संग्रह करना चाहते हैं किन्तु साथ में यह भी कहते हैं कि हमें पुण्य नहीं चाहिए। जैसे कोई आम के शौकीन सज्जन आम तो खाना चाहें और आम के वृक्ष से घृणा करें, वैसे ही उनकी चेष्टा समझदारों को मनोविनोदप्रद है। यदि आम्रवृक्ष नहीं चाहिए तो उसके फलों का भी त्याग करो तब विवेक की बात समझी जाएगी। करनी और कथनी में अन्तर होना कार्यकारी नहीं। मानवों को एकान्त-पक्ष छोड़कर अनेकान्त का सहारा लेना चाहिए तब ही सच्चा मार्ग

दिखेगा। गृहस्थ-अवस्था में रातदिन आरम्भ-परिग्रह तथा परिवार-पोषण आदि में जो पापास्रव होता है, उसको धोने के लिए आचार्यों ने श्रावक के बारह व्रत बताये हैं, उन्हें आगमानुसार पालते रहना चाहिए।

गर्भवासेऽपि यद्दुःखं, प्राप्तमत्रैव जन्मनि।
अधुना विस्मृतं केन, येनात्मानं न बुध्यसे ॥१८४॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! इसी जन्म में गर्भ के भीतर रहते हुए भी जो दुःख तूने उठाए हैं, तू अब उनको कैसे भूल गया है, जिससे तू अपनी आत्मा को नहीं पहचानता है।

विशेषार्थ :– इसी जन्म के दुःखों को जो इसने नौ मास गर्भ में रहकर उठाए हैं, यदि उनका स्मरण किया जावे तो प्राणी को जन्म से घृणा हो जावे। गर्भ में प्राणी को उल्टे टंगे रहकर महान् मलिन स्थान में दिन पूरे करने पड़ते हैं। माता के खाए हुए जूठे रस से शरीर बढ़ता है, फिर बड़े कष्ट से गर्भ से निकलता है। गर्भवास नरकवास के समान कष्टप्रद है। परन्तु यह मानव घर-बार के मोह में पड़कर गर्भ के उन दुःखों को भूले हुए रहता है। यदि कोई स्मरण करे तो उसके भाव हो सकते हैं कि मुझे इस जन्म-मरण से बचना चाहिए। अतएव आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि आत्मिक धर्म ही वह छैनी है जो कर्म की बेड़ियों को काट देती है।

आज संसार में शरीर और पैसों के मद में मस्त रहने वाले तथा धर्म को ढकोसला बताने वाले प्राणियों की कमी नहीं है। जब कभी उनके सामने यह बात आती है कि संसार में नरक-स्वर्ग पाप-पुण्य के कारण भोगने पड़ते हैं, तब वे कहते हैं कि किसने नरक देखा है और किसने स्वर्ग ? सब फालतू की बातें हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं कि–"नरक भी है स्वर्ग भी है; नहीं देखा तो मरकर देख" अर्थात् यहां पर नरक-स्वर्ग कैसे दिखाये जाएँ। लेकिन यह बात तो प्रत्यक्ष है कि प्रत्येक मानव इस जन्म में गर्भ से होकर ही आया है, वहां की वेदना जो इसने भोगी है क्या

वह सब याद है ? गर्भवास में यह प्राणी नौ महिने तक आमाशय और पक्वाशय के बीच थोड़ी सी जगह में नीचे शिर और ऊपर पांव करके रह आया है। कोई धर्मविहीन भाई यह भी कहता है कि धर्म करके क्या करना ! धर्म से स्वर्ग-मोक्ष मिलता है। वहां इस मनुष्यभव जैसे आराम है क्या ? क्या वहाँ बिजली का पंखा है ? क्या वहाँ विद्युत् की डे लाइटें वा सर्च लाइटें हैं ? उन्हें विवेक के प्रकाश में जरा सोचना चाहिए कि महाशयजी ! जब आप गर्भ में नौ मास तक रहे थे तब वहां कौनसी कम्पनी का कितने इंच का पंखा था तथा कितने पावर की लाइटें थीं। वास्तव में, ऐसे मानव तनिक पापानुबन्धी पुण्य के उदय में थोड़ी सम्पदा को पाकर मतवाले हो रहे हैं उन्हें जानना चाहिए कि यह पुण्य रूपी सूर्य जब अस्त होगा तब उन्हें लोग मरी मक्खी की तरह निकाल कर फेंक देंगे। फिर वे चिल्ला-चिल्ला कर कहेंगे कि हाय ! हमने समय पर अपने को नहीं संभाला।

चतुरशीतिलक्षेषु, योनीनां भ्रमता त्वया।
प्राप्तानि दुःखशल्यानि, नानाकाराणि मोहिना ॥१८५॥

अर्थ :– हे भाई ! तूने चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए मोही होने के कारण नाना प्रकार के दुःखरूपी कांटों की वेदना पाई है।

विशेषार्थ :– संसार में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त सर्व जीवों के उत्पत्ति-स्थानों की जातियों की संख्या ८४ लाख है। शरीरादि के मोह के कारण यह जीव कर्म बांधकर अपने पाप-पुण्य के अनुसार अच्छी या बुरी योनि में जन्म लेता है। वहां जो दुःख उठाये जाते हैं; वे कथन में नहीं आ सकते हैं। हर एक जन्म में तृष्णा का रोग है तथा इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग भी सहना पड़ता है अथवा जन्म-मरण का दुःख भी होता है। इस प्रकार इस जीव ने अपने आत्मा को न जानकर व सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को न पाकर संसार में महान् कष्ट उठाए हैं।

चौरासी लाख योनियाँ इस प्रकार हैं— नित्यनिगोद ७ लाख,

इतरनिगोद ७ लाख, पृथ्वीकायिक ७ लाख, जलकायिक ७ लाख, अग्निकायिक ७ लाख, वायुकायिक ७ लाख, प्रत्येक वनस्पति १० लाख, द्वीन्द्रिय २ लाख, तीन्द्रिय २ लाख, चतुरिन्द्रय २ लाख, देव ४ लाख, नारकी ४ लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यन्च ४ लाख तथा मनुष्य १४ लाख। इस प्रकार कुल ८४ लाख योनियाँ आगम में बतलाई गई हैं।

यह जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों एवं चौरासी लाख योनियों में निरन्तर अपने स्वरूप को भूले रहने के कारण भ्रमण करता चला आ रहा है। आत्मा तो शाश्वत है, परन्तु कार्माण शरीर के कारण इसे अनेक नर, नारकादि पर्यायें धारण करनी पड़ती हैं। जब तक यह जीव विषयों के आधीन रहता है; जैसे जिह्वा स्वादिष्ट भोजन चाहती रहती है, नासिका को सुगन्ध अच्छी लगती है, कान को वारांगनाओं के गायन-वादन प्रिय मालूम होते हैं, आंखों को अच्छे-अच्छे पिक्चर, सिनेमा, टेलीविजन आदि अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा त्वचा को सुगन्धलेपन करना तथा आरामदेह पलंग आदि प्रिय लगता है, तब तक यह जीव अपने स्वरूप को नहीं पहचानता है। इन्द्रियों की गति बड़ी तेज होती है वे अपनी ओर मन को खींच लेती हैं। मन के ही आधीन होकर इन्द्रियों की विषयों की में प्रवृत्ति होती है। अतः मन को जीतना अति आवश्यक है। कहां तक कहें, इस मन को विषयों में गति प्रति सेकण्ड एक अरब तीन मील से भी कुछ अधिक है, यह सबसे तेज चलने वाला है तथा यह प्रत्येक रमणीक पदार्थ के पास, आसानी से पहुंच जाता है; जब तक यह जीव इन्द्रियों और मन के आधीन रहता है, तब तक चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हो रहता है।

कथं नोद्विजसे मूढ ! दुःखात् संसृतिसंभवात् ।
येन त्वं विषयासक्तो, लोभेनास्मिन् वशीकृतः ॥१८६॥

अर्थ :– हे मूर्ख प्राणी ! संसार में होने वाले दुःखों से तुझे वैराग्य

क्यों नहीं आता है, जिससे तू इस संसार में विषयों के भीतर फंसा हुआ लोभ के द्वारा जीत लिया गया है।

विशेषार्थ :– इस संसार में यह प्राणी विषयों की आसक्ति के भीतर इतना फंसा हुआ है कि रात-दिन पांचों इन्द्रियों के भोग्य पदार्थों का लोभ रखता हुआ उनकी चाह की दाह में जला करता है। बार-बार संसार में नाना प्रकार के कष्ट भी पाता है तो भी विषयानुरागी रहता है, इसकी बुद्धि ऐसी मन्द हो गई है कि वह सच्चे सुख को जो अपने ही आत्मा के पास है और जो परम शान्तिदाता है, देख भी नहीं पाता। भवसागर में गोते लगाता हुआ तड़फड़ाता है, परन्तु भवसागर से तारने वाली धर्मरूपी नौका को ग्रहण नहीं करता है, यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है! इसलिए मानवों को अन्य प्रयत्नों को छोड़कर सदा धर्मकार्य में लगना चाहिए। धर्म ही मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सुख का साधन है। निश्चय ही धर्म के द्वारा निर्वाण मिल सकता है, इसी के द्वारा स्वानुभूति हो सकती है। अतएव एक क्षण के लिए भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिए, थोड़ी भी असावधानी होने पर क्रोध, मान, माया, लोभ-रूप कषाय इन्द्रियासक्ति और मन की चंचलता द्वारा आत्मानुभूतिरूपी धन चुरा लेंगे। इसलिए साधक को या अपना हित चाहने वालों को कषायों व इन्द्रियासक्ति से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

आत्मा के सच्चिदानन्द स्वभाव को विषय-कषायें ही दूषित करती हैं, अतः इनका त्याग देना ही आवश्यक है। मानवजन्म की सार्थकता इन विकारों को त्यागने में ही है। जब तक आयु शेष है, तब तक इन्द्रिय-नियंत्रण करना ही चाहिए; आयु समाप्त होने पर यह शरीर जला दिया जाएगा। नरभव कल्याण करने के लिए प्राप्त हुआ है, इसको यों ही भोगों में बरबाद कर देना बड़ी भारी मूर्खता होगी। जो व्यक्ति धर्माचरण करते हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे नियम से सद्गति प्राप्त करते हैं परन्तु जो पापाचरण करते हुए मरते हैं वे निश्चय से दुर्गति में ही जाते हैं। अतः दुःख, आतंक, अज्ञान, मोह, भ्रम आदि को

दूर करने वाले धर्मरूपी अमृत का ही सदा सेवन करना अच्छा है, क्योंकि इस धर्मामृत को पीने से जीवों को परम सुख की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि धर्म के समान संसार में और कोई भी सुखदायी नहीं है। अतः सांसारिक सुखों में अरुचि करते हुए आत्म-सुख का प्रयत्न करते रहो। परन्तु संसार के मोही प्राणी अपने अन्दर ही प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय सुख को भूलकर मोह के वश होकर पांचों इन्द्रियों के सुख की लालसा करते हैं, जिसके द्वारा बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं।

१३. चारित्र की आवश्यकता

यत्त्वयोपार्जितं कर्म, भवकोटिषु पुष्कलं ।
तच्छेत्तुं चेन्न शक्तोऽसि, गतं ते जन्म निष्फलम् ॥१८७॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! तूने करोड़ों भवों में जो कर्म बांधे हैं, उनका नाश करने के लिए यदि तू सामर्थ्य प्रकट नहीं करेगा तो तेरा यह मानव जन्म निष्फल ही बीत गया, ऐसा समझा जाएगा।

विशेषार्थ :– हे आत्मन् ! मानव-जन्म और जैन-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर यदि तू दुःख देने वाले कर्मों के नाश का उद्यम नहीं करेगा और प्रमाद से अपने जीवन के अमूल्य समय को विषय-भोगों में व मोह के प्रपंच में बिता देगा तो फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है। तुझे ऐसा संयम और तप पालना चाहिए जिससे कर्मों का क्षय हो सके। देव तथा नारकी तो संयम पाल नहीं सकते, पशुगति में एक-देशव्रत पल सकते हैं, परन्तु पूर्ण संयम-पालन का साधन तो मात्र मनुष्यपर्याय में ही है। अतएव प्रमादी न बनकर पुरुषार्थ करके भव-भव के बांधे कर्मों के नाश के लिए सम्यग्दर्शन सहित चारित्र की आराधना करना अत्यावश्यक है, जिससे तुझे वर्त्तमान में भी सुख होगा और भविष्य में भी आत्महित हो सकेगा।

देखो ! संसार में जो व्यक्ति आलसी हैं, प्रमादी हैं, कायर हैं, मायाचारी हैं; वे 'लोग क्या कहेंगे'– ऐसा विचार कर अपने कर्त्तव्य से विमुख रहते हैं तथा निरन्तर प्रतीक्षा करते रहते हैं कि अभी समय अच्छा नहीं आया, जब आएगा तब अमुक कार्य आरम्भ करूंगा। ऐसा विचार करने वाले व्यक्ति कभी सफल नहीं हो सकते हैं। उनके लिए कभी अनुकूल समय नहीं आता, वे अवसर की बाट उसी प्रकार देखते रहते हैं, जैसे- वन्ध्या पुत्रप्राप्ति की। अवसर स्वयं तो किसी-किसी भाग्य-शाली को पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त होता है, अन्यथा पुरुषार्थी स्वयं उसे आगे बढ़कर पकड़ लाते हैं। इस प्रकार समझदार व्यक्ति समय को मूल्यवान् समझकर सफलता के शिखर पर जा पहुंचते हैं। परन्तु जो अनुकूल समय के इन्तजार में अपना जन्म खो देते हैं वे संसार में दीर्घ-काल तक भव-भव में भटकते ही रहते हैं। देखो ! चींटी भी चलते-चलते योजनों तक जा सकती है, परन्तु न चलने पर अत्यन्त तेज गति वाला गरुड़ पक्षी एक कदम भी नहीं पहुंच सकता है। अतः प्राणियों को चाहिए कि वे मनुष्य-भव के अमूल्य क्षणों का सदुपयोग करें और संयम धारण कर अनादिकाल के उपार्जित कर्मों को पुरुषार्थ करते हुए नष्ट करें। अन्यथा समय निकलने के बाद पश्चात्ताप के अलावा कुछ नहीं रहेगा।

अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म, यज्जन्मशतकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा, निहंत्यन्तर्मुहूर्त्ततः ॥१८८॥

अर्थ :– मिथ्यात्वसहित आत्मा जितने कर्मों को करोड़ों जन्मों में नष्ट करता है, उतने कर्मों को सम्यग्ज्ञानी पुरुष अपने मन, वचन और काय की गुप्ति में ठहर कर एक अन्तर्मुहूर्त्त में नष्ट कर डालता है।

विशेषार्थ :– जिसको आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी प्राणी सविपाक निर्जरा से अपने समय पर उदय होकर खिरने वाले कर्मों को करोड़ों भवों में खिराएगा अर्थात् फल भोग-भोग कर दूर

करेगा, उतने कर्मों की वर्गणाओं को सम्यग्ज्ञानी आत्मा अपने आत्म-ज्ञान, आत्म-प्रतीति व वैराग्यभाव की शक्ति से मन, वचन, काय को रोककर ध्यान में तन्मय होने पर एक अन्तर्मुहूर्त्त में क्षय कर डालेगा। इतनी देर यदि किसी महात्मा की लगातार आत्मध्यान में एकाग्रता हो जावे, तो इस ध्यान की अग्नि से भव-भव के बांधे हुए कर्म भस्म हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट हो सकता है। सम्यक्त्वसहित आत्मानुभव ही सम्यक् चारित्र है जो मोक्ष का लाभ कराता है।

यह बात सिद्ध है कि कार्य-सिद्धि का निवास पुरुषार्थ में है; समय के साथ चलने में है, समय की प्रतीक्षा करने में नहीं; देखो! हजारों मील की यात्रा एक कदम से आरम्भ होती है– हजारों मील चलने के लिए उठा हुआ कदम उस मार्ग की दूरी को प्रतिपद न्यून करता जाता है, एक और एक कदम बढ़ाते-बढ़ाते गन्तव्य समीप आता जाता है। जैसे साहसी पुरुष अपने पुण्य-पुरुषार्थ से सम्मेदशिखर गिरिराज पर चढ़कर श्री स्वर्णभद्र कूट पर पहुंचकर पूज्य पार्श्वनाथ भगवान के चरणों के दर्शन व पूजा कर आता है; परन्तु जो एक कदम का महत्त्व नहीं समझता, वह गति की समग्रता नहीं प्राप्त कर सकता।

समय का सिर पीछे से गंजा होता है। यदि कोई उसका, सामने आने पर स्वागत कर लेता है तो वह उसी का मित्र होकर साथ देने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। किन्तु यदि कोई स्वागत के उस दुर्लभ अवसर को चूक जाता है तो समय लौटकर चल देता है, क्योंकि वह तो गंजा है पीछे से उसे कोई पकड़ नहीं सकता है। अतः मानवों को अपने मन, वचन और काय को रोककर, शान्तचित्त होकर अपने को अनादिकालीन बँधे हुए कर्मों के नाश करने का उद्यम करना ही श्रेष्ठ है, नहीं तो समय बीत जाने पर इस मनुष्य पर्याय का अन्त हो जाएगा और जो अवसर मिला है वह हाथ से निकल जाएगा, फिर न जाने किस-किस योनि में भटकना पड़ेगा।

जीवितेनापि किं तेन, कृता न निर्जरा तदा ।
कर्मणां संवरो वापि, संसारासारकारिणाम् ॥१८६॥

अर्थ :– उस मानव के जीवन से क्या जिसने मनुष्य-पर्याय पाकर इस असार संसार में भ्रमण कराने वाले कर्मों का न तो संवर ही किया और न निर्जरा ही की।

विशेषार्थ :– मानव-जीवन की सफलता आत्मा की शुद्धि से होती है। यह आत्मा कर्मों की संगति से दुःखी है तथा जन्म-मरण के दुःख उठा रहा है। दुःख देने वाले अपने बाँधे हुए कर्म ही हैं। कर्मों के क्षय करने का उपाय मानव-पर्याय में हो सकता है; इसलिए बुद्धिमान मानवों का कर्त्तव्य है कि वे नए कर्मों का संवर करें और पुराने कर्मों की निर्जरा करें जिससे आत्मा शुद्ध हो जावे। संवर और निर्जरा का कारण चारित्र व तप की आराधना है, अतएव साधु के पांच अहिंसादि व्रतों को, पांच समितियों को, तीन गुप्तियों को उत्तमक्षमादि दस धर्मों को, बारह भावनाओं को तथा बाईस परीषहों के जय को, सामायिकादि चारित्र को व अनशनादि बारह प्रकार के तपों को भले प्रकार पालना चाहिए। आत्मध्यान का विशेष अभ्यास करना चाहिए और समय को वृथा न खोना चाहिए।

पुरुषार्थी साधक कर्मों की लीला से बचने के लिए अपनी साधना के द्वारा उदय में आने के पहले ही उनकी निर्जरा कर देते हैं। इस कर्म-प्रक्रिया के अवलोकन से यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि इस संसार का रचयिता कोई नहीं है। परन्तु स्वाभावानुसार संसार के सारे पदार्थ बनते हैं और बिगड़ते हैं। देखो! जैनागम में मूलतः कर्मों के दो भेद बताये हैं– द्रव्य और भाव। मोह के निमित्त से जीव के राग-द्वेष-क्रोधादिरूप जो परिणाम होते हैं, वे भावकर्म तथा इन भावों के निमित्त से जो कर्मरूप परिणमन करने की शक्ति रखने वाले पुद्‌गल परमाणु खिचकर आत्मा के प्रदेशों के चिपट जाते हैं वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। द्रव्य-कर्म और भावकर्म इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। द्रव्य

कर्मों के निमित्त से भावकर्म और भावकर्मों के निमित्त से द्रव्यकर्म बँधते हैं। द्रव्यकर्म के ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ मूल भेद हैं। उत्तर भेद ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाइस, आयु के चार, नामकर्म के तिरानवे, गोत्रकर्म के दो और अन्तराय के पाँच होते हैं इस तरह सर्व एक सौ अड़तालिस भेद बताये हैं। उपर्युक्त आठ कर्मों के भी घातिया और अघातिया ये दो भेद बतलाये हैं। घातिया कर्मों के भी दो भेद हैं– सर्वघाती और देशघाती। जो जीव के गुणों का पूरी तरह से घात करते हैं, उन्हें सर्वघाती कहते हैं और जो एकदेश घात करते हैं उन्हें देशघाती कहते हैं।

ज्ञानावरणी की पांच प्रकृतियाँ, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ, मोहनीय की अट्ठाइस प्रकृतियाँ और अन्तराय की पांच प्रकृतियाँ इस प्रकार कुल सैंतालिस प्रकृतियाँ घातिया कर्मों की हैं। इनमें से छब्बीस देशघाती और इक्कीस सर्वघाती प्रकृतियाँ हैं। यथार्थ में घातियाकर्म पाप माने गए हैं, इन कर्मों का फल सर्वदा जीव के लिए अकल्याणकारी ही होता है। इनके कारण जीव सदा कर्मबन्ध करता ही रहता है। अघातिया कर्मों की पुण्य और पाप दोनों ही प्रकार की प्रकृतियां होती हैं। सारांश यह है कि प्राणियों को आगम के अभ्यास से इन कर्मप्रकृतियों आदि को जानना आवश्यक है। इन सब को जानकर कर्मों के काटने का प्रयत्न करना चाहिए।

स जातो येन जातेन, स्वकृताऽपक्वपाचना।
कर्मणां पाकघोराणां, विबुधेन महात्मनाम् ॥१९०॥

अर्थ :– उसी का जन्म सफल है जिस बुद्धिमान् ने जन्म लेकर महान् कर्मों की, जिनका फल बहुत भयंकर है, पकने के पहले ही स्वयं निर्जरा कर डाली हो।

विशेषार्थ :– तप में यह शक्ति है कि वह कर्मों की स्थिति व अनुभाग घटा देता है, जिससे बहुत दीर्घकाल तक उदय होकर बहुत भयानक

फल देने वाले कर्म क्षण भर में नष्ट कर दिए जाते हैं। बुद्धिमान मानव का कर्त्तव्य है कि वह मानव-जन्म को दुर्लभ समझकर इससे ऐसा तप और आत्मध्यान करे कि जिससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो जावे। जिसने आत्मध्यान द्वारा अपने कर्मों को काटने का प्रयत्न किया है उसी ने जन्म को सार्थक कर अपना सच्चा कल्याण किया है।

मानव-जन्म को पाकर यदि संसार के कारण कर्मों का नाश नहीं किया तो भारी भूल ही की। कर्मों को काटने के लिए प्राणियों को स्वाध्याय का अवलम्बन लेना भी जरूरी है। स्वाध्याय के बल से जीव-अजीव आदि तत्त्वों का भान होता है तथा शरीरादि की अपवित्रता आदि का विश्वास होता है। फिर तो वे जान जाते हैं कि इन कर्मों के कारण आत्मा इस शरीर में बद्ध रहता है। यह स्वयं कर्मों का कर्त्ता और उनके फल का भोक्ता है। अन्य कोई ईश्वर कर्मफल नहीं देता है।

जब प्राणी को तत्त्वों के चिंतवन से शरीर की अपवित्रता का ज्ञान हो जाता है, तो वह अपने स्वरूप को समझकर अपना हित-साधन करने में जुट जाता है। सच तो यह है कि जो व्यक्ति शरीर के अनित्य और अशुचि स्वरूप का चिंतवन करता है, वह विरक्ति पाकर आत्मा की निजपरिणति को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में, यह शरीर हाड, मांस, रुधिर, पीव, मल और मूत्र आदि निन्द्य पदार्थों का समुदाय ही है। नाना प्रकार के रोग भी इसे होते रहते हैं, यदि कुछ दिन इसे अन्न-पानी न मिले तो इसकी स्थिति नहीं रह सकती है। शीत, आतप आदि की बाधा भी यह सहन नहीं कर सकता है। इस अपवित्र शरीर को यदि समुद्र के सम्पूर्ण जल से भी स्वच्छ किया जाए तो भी यह शुद्ध नहीं हो सकता। इस विषय में कविवर भूधरदासजी ने शरीर के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया है—

मात-पिता रज वीरज सों उपजी सब सात कुधात भरी है।
माखिन के पर माफिक बाहर चाम के बेठन बेढ़ धरी है॥
नाहीं तो आय लगें अब ही, बक वायस जीव बचैं न घरी है।
देह दशा यहि दीखत भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है॥

अर्थात्- यह शरीर माता के रज से पिता के वीर्य से मिलकर बना है। इसमें अस्थि, माँस, मज्जा, मेद आदि भरे हैं; मक्खियों के पंख जैसा वारीक चमड़ा चारों ओर से लपेटा हुआ है। अन्यथा बिना चमड़े के मांस-पिंड़ को क्या कौवे आदि जानवर छोड़ देते? कभी के खा जाते। शरीर की इस घिनौनी दशा को देखकर भी मनुष्य इससे विरक्त नहीं होता है, पता नहीं उसकी बुद्धि किसने हरी है?

रोषे रोषं परं कृत्वा, माने मानं विधाय च।
सङ्गे सङ्गं परित्यज्य, स्वात्माधीनसुखं कुरु ॥१६१॥

अर्थ।- क्रोध को क्रोध में पटककर, मानकषाय को मान में डालकर तथा परिग्रह को परिग्रह में छोड़कर अपने आत्मा के आधीन जो अतीन्द्रिय सुख है उसका लाभ प्राप्त करना चाहिए।

विशेषार्थ :- आत्मानन्द में लीन होने से वीतरागता पैदा होती है, जिसके प्रभाव से नवीन कर्मों का संवर होता है और पुराने कर्मों की निर्जरा होती है। यह आत्मतल्लीनता तभी हो सकती है जब सब पदार्थों से ममता हटाई जावे, बाह्य परिग्रहों का त्यागकर निर्ग्रन्थपद धारण किया जावे तथा अन्तरंग परिग्रहों को भी पर जानकर छोड़ दिया जावे। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं, जिनके उदय से क्रोधादि भाव होते हैं। इन भावों को अपने न जानकर एव कषायों का अनुभाग समझकर इनको उन्हीं कर्मों के भीतर पटक देना चाहिए, अर्थात्- अपने आत्मा को कषायों से भिन्न अनुभव करना चाहिए। विषय-कषायरहित होने पर ही आत्मा का निश्चल ध्यान हो सकता है। यही ध्यान स्वाधीन आत्मानन्द प्रदान करता है और दुःखों को शान्त करता है।

मानव यदि चाहें तो अपने विचारों में शान्ति ला सकते हैं और क्रोधादि कषायों को छोड़कर सुखी हो सकते हैं। देखो! यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध करते हो तो आपका सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है, उसी

पर क्रोध करो, क्योंकि वह धर्म अर्थ, काम और मोक्ष का शत्रु है। दूसरे में सोचो—किस पर तोष-रोष करें, हम चर्म चक्षुओं से जितने भी पदार्थ संसार में देखते हैं, वे सब अचेतन ही तो हैं तथा जो चेतन हैं सो हमें दिखते नहीं हैं। वे तो अमूर्त्तिक हैं। अतः आचार्यों ने बताया है कि क्रोध करना व्यर्थ है, इस क्रोध को क्रोध में ही पटक दो। इसी प्रकार मान-कषाय को मान में रखदो; वास्तव में जिस धन, सम्पत्ति, शरीर, कुटुम्ब आदि का मान करते हो वह तो सब नाशवान है, अनित्य है, तो भला ऐसा कौन समझदार होगा जो क्षणिक वस्तुओं पर मान करेगा। ठीक इसी प्रकार परिग्रह को उसी में पटक दो और अपने आत्म-तत्त्व में रमण करते हुए सुखी हो जाओ। देखो! संसार के अज्ञानी प्राणियों ने अनादिकाल से पर पदार्थों को अपना बनाने की कोशिश की परन्तु क्या एक परमाणु मात्र भी उनका बन सका! अर्थात् नहीं। इस प्रकार इन बातों को जानकर भी यदि कोई व्यक्ति क्रोध, मान, परिग्रह आदि का संचय करता है, तो आचार्य कहते हैं कि ऐसी बुद्धि को ही धिक्कार है, जो आँखें होते हुए भी कुए में गिरे। उसी प्रकार उस ज्ञान से क्या? जो अपने को शास्त्रों का ज्ञानी बताते हैं, परन्तु काम अज्ञानियों के करते हैं।

परिग्रहे महाद्वेषो, मुक्तौ च रतिरुत्तमा।
सद्ध्याने चित्तमेकाग्रं, रौद्रार्ते नैव संस्थितम् ॥१६२॥

अर्थ :– परिग्रह से महान् वैराग्य ही मुक्ति की प्राप्ति में श्रेष्ठ प्रीति कही गई है। धर्मध्यान में चित्त की एकाग्रता तथा रौद्रध्यान और आर्त्तध्यान में चित्त को न जोड़ना, इन बातों का ध्यान ज्ञानीजनों को करने योग्य है।

विशेषार्थ :– कर्मों की निर्जरा करने के लिए और आत्मा को शुद्ध करने के लिए ज्ञानीजनों को उचित है कि वे सांसारिक परिग्रहों से ममता छोड़ दें तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति में बड़ा ही उत्साह रक्खें। फिर

उसके साधन के लिए अपने मन से दुष्ट भावों को करने वाले हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान को तथा इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, पीड़ाचिन्तवन व निदान आर्त्तध्यान को त्याग दें और अपने चित्त को रोककर निज आत्मा के स्वरूप में लगाकर ध्यान करें। आत्मध्यान में ही रत्नत्रय की एकता होती है तथा स्वात्मानुभव जाग्रत होता है।

यदि प्राणियों की श्रद्धा में यह बात आ जाय कि ये पर-पदार्थ हमारे अपने नहीं हैं, तो फिर संसार-बन्धन से छूटने में कोई देर नहीं लगती। मानव यदि इस बात को अपने गले उतार ले कि ये राग-द्वेषादिक विभाव मेरे नहीं हैं परन्तु परकृत विकार भाव हैं, मेरे शुद्ध स्वभाव को घातने वाले हैं, उन्हीं के कारण मैं आज तक संसार में रुलता रहा हूँ, ये सर्वथा छोड़ने योग्य हैं, तो मानव अपने अनादिकालीन कर्मों को काटने के लिए संयम, व्रतों का सहारा लेकर निराकुल सच्चे मोक्षसुख को प्राप्त कर सकता है।

देखो! सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के यही श्रद्धान तो दृढ़ होता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक के समान है। ये जितने भी औपाधिक भाव हैं, वे मोहादि कर्मों के निमित्त से होते हैं। अतः वह उन्हें छोड़ने का पूर्ण प्रयत्न करता है, वह हर समय जागरुक रहता है और संसार में उलझता नहीं है। वास्तव में, सम्यग्दृष्टि प्राणी की उत्कट अभिलाषा मोक्ष की ओर लगी रहती है, उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण भगवत्वाणी पर रहती है; वह अपनी शक्ति के अनुसार व्रतों को पालता है तथा संसार के धन-वैभव को भार-स्वरूप जानता है; अर्थात् इन नाशवंत परिग्रहों को अपना न मानता हुआ उस क्षण की बाट जोहता है कि भगवन्! कब वह क्षण आएगा कि मैं इन दुविधाओं को छोड़ कर अर्हत्मुद्रा धारण करूंगा। वह जानता है कि यह संसार दुःख का घर है, इस प्रकार की धारणा सम्यग्दृष्टि प्राणियों की रहती है। यथार्थ में, ऐसी सुन्दर धारणाओं के होने से ही सम्यग्दृष्टि का संसार अल्प

हो सकता है। आचार्यों का कहना है कि मिथ्यात्व का वमन करके सम्यक्त्वरूपी अमृत का पान करो।

धर्मस्य संचये यत्नं, कर्मणां च परिक्षये।
साधूनां चेष्टितं चित्तं, सर्वपापप्रणाशनम् ॥१६३॥

अर्थ :– साधुओं का प्रयत्न धर्म के संग्रह करने में तथा कर्मों के क्षय करने में होता है अर्थात् उनका चित्त हमेशा चारित्र के पालन में होता है जिससे सर्व पापों का नाश हो जाता है।

विशेषार्थ :– आत्मशुद्धि के लिए साधुओं को उचित है कि वे सर्व पापबन्धकारक भावों से अपने मन को शुद्ध करें तथा वीतराग भाव के भीतर वर्तने का विशेष यत्न करें, जिससे कर्मों का क्षय हो जावे। जब आत्मध्यान में मन न लगे तब शास्त्र-पठन, धर्मोपदेश आदि शुभ कार्यों को करें, जिससे पुण्य का संचय होवे और आत्मा अपने अनुष्ठान से पीछे न रहे।

धर्म वही है जो प्राणी मात्र को कल्याण-पथ पर लगाने का उपदेश देता हो तथा प्रेम-वात्सल्यपूर्वक रहने की शिक्षा देता हो। संसार में सभी प्राणी सुख से जीना चाहते हैं; परन्तु अधर्म को अपनाने वाले व्यक्ति स्वार्थवश क्या-क्या अनर्थ नहीं करते हैं; इसी कारण समाज में कलह और अशान्ति पैदा होती है। मानवों का कर्त्तव्य है कि यदि किसी का भला न कर सकें तो कम से कम किसी का बुरा तो न करें। प्राणियों को अपने जीवन को ऐसा बनाना चाहिए, जिससे समाज में अशान्ति मिटकर शान्ति हो जावे। मानव यदि अपने दुःख के समान अन्य प्राणियों के दुःख को जाने तो कलह-झगड़ा आदि नहीं रहते हैं तथा प्राणी सुरक्षित रह सकते हैं, यदि कोई स्वार्थ के लिए समाज में कलह पैदा करता है तो वह अपना पतन ही करता है।

धर्म प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है; जैसे– जल सभी का प्यास बुझाता है। मानव का धर्म शान्ति, सहअस्तित्व, प्रेम और

वात्सल्य है। वह धर्म, धर्म ही नहीं जो मानवों में घृणा और राग-द्वेष की भावना पैदा करता हो; यदि मानव आपस में प्रेम का बर्त्ताव नहीं करते हैं, तो उनमें और शैतान में कोई विशेष अन्तर नहीं रहेगा। इसलिए प्राणियों को धर्म के अनुशासन में रहना चाहिए, धर्म ज्ञान और सदाचार का खजाना है।

मानस्तंभं दृढं भंक्त्वा, लोभाद्रिं च विदार्य वै।
मायावल्लीं समुत्पाट्य, क्रोधशत्रुं निहन्य च ॥१९४॥

यथाख्यातं हितं प्राप्य, चारित्रं ध्यानतत्परः।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा, प्राप्नोति परमं पदम् ॥१९५॥

अर्थ :–सुदृढ़ मान के खंभे को तोड़कर, लोभरूपी पर्वत को खंडित कर, मायाचार की बेल को उखाड़कर तथा क्रोधरूपी शत्रु को मारकर ध्यान में लीन साधु हितकारी यथाख्यातचारित्र को प्राप्त करके कर्मों का क्षय कर, परमपद मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेषार्थ :– मोक्ष का लाभ तब ही होगा जब कर्मों का क्षय होगा कर्मों का क्षय तब ही होगा जब सर्वमोह का क्षय करके यथाख्यात वीतराग चारित्र प्राप्त किया जाएगा। वीतरागचारित्र का प्रकाश तब ही होगा जब क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायों का क्षय किया जाएगा। यथार्थ में, कषायों से ही कर्मों का बन्ध होता है। उनके नाश से आत्मा का सच्चा हित हो सकता है; कषायों के क्षय के लिए आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्चारित्र के ध्यान का अभ्यास अति आवश्यक है। ध्यान की सहायता के लिए उपवास, ऊनोदर, तप आदि का साधन करना चाहिए।

साधुजनों को अन्तरंग और बाह्य दोनों प्रकार के तप करने चाहिए जिससे आत्मा के साथ लगे हुए मोह और क्षोभ मिटें तथा साम्य परिणाम बन जावें, तभी शुद्ध-स्वरूप की प्राप्ति होती है। स्वरूप की प्राप्ति

के लिए संतजनों को सर्वप्रथम क्रोधादि कषायों के विस्तार अथवा समूह को रोकना चाहिए; अपनी चंचल इन्द्रियों को स्थिर करना चाहिए। पश्चात् अनाकुलतारूप लक्षण से युक्त परमसुख की प्राप्ति के लिए अपने ज्ञानोपयोग की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति करनी चाहिए; तदनन्तर राग-द्वेष से रहित शुद्ध बुद्धि को धारण करते हुए अपने चित्त को स्थिर तथा समरस-साम्यभावरूप सुधा से परिपूर्ण करना चाहिए। इस प्रकार वीतराग भावों का आलंबन लेकर प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए; ऐसा करने से साधक निर्मल धर्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् धर्ममय हो जाता है। इस विषय में आचार्यों का कथन कितना स्पष्ट है कि—

कृताभ्यासो यथा ध्यानी, लक्ष्यबेधे च तन्मनाः।
एकचित्ततया योगी, वाञ्छितं कर्म साधयेत्॥

जिस प्रकार लक्ष्यबेध का इच्छुक मनुष्य अभ्यास करता हुआ लक्ष्य को बेधने में सफलता प्राप्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार ध्यान करने वाला योगी अभ्यास करता हुआ एकचित्त होने से अपना वांछित सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार के ध्यान से उत्कृष्ट सारभूत समरस-भाव की प्राप्ति होती है। यथार्थ में, समरस-भाव ही कर्मों को काटने वाला है, पवित्र है, सर्व धर्मों में श्रेष्ठ है तथा आश्चर्यकारक भी है। देखो! जो कर्म लाखों जन्म में तथा कठिन व्रतों के पालन से भी कहीं नष्ट नहीं होता है, उसे समरस भाव में निमग्नता को प्राप्त हुआ योगी क्षणभर में नष्ट कर देता है। ऐसे भाव को प्राप्त करने वाले सज्जन को समस्त आरम्भों का परित्याग करते हुए अपने चित्त में संसार, शरीर और भोगों से पूर्णतया विरक्ति लेनी आवश्यक है; परन्तु अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित जीव यथार्थ तत्त्व को नहीं देखते हैं। इस विषय में आचार्यों ने कहा है कि—

मोहमायामयी दुष्टा, साधूनां मोक्षकाङ्क्षिणाम्।
सिद्धिमार्गार्गला नित्य-मविद्या निर्मिता भुवि॥

मोक्ष के इच्छुक साधुओं के लिए मोहमायामयी दुष्ट अविद्या संसार में मोक्षमार्ग की आगल के समान निर्मित की गई है अर्थात्– जिस

प्रकार किसी नगर के द्वार पर सुदृढ़ आगल लगी होती है तो उसमें किसी का प्रवेश नहीं हो सकता है; ठीक इसी प्रकार मोक्षनगर के द्वार पर मोहमायामयी सुदृढ़ आगल लगी हुई है, इसके रहते साधुओं का मोक्ष-नगर में प्रवेश संभव नहीं। सच तो यह है कि अनादिकाल से मिले हुए जीव और पुद्‌गल द्रव्य की संयोगी पर्याय में जब तक शुद्धज्ञायक स्वभाव आत्मा का पृथक् से अनुभव नहीं होता है, तब तक यह जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त नहीं हो सकता है। इसलिए मोक्षार्थियों को सर्वप्रथम प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा जीव और पुद्‌गल का विभाग करके शुद्ध आत्म-तत्त्व की प्रतीति करनी चाहिए। आत्मतत्त्व की दृढ़ प्रतीति करने के लिए आत्मध्यान की आवश्यकता है। आत्माश्रित ध्यान की प्राप्ति के लिए सबसे पहले शरीर में आत्मबुद्धि करना छोड़कर आत्मा में आत्मबुद्धि करनी चाहिए। देखो ! शरीर से परत्व-बुद्धि होते ही राग-द्वेष की जड़ कट जाती है क्योंकि राग-द्वेष का प्रारम्भ शरीर में आत्मबुद्धि होने से ही होता है। शरीर में राग होने से इसको सुख देने वाले पदार्थों में इष्ट बुद्धि होती है और दुःखदेनेवाले पदार्थों में अनिष्ट बुद्धि होती है। यह इष्ट-अनिष्ट बुद्धि ही राग-द्वेष की जननी है; इस संदर्भ में यह भी विचार करने योग्य है कि राग-द्वेष का जनक कौन है ? राग-द्वेष का जनक यह विपरीत विचार है कि पर-पदार्थ सुख और दुःख देने वाले हैं।

१४. उत्तम पात्र साधु

संगादिरहिता धीराः, रागादिमलवर्जिताः।
शान्ताः दान्तास्तपोभूषाः, मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥१९६॥

मनोवाक्काययोगेषु, प्रणिधानपरायणाः।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नाः, ते पात्रं करुणापराः ॥१९७॥

अर्थ :—जो परिग्रह और आरम्भ से रहित हैं; परीषहों को सहने में

धीर हैं, रागद्वेषादिविभावभावरूपी मल से रहित हैं, शान्तस्वरूप हैं, इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं; तप ही जिनका आभूषण है, जो मोक्ष-प्राप्ति की भावना में लीन हैं अर्थात् मन, वचन, कायरूप योगों को जीतने में उद्यमशील हैं, चारित्र के धारी हैं तथा ध्यानसम्पन्न हैं; ऐसे परम दयालु साधु ही उत्तम पात्र हैं।

विशेषार्थ :– उत्तम पात्र साधु ही मुक्ति का लाभ कर सकते हैं। उनको सर्व परिग्रह त्यागकर ममतारहित हो जाना चाहिए। क्षुधा, तृषादि परीषहों को सहना चाहिए। समभाव के अभ्यास से राग-द्वेष भावों को जीतना चाहिए। अनशनादि बारह तपों का अभ्यास करना चाहिए। पांचों इन्द्रियों को अपने वश में रखना चाहिए और सदा ही मुक्ति की तरफ दृष्टि रखनी चाहिए। साधु को अपने मन, वचन और काय को वैराग्य रस में प्रवर्ताना चाहिए, राग-वर्द्धक क्रियाओं से बचना चाहिए तथा परम दयालु होकर त्रस और स्थावर सर्व प्राणियों की रक्षा करनी चाहिए; सामायिकादि चारित्रों को दोष-रहित पालना चाहिए और ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए।

दिगम्बर साधु विज्ञानामृत पीते हैं तथा तपश्चर्यारूपी सुस्वादु, बलप्रद आहार ग्रहण करते हैं। प्राथमिक अवस्था में उन तपस्वियों के पास विश्व को चमत्कृत करने वाली बात भले ही न दिखे परन्तु ज्यों-ज्यों उनका तपभाव बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उनकी आत्मशक्ति चमकती जाती है और संसार के प्राणियों को धर्ममार्ग में लगाने की अनुपम शक्ति प्रगट हो जाती है। तप के प्रभाव से उनके ज्ञान का प्रकाश इतना बढ़ जाता है कि इस प्रकाश में अनेक प्राणी अपना हित कर लेते हैं।

देखो ! दिगम्बर साधुओं की शान्त मुद्रा जगत् को पुकार-पुकार कर जगाती है और कहती है कि संसार के भव्य प्राणियो ! जरा सोचो ! क्यों मोह के फंदे में फँसकर विकृति और विपत्ति की ओर दौड़े चले जा रहे हो ? आओ ! अकिंचनता का पाठ पढ़ो, प्रकृति के प्रकाश में अपनी आत्मा की विकृति को धो डालो और सुखी हो जाओ।

दिगम्बर महात्माओं की शान्त, श्रेष्ठ, निरीह, निराकुल, उदात्त-चर्या का जिस किसी सात्त्विक प्रकृति वाले भव्य प्राणी को दर्शन हो जाता है, तब उसकी आत्मा में ऐसे सुन्दर विचार उत्पन्न होते हैं कि मैं भी इस प्रकार का मुनिव्रत धारण करके अपनी आत्मा का हित करूं। इस विषय में कवि भूधरदासजी कहते हैं—

" कब गृहवाससौं उदास होय बन सेऊँ,
बेऊँ निज रूप गति रोकूं मन-करी की।
रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग,
सहि हौं परीसह शीत, घाम, मेघ-झरी की।
सारंग समाज खाज कबधौं खुजै है आन,
ध्यान, दल-जोर जीतूं सेना मोह-अरी की।
एकल बिहारी जथाजात लिंगधारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरी की॥"—जैनशतक

यदि मानव की दुर्बलता दूर हो जावे, उसमें वासनायें न रहें तो समर्थ आत्मा को दिगम्बर के अलावा दूसरा भेष नहीं रुचेगा; क्योंकि आत्म-निर्मलता, आत्मनिर्भरता और आत्म-निमग्नता के लिए यह मुद्रा अमोघ उपाय है; परन्तु विषय-वासनाओं के गुलाम और भोगों के दास स्वयं की असमर्थता के कारण दिगम्बर मुद्रा को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं—

अन्तर विषयवासना वर्ते, बाहर लोकलाज-भय भारी।
तातैं परम दिगम्बर मुद्रा, धर नहीं सके दीन संसारी॥ (पार्श्वपुराण)

आज व्यक्ति तर्क करते हैं कि आधुनिक युग में धर्म के विकास की चर्चा व्यर्थ है, उसका पालन होना असम्भव है, ऐसी बात के समाधान में हम यह बताना चाहते हैं कि यदि कुछ समर्थ व्यक्ति अपने अन्त:करण में पवित्र भावों के प्रसार की प्रेरणा प्राप्त करलें तो असंभव भी सम्भव हो सकता है। देखो! अकेले गांधीजी ने अपनी अन्तर-आत्मा की आवाज के साथ देश में अहिंसात्मक उपाय से राजनीतिक जागरण का काम उठाया था, आज स्वतंत्र भारतवर्ष तथा विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्र भी